नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी

—व्यक्तित्व और कृतित्व—

लेखक

विश्व प्रकाश दीक्षित 'बटुक'

वितरक:—बंसल एण्ड कम्पनी

२४, दरियागंज—दिल्ली-६

नाटककार हरिकृष्ण 'प्रेमी'

--व्यक्तित्व और कृतित्व

लेखक

विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक'

वितरक : बंसल एण्ड कम्पनी

२४, दरियागंज, दिल्ली-६.

प्रकाशक
रघुवीरशरण बंसल
संचालक
साहित्य संस्थान, दिल्ली

प्रथम संस्करण
जून १९६०

मूल्य ६.५०

आवरणकार
ओमप्रकाश शर्मा

मुद्रक
नूतन प्रेस
चाँदनी चौक, दिल्ली

दो शब्द

श्री विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक' लिखित 'नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी : व्यक्तित्व और कृतित्व' पुस्तक पढ़कर मुझे सन्तोष हुआ है। आजकल अधिकतर लिखी जाने-वाली कुञ्जीनुमा अध्ययनों और आलोचनात्मक परिचयों से यह पुस्तक बिल्कुल भिन्न है। बटुकजी हिन्दी के पुराने आचार्य और साहित्य-सेवी हैं। सुलेखक और सुकवि हैं। प्रेमीजी के समान सुविख्यात नाटककार को उन्हीं जैसे कुशल अध्येता और आलोचक की अपेक्षा थी। प्रेमीजी की नाट्य-कला पर विविध दृष्टियों से विचार करते हुए लेखक ने विस्तार के साथ उनके नाटकों पर गहरा आलोचनात्मक अनुशीलन प्रस्तुत किया है। प्रेमीजी के सामाजिक, ऐतिहासिक और एकांकी नाटकों पर भारतीय और आधुनिक कला की दृष्टि से प्रकाश डालते हुए बटुकजी ने इतनी जानकारी और छात्रोपयोगी सामग्री इकट्ठी कर दी है कि पाठक को फिर अन्य किसी विवेचन की आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रेमीजी के काव्य का सौंदर्य उद्घाटित करते हुए लेखक ने उनके व्यक्तित्व के विविध स्वरूप का भी चित्रांकन किया है। प्रेमीजी का स्थान हिन्दी-साहित्य में निर्धारित करते हुए उनकी देन को भी भली प्रकार स्पष्ट किया गया है। मुझे आशा है, बटुकजी इसी प्रकार की आलोचनात्मक कृतियां अन्य नाटककारों पर भी प्रस्तुत करेंगे। उनके अध्ययन और आलोचनात्मक निरूपण का लाभ हिन्दी के पाठकों को मिलना चाहिए। मैं उन्हें इस कृति के लिए बधाई देता हूँ और प्रेमीजी के नाटकों के प्रेमी पाठकों से इस पुस्तक को पढ़ने का अनुरोध करता हूँ। इसे पढ़कर वे लाभ उठायेंगे, ऐसा मुझे विश्वास है।

जबलपुर —रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

२८-६-६०

धन्यवाद

लेखक स्वयं अपनी रचना का निष्पक्ष आलोचक नहीं हो सकता। इसलिए वह उसकी अच्छाइयों और कमियों को भली-भाँति नहीं जान पाता। मुझे साहित्य-सृजन करते हुए लगभग तीस वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। मेरी आंतरिक इच्छा रही है कि हिंदी भाषा के विद्वान् आलोचक मेरी कृतियों की निष्पक्ष आलोचना कर मुझे मार्ग-दर्शन प्रदान करें। हिंदी के नाटक-साहित्य पर लिखते हुए अनेक विद्वानों ने हिंदी के अन्य नाटकों की चर्चा करते हुए मेरे नाटकों पर भी प्रकाश डाला है, ऐसे विद्वानों में सबसे पहले व्यक्ति श्री रामचंद्र शुक्ल थे और उन्होंने जो मेरी अप्रत्याशित प्रशंसा की उससे मुझे काफ़ी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। उनके जीवनकाल में, कम-से-कम जब उन्होंने हिंदी साहित्य का इतिहास लिखा तबतक तो मेरे केवल दो ही नाटक—'रक्षाबन्धन' और 'शिवा-साधना' ही प्रकाशित हुए थे; केवल इन दो नाटकों पर ही जो ऊँची राय उन्होंने मेरे सम्बन्ध में बनाई वह हिन्दी भाषा के कुछ विद्वानों को उचित नहीं जान पड़ी और कुछ विद्वानों को उसने चकाचौंध में डालकर उनसे सहमत रहने को वाध्य किया। मैं चाहता रहा कि शुक्लजी की सम्मति से प्रभावित न होकर आलोचक-जन मेरे इन नाटकों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करें। ऐसा सुप्रयास सर्वप्रथम श्री जयनाथ 'नलिन' ने अपनी 'हिंदी नाटककार' पुस्तक में किया। श्री सुरेशचंद्र गुप्त ने भी एक लेख मेरे नाटकों के संबंध में 'सेठ गोविंददास अभिनन्दनग्रंथ' में काफ़ी विस्तृत लिखा और ऐसा जान पड़ता है कि दूसरे आलोचकों के प्रभाव में न आकर ही लिखा है। सर्वश्री नगेन्द्र, सोमनाथ गुप्त, रामचरण महेन्द्र और दशरथ ओझा आदि दिग्गज आलोचकों ने भी प्रसंगवश मेरी रचनाओं पर अपनी विविध पुस्तकों में चर्चा की है। सुश्री सरला जौहरी ने मेरे ऐतिहासिक नाटकों पर एक 'थीसिस' भी लिखा जो प्रकाशित हो चुका है। काका कालेलकर ने मेरे 'रक्षाबन्धन' नाटक के गुजराती अनुवाद पर जो भूमिका लिखी है वह भी काफ़ी विस्तृत, स्वतंत्र और विचारोत्तेजक है। उर्दू के श्रेष्ठ कवि 'सीमाब' ने मेरे छाया नाटक के उर्दू अनुवाद की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हुए जो आलोचना अपने पत्र में की थी उसने भी मेरा हौसला बढ़ाया था। फिर भी मैं अनुभव करता रहा कि मेरी कृतियों के प्रति आज के आलोचकों ने ध्यान देने की कम ही कृपा की है। मेरे नाटक भारत के विभिन्न विश्व-विद्यालयों में तथा हिंदी प्रसार के लिए स्थापित संस्थाओं में पाठ्य-पुस्तक के रूप में रहते चले आए हैं और इसलिए भी आवश्यक जान पड़ता था कि मेरी रचनाओं पर अधिक विस्तार और बारीकी से लिखा जावे। इस आवश्यकता की पूर्ति श्री विश्वप्रकाश 'बटुक' ने की है।

श्री विश्वप्रकाश 'बटुक' को मैं वर्षों से जानता हूँ। इसका यह भी अर्थ निकलता है कि वह मुझे जानते हैं किंतु जानकारी होने का अर्थ यह नहीं कि उन्होंने इस पुस्तक में मेरी तरफ़दारी की है। तरफ़दारी करना उनके स्वभाव में नहीं है। वह सत्य के पुजारी हैं, अपने मन से वह जिसे सत्य समझते हैं, चाहे वह अप्रिय हो, उसे कहने या लिखने में उन्हें संकोच नहीं होता इसलिए मैं उनकी सम्मति को ईमानदार सम्मति मानता हूँ। उनका हिंदी साहित्य का ज्ञान विस्तृत है और आलोचना के कौशल में वह निपुण हैं इसलिए मैं उनकी इस कृति को अनधिकार चेष्टा भी नहीं मानता। उन्होंने मेरी एक-एक रचना को पढ़ा है, उन पर विचार किया है और स्वतंत्र मस्तिष्क से अपने निष्कर्ष निकाले हैं, यह उनकी विशेषता है। अभी तक प्रायः होता यह आया कि कुछ आलोचकों ने जब मुझ पर कुछ लिखा, मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि पिछली आलोचनाओं के प्रभाव से वे अपने-आपको मुक्त न रख सके, दूसरी बात यह कि एक-दो व्यक्तियों को छोड़कर शेष ने पूरी पुस्तकें पढ़कर मेरी कृतियों के सम्बन्ध में नहीं लिखा। ऐसा इलज़ाम मैं बटुकजी पर नहीं लगा सकता।

इस पुस्तक में बटुकजी ने जो भी निष्कर्ष व्यक्त किए हैं उनसे मैं सोलहों आने सहमत हूँ, ऐसा भी नहीं माना जाना चाहिए। कहीं-कहीं मैं उनकी अति प्रशंसात्मक सम्मति से सहमत नहीं हूँ। स्वभावतः मैं अपना अच्छा आलोचक नहीं हूँ फिर भी मैं अपनी कुछ कमज़ोरियों से परिचित हूँ और उन्हें दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहता हूँ। मेरी इस प्रकार की प्रयत्नशीलता के चिह्न मेरे एक के बाद एक आनेवाले नाटकों में पाठक और आलोचक खोज सकते हैं। नाटक लिखने की किसी एक शैली को पकड़कर मैं नहीं रहा। जिन बातों को स्पष्टतः मैं अपनी कमज़ोरी मानता हूँ उनमें भी यदि बटुकजी ने सौंदर्य पाया है तो मैं उसे उनकी ईमानदार सम्मति मानते हुए भी उनसे चिपटे रहने का दुराग्रह नहीं करूँगा। इसी प्रकार इस पुस्तक में कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ उन्होंने मेरे किसी नाटक या उसके अंश की निंदात्मक आलोचना की हैं उनमें से कुछ स्थलों पर मैं उनसे सहमत नहीं हूँ। मैं चाहता तो उनसे बहस करके उनको अपनी सम्मति में संशोधन करने का आग्रह करता किंतु ऐसा मैंने नहीं चाहा। आलोचक ने निष्पक्ष होकर जो सोचा है वह पाठकों के सामने जाना चाहिए। मैं ऐसा समझता हूँ कि मेरे सम्बन्ध में विस्तार से सोचने का यह पुस्तक श्रीगणेश है और यह श्रीगणेश करने के लिए मैं बटुकजी को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

—हरिकृष्ण 'प्रेमी'

प्राक्कथन

नाटककार श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर अभी तक विस्तृत विचार नहीं हुआ। यत्र-तत्र जो सामग्री निकली है, वह पूर्ण नहीं कही जा सकती। इस दृष्टि से आचार्य श्री विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक' की यह रचना एक बड़े अभाव की पूर्ति करती है।

प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य प्रेमीजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का सम्यक् परिचय देना है। यह परिचय ऐसे पाठकों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया गया है, जो साहित्य की अत्यंत गम्भीरतायुक्त उलझनों से मुक्त साहित्य के समुचित आस्वादन के लिए उसका सहज रूप हृदयंगम करना चाहते हैं। इसीलिए लेखक ने विवरणात्मकता की ओर अधिक आग्रह दिखाया है। इस रीति से नाटककार प्रेमी का बड़ा ही सरल एवं सजीव अध्ययन सामने आ गया है।

साहित्य एवं उसके कृतित्व के अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में जिस सर्वमान्य रूप में स्थिर हो गई है, लेखक ने उसका अवलम्ब लेकर अपना यह अध्ययन तैयार किया है। प्रारम्भ और अन्त में प्रेमीजी के व्यक्तित्व की चर्चा है, जिससे उन प्रेरणाओं पर प्रकाश मिलता है, जो प्रेमीजी के साहित्यिक व्यक्तित्व को बल देती हैं। बीच के पृष्ठों में विभिन्न दृष्टियों से उनके साहित्य का परिचय दिया गया है। उनकी कृतियों का अलग-अलग परिचय भी दिया गया है और वर्गीकृत ढंग से सामूहिक रूप में भी। प्रेमीजी की रचनाएँ तीन वर्गों में विभाज्य हैं: १—नाटक, २—एकांकी नाटक। और फिर नाटक दो प्रकार के हैं। यद्यपि प्रेमीजी प्रधानतः ऐतिहासिक नाटककार हैं, किन्तु उनके सामाजिक नाटकों का भी अपना महत्व है। लेखक ने इन तीनों प्रकार की कृतियों का अलग-अलग विस्तृत अध्ययन किया है।

अन्ततः प्रेमीजी की साहित्यिक देन का उल्लेख करते हुए उनका मूल्यांकन भी लेखक ने दिया है। मूल्यांकन के प्रसंग में लेखक ने प्रेमीजी के नाटकों को अन्य नाटककारों की कृतियों के साथ रखकर उनकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। यह ठीक है कि लेखक ने वैज्ञानिक प्रणाली का अवलम्ब लिया है किन्तु वैज्ञानिक प्रणाली की बोझिलता से वह बचकर चला है। साहित्य के अध्ययन के लिए साहित्य-विधा के प्रतिमान स्थिर करने होते हैं, और फिर उनकी कसौटी पर साहित्य को कसना होता है। नाटकों के अध्ययन के क्रम में आवश्यक होता है कि नाटक-सम्बन्धी प्राच्य सिद्धांत एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों के आधार पर नाटक के प्रतिमान स्थिर किये जायँ, आज के नाटक का आदर्श स्वरूप स्थिर किया जाय। सामाजिक एवं ऐतिहासिक नाटकों के

सम्बन्ध में विवेचन दिया जाय, एकांकी नाटकों की कला पर विषद प्रकाश डाला जाय। जान पड़ता है कि लेखक ने अपने लिए सीमाएँ निर्धारित करली हैं। वह विवेचन-विश्लेषण की पद्धति को उसी सीमा तक स्वीकार करके चला है, जहाँ तक यह पद्धति सामान्य पाठक के बोध के लिए दुरूह नहीं हो जाती।

यह सीमा होते हुए भी प्रेमीजी के नाटककार रूप का यह अध्ययन हिन्दी में पहला है, जिसमें लेखक ने पूर्ववर्ती आलोचकों के कथनों को सामने रखकर प्रेमीजी पर मौलिक ढंग से विचार किया है। जहाँ-कहीं वह इन कथनों को स्वीकार नहीं कर पाता है वहाँ उसने अपने मौलिक विवेचन-निष्कर्ष दिये हैं। आगे आनेवाले अध्ययन को इस पुस्तक से बड़ी सहायता मिलेगी। यह पुस्तक छात्रों, अध्यापकों एवं प्रेमीजी का अध्ययन करनेवालों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

जहाँगीरबाद,
भोपाल
२८-६-६

—राजेश्वर गुरु,
एम० ए०, पी-एच० डी०

पुस्तक आपके सामने है

'प्रेमी'जी को मैं व्यक्तिगत रूप से सन् १९३८ ई० से जानता हूँ। तब से आज तक मैं अनेक बार उनके निकट रहने के अवसर पाता रहा हूँ। इस प्रकार मैं उनका 'अति परिचय' प्राप्त कर सका हूँ, किन्तु इस 'अति परिचय' में मैंने कहीं भी किसी प्रकार का अनादर का भाव नहीं पाया। यों अनेक प्रसंग ऐसे भी आये कि मुझमें और प्रेमीजी में कुछ मनमुटाव हुआ, मैंने अपने स्वभाव के अनुसार उनकी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कटुतम आलोचना की। उनके व्यक्तित्व का पर्दा फ़ाश करने वाली एक कहानी 'प्रूफ़रीडर' मैंने लाहौर की एक साहित्यिक गोष्ठी में सब भद्रजनों और सुप्रसिद्ध साहित्य-सेवियों के बीच पढ़ी। यह सब हुआ किन्तु उनके साहित्य का मैं सदा ही प्रशंसक रहा। मैं समझता हूँ साहित्यकार के निजी जीवन को बालाएताक रखकर ही साहित्य की परख करनी चाहिए। विरोधी के उत्तम साहित्य की निन्दा और अपने गुट के व्यक्ति के निकृष्टतम साहित्य की भी प्रशंसा करना शिवम् नहीं है। आज तो ऐसा बहुत होता है। इतना ही नहीं, आज का समालोचक केवल उसीके साहित्य की भटैंती करता है; जिससे किसी भी प्रकार के स्वार्थ की आशा है। खेद है कि मैं इतना व्यावहारिक नहीं बन पाता हूँ।

कुछ बड़े लोगों के मुख से मैंने प्रेमीजी के व्यक्तिगत जीवन और उसके साथ ही उनके साहित्य की भी घोरतम निन्दा सुनी है। कई महानुभावों ने जब यह सुना कि मैं प्रेमीजी पर एक पुस्तक लिख रहा हूँ तो उन्होंने नाक-भौं सिकोड़ी और मेरे इस क़दम को शंका-सन्देह और घृणा की दृष्टि से देखा। मुझे इस पर न तब कुछ कहना था न अब कुछ कहना है; केवल इतना ही पूछता हूँ कि यदि प्रेमीजी का साहित्य निकृष्ट है तो वह क्या कारण है कि उनकी रचनाओं के संस्करण-पर-संस्करण होते हैं, किसी पुस्तक के छत्तीस संस्करण यों ही नहीं हो जाया करते और एक लाख रुपये के लगभग रायल्टी भी यों ही नहीं मिल जाया करती। यदि उनकी रचनाएँ अच्छी नहीं हैं तो क्यों सभी प्रकाशक उन्हें प्रकाशित करने को आतुर रहते हैं और क्यों उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक के पाठ्य-क्रमों में उनकी पुस्तकें नियत होती चली जाती हैं? प्रेमीजी किसी गुट में भी नहीं हैं; किसी को किसी प्रकार का लाभ पहुँचने की स्थिति में भी नहीं हैं; फिर क्या बात है?

जो भी बात हो; मुझे उनका साहित्य भाया है, और उस पर मैंने अपना दृष्टि-कोण दिया है, ईमानदारी से विचार किया है। हाँ, जहाँ मुझे त्रुटियाँ दिखाई दी हैं; उन पर मैंने खूब कसकर लिखा है। दो-दो पृष्ठों तक निरन्तर उनकी त्रुटियों पर

प्रहार करता चला गया हूँ। फिर भी कीचड़ मैंने नहीं उछाला, वह काम दूसरों के लिए छोड़ दिया है।

आज प्रेमीजी साहित्य-जगत् में बहुत चर्चा का विषय हैं; यह पुस्तक भी उस चर्चा में शामिल हो, इस आशा से मैंने उसे नहीं लिखा, मुझे उन पर और उनके ही जैसे अन्य लोगों पर लिखना था, लिखना है, इसलिए लिख दिया है। स्वस्थ आलोचना की एक प्रणाली (जो आज खो गई है) चले, इसलिए यह पुस्तक मैंने लिखी है; और पुस्तक आपके सामने है, इसकी हर अच्छाई-बुराई के लिए मैं ज़िम्मेदार हूँ। पुस्तक आपके सामने है, उपयोगी होगी या अनुपयोगी यह तो समय बतायेगा। इसकी चिन्ता मैंने नहीं की। इसकी चिन्ता तो वे लोग कर ही रहे हैं, जो इस पुस्तक के अस्तित्व में आने से पूर्व ही मेरी अल्प-बुद्धि का मज़ाक उड़ाने लगे हैं।

पुस्तक आपके सामने है। इसके लिए पहले तो श्रेय मिलना चाहिए प्रकाशक श्री रघुवीरशरण बंसल को, जिन्होंने बड़े मनोयोग से, लगन से इसे छाप दिया है। फिर श्रेय मिलना चाहिए उन कम्पोज़ीटर्स को जो मेरी लेखनी को पढ़ सके। उसे पढ़ना तो स्वयं मेरे लिए भी कठिन हो जाता है!

अन्त में मैं उन सभी विद्वानों का आभारी हूँ, जिनके ग्रन्थों से प्रत्यक्ष और परोक्ष सभी प्रकार की सहायता मुझे इस पुस्तक के लिखने में मिली है। प्रेमीजी को भी धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने आदि से अन्त तक पुस्तक को पढ़ लिया और कहीं भी परिवर्तन करने के लिए कुछ न कहा। पढ़ा, पसन्द किया और दो शब्द लिखना भी स्वीकार कर लिया।

जालन्धर,
ज्येष्ठ पूर्णिमा '६० ई० —विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक'

अनुक्रम

एक

प्रेमीजी के नाटकों की मूल प्रेरणा

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसकी यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपने भावों तथा विचारों को दूसरों पर प्रकट करे तथा दूसरे के भावों और विचारों को सुने। वह अपनी इसी प्रवृत्ति से विवश हुआ अपनी भावनाओं, अनुभूतियों तथा कल्पनाओं को अपने-आपमें नहीं रख सकता, वह उनकी अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल हो उठता है, साहित्य के विविध अंग उसकी इस अभिव्यक्ति के ही साधन हैं। शब्द-रूप में आत्माभिव्यक्ति की इच्छा ही साहित्य कहलाती है। साहित्य आत्मा की झंकार है। मनुष्य की आत्मा जब परिस्थितियों के आघात से अनुरणन कर उठती है तो साहित्य का जन्म होता है।

साहित्य-सर्जना में जहाँ एक ओर प्रणेता का निजी जीवन कारण होता है, वहाँ उसको साहित्य-निर्माण में समकालीन परिस्थितियाँ भी प्रेरक होती हैं। प्रेमीजी के नाटकों की प्रेरणा-भूमि दोनों छोरों को छूती है। प्रेमीजी का व्यक्तिगत जीवन बड़ा ही संघर्ष पूर्ण रहा है। एक महावृक्ष की डाल से टूटे पत्ते की भाँति वे सदा समय-पवन के पंखों पर जहाँ-तहाँ उड़े-उड़े फिरते रहे हैं, वे कभी उठे हैं, कभी गिरे हैं, कभी धीमी गति से चले हैं, कभी अंधड़ और तूफान के वेग से दौड़ लगाई है। श्री जयनाथ 'नलिन' के शब्दों में—'प्रेमी' का व्यक्तिगत जीवन अनेक विषम परिस्थितियों की दम घोटनेवाली तंग घाटियों से होकर कभी समतल में आया है, कभी अचानक फिर बहुत नीचे ढाल पर ढुलक पड़ा है। ऐसी विपरीत परिस्थितियों में, जहाँ निश्चय का अवलम्ब न हो, समतल पर चलते रहने का भरोसा न हो, और न हो जीवन-यात्रा से थके मन को क्षण-भर विश्राम।'[1]

प्रेमीजी जब केवल दो वर्ष के थे तो उनकी माता का देहान्त हो गया। मा के आँचल की जगह मिला ऊपर का विराट् आकाश और गोद की जगह मिली विस्तृत वसुन्धरा। बड़े होते-होते पिता से उनकी पटी नहीं; भाइयों का अनुशासन कभी उन्होंने माना नहीं। स्कूली बाधाओं को कभी स्वीकार नहीं किया। अध्यापक कक्षा में सूर, तुलसी, कबीर की कविता पढ़ाते तो प्रेमीजी उनके भावार्थों के स्थान पर कक्षा को अपनी ही कविता सुनाते। घर का निवास छोड़ा, सुख-सुविधा और आराम

१. हिन्दी के नाटककार (श्री जयनाथ 'नलिन') पृष्ठ १२३.

छोड़ा, अपना कविता-प्रेम नहीं छोड़ा। जब कभी ऐसी परिस्थिति आई भी कि वे साहित्य-सर्जन नहीं कर पाये तो उनकी आत्मा कराह उठी। अपने नाटकों में जहाँ-तहाँ उन्होंने अपनी इस व्यथा को व्यक्त भी किया है। 'उद्धार' की भूमिका में आप लिखते हैं—'एक सुदीर्घ विछोह के पश्चात् फिर 'प्रेमी' एक पुष्प लेकर सरस्वती के मन्दिर में आया है। 'प्रेमी' की हृदय-वाटिका में जब वसन्त का आशीर्वाद था, अनेक कलियाँ सुमनवती थीं और चयन करके थाल सजाकर देवी के चरणों में चढ़ाने वह आ ही रहा था कि भयानक आँधी आई और उस आँधी में वे पुष्प उड़ गये।'

अपने निजी जीवन को गला-जलाकर और तपा-ढलाकर ही 'प्रेमी' जी ने साहित्य का सर्जन किया है। 'शिवा-साधना' की भूमिका में आपने लिखा है—'लोग कहते हैं, स्वर्ग और नरक दोनों इसी जगत् में हैं—जो आज सुख-शान्ति और वैभव का उपयोग कर रहे हैं वे स्वर्ग में रहते हैं और जो दुःख, दारिद्रय और चिन्ता-ज्वाला में जल रहे हैं, नरक में निवास कर रहे हैं। स्वर्ग की बात मैं नहीं कह सकता, किन्तु जब अपनी वर्तमान परिस्थितियों को देखता हूँ तो ज्ञात होता है कि नरक यही है। वर्तमान परिस्थितियों में भी मैं मा-हिन्दी के मन्दिर में यह नवीन नाटक लेकर उपस्थित हो रहा हूँ— यह आश्चर्य की बात है। जिस स्थिति में दिमाग़ के पुर्ज़ों को ठीक रखना भी असंभव है—मैं कैसे यह पुस्तक लिख सका, यह मेरे लिए भी आश्चर्य की बात है।'

'बन्धन' की भूमिका में भी यही विचार व्यक्त किये गये हैं—'मैं तो अपने ही प्राणों में से साहित्य की किरणें निकालता हूँ। मैं स्वयं अपने साहित्य का विषय हूँ। और संसार क्या है? यह भी 'मैं' ही है। संसार की अनुभूतियाँ मेरी हैं; मेरी अनुभूतियाँ संसार की। इसलिए अपनी तसवीर खींचकर भी मैं संसार की और संसार को खींचकर अपनी खींचता हूँ।'

इस प्रकार 'प्रेमी' जी को अपने ही भीतर से नाटक लिखने की प्रेरणा मिली है; उनका व्यक्तिगत जीवन ही उनके नाटकों का प्रेरक है। दूसरी ओर बाह्य परिस्थितियों से भी उन्हें प्रेरणा मिली। 'जब 'प्रेमी' की लेखनी कला-सृजन के लिए सजग हुई तब महान् भारतीय राष्ट्र दासता की श्रृंखला तोड़ने के लिए संघर्ष कर रहा था। उसकी कल्पना ने ज्योंही जीवन के रंग पहचानने की चेष्टा की, उसने देखा देश के दीवाने सिर पर कफन बाँधकर खून की रंगीनी से राष्ट्र के आँगन में बलिदान के महान् यज्ञ के लिए चौक पूर रहे हैं। देश का आकाश राष्ट्रीय आन्दोलन के उमंग-भरे कोलाहल से गूंज रहा है। गाँधीजी के नेतृत्व में भारत का बूढ़ा और जवान रक्त अपने जन्म-सिद्ध अधिकार के लिए आकुल हो रहा है। अधिकार की माँग में अपने को अधिकारी प्रमाणित करने का निर्माणकारी कार्य देश को

करना है—सम्मिलित संघर्ष। और हिन्दू-मुस्लिम एकता उस सम्मिलित संघर्ष की शक्ति है। जिस देश-भक्ति ने हिन्दुत्त्व का रूप धारण करके भारतेन्दु को प्रेरित किया, जो आर्य-सांस्कृतिक चेतना के रूप में प्रसाद की राष्ट्रीय प्रेरणा बनी, उसी राष्ट्रीय उत्थान की भावना ने 'प्रेमी' को हिन्दू-मुस्लिम एकता का चोला पहनकर प्रकाश दिखाया।'[१]

'प्रेमी की अपनी परिस्थितियों ने भी उसको एक आदर्श की ओर मोड़ दिया। वह राष्ट्रीय आदर्श उसके लिए अवलम्बन बन गया। अपने जीवन की बेबसी में प्रेमी ने समस्त राष्ट्र की बेबसी और पीड़ा की झाँकी पाई। अपने को उसने सम्पूर्ण समाज का सजग, स्पष्ट और सम्पूर्ण प्रतिनिधि मानकर उन भीषण अभावों और विवशताओं, आर्थिक विषमताओं और किसी विशेष वर्ग को दी गई शोषण की रियायतों का निराकरण राष्ट्रीय स्वाधीनता में पाने का प्रयत्न किया।...प्रेमी के घायल मन को एक आदर्श का अवलम्ब मिल गया। उसी अवलम्ब को लेकर वह नाटकीय क्षेत्र में बहुत स्वस्थ लेखनी लेकर आगे बढ़े।'[२]

'प्रेमी' जी के जीवन की करुणा ने ही उन्हें मातृभूमि की ममता की ओर उन्मुख किया। 'स्वर्ण-विहान' की भूमिका में उन्होंने लिखा—'जिस मातृभूमि ने अपने प्रेम और ममता से नवजीवन दान दिया उसे प्रेमांजलि अर्पण करने को ही इस नाटिका की रचना हुई है।' सच तो यह है कि प्रेमीजी के सभी ऐतिहासिक नाटक भारत की राष्ट्रीय-भावना को व्यक्त करने के लिए लिखे गये। राष्ट्रीय एकता और देश-स्वातंत्र्य की भावना ने सदा ही प्रेमीजी को सजग रखा। 'रक्षा-बन्धन', 'शिवा-साधना', 'विषपान', 'उद्धार', 'प्रतिशोध', 'आहुति', 'स्वप्न भंग' आदि भारत में राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के उद्देश्य से ही लिखे गये। अपने ऐतिहासिक नाटक लिखने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए 'प्रेमी'जी ने लिखा है—" 'उद्धार की घटनाएँ' ऐतिहासिक हैं—किन्तु वर्तमान राजनीति और समाजनीति की अनेक उलझनों का समाधान इसमें है। मेरा देश स्वतन्त्र हो गया; किन्तु देशवासियों ने अभी तक राष्ट्रीयता के महत्त्व को समझा नहीं, इसलिए राष्ट्रीयता की भावनाओं को उत्साहित करनेवाले साहित्य की आज आवश्यकता है।" ('उद्धार') 'राजस्थान की एकता के के लिए 'विषपान' की नायिका 'कृष्णा' ने विषपान किया था—और कल ही महात्मा गाँधी ने भारतीय एकता के लिए अपने प्राण दिये हैं। इतना बड़ा बलिदान लेकर भी हिन्दुस्तानियों ने राष्ट्रीय एकता का महत्व नहीं समझा। इसीलिए मुझे सांस्कृतिक और राष्ट्रीय एकता का राग बार-बार गाना पड़ रहा है।' ('विषपान')।

'मैंने नाटकों की रचना निरुद्देश्य नहीं की है। भारत सदियों की पराधीनता के पश्चात् स्वतन्त्र हुआ है और अब इसे नवार्जित स्वतन्त्रता की रक्षा भी करनी है।

१. और २. हिन्दी के नाटककार (श्री जयनाथ 'नलिन') पृष्ठ १२२ और १२३.

एवं राष्ट्र को सुखी, समृद्ध और शक्तिशाली भी बनाना है। प्राचीन इतिहास हमारी शक्ति और दुर्बलता का दर्पण है। मैंने बार-बार यह दर्पण अपने देशवासियों के सन्मुख रखा है ताकि हम अपने देश के अतीत को देखकर व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन से उन दुर्बलताओं को दूर करें, जिन्होंने हमें पराधीनता के पाश में बाँधा, उन गुणों को ग्रहण करें, जिन्होंने हमें अभी तक जीवित रखा और फिर स्वतन्त्र किया तथा उन गुणों का विकास करें, जिनकी राष्ट्र के नव-निर्माण में अपेक्षा है।' ('कीर्तिस्तम्भ')

'भारत अति प्राचीन और अति विस्तृत देश है, जिसमें अनेक धर्मों के माननेवाले लोग रहते चले आये हैं और रह रहे हैं। धर्म और जाति के नाम पर नासमझ लोग पारस्परिक संघर्ष में जूझकर राष्ट्रीयता और एकता को खंडित करते रहे हैं, फलतः यह सुसंस्कृत, समृद्ध, प्रतिभावान् और शक्तिशाली देश अनेक बार पराधीन हुआ है। इस तथ्य को देश के शुभचिन्तक देश-वासियों के सम्मुख बार-बार लाते रहे हैं, ताकि भविष्य में इस प्रकार की भूलें हम न करें। अब हम स्वतन्त्र हैं और हमें बहुत बलिदानों के पश्चात् प्राप्त की हुई इस स्वतन्त्रता की रक्षा करनी है, अपनी दुर्बलताओं को दूर करना है और देश को सुखी और समृद्ध बनाना है। यह तभी संभव है जब हम एकता के सूत्र में बँधकर देश के उत्थान में जुट पड़ें। महात्मा गांधी ने देश की एकता की रक्षा करने के लिए प्राण दे डाले। भारत सब वर्गों, जातियों और धर्मों का है। सबमें भाईचारा होना चाहिए, सबको समान सुविधाएँ और अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ, और सब राष्ट्रीयता की भावना से एक सूत्र में बँधे रहने चाहिएँ, यही गांधीजी की कामना थी। मैंने अपने कुछ नाटकों के द्वारा उनकी इस कामना को सफल बनाने की दिशा में थोड़ा-सा योगदान दिया है।' ('विदा')

स्पष्ट है कि प्रेमीजी की नाटकीय-प्रेरणा की पृष्ठभूमि है—राष्ट्रीय एकता। ऐतिहासिक कथाओं में 'प्रेमी'जी ने गांधीवादी राष्ट्रीय आदर्श की प्राण-प्रतिष्ठा की है। गांधीवाद का प्रभाव प्रायः उनके सभी नाटकों में स्पष्ट है—यही गांधीवादी राष्ट्रीयता का आदर्श 'प्रेमी'जी के नाटकों की प्रेरणा है। गांधीवादी विचारधारा से प्रेरित होकर ही उन्होंने सामाजिक नाटक 'बन्धन' की रचना की। हृदय-परिवर्तन पर गांधीवाद अधिक बल देता है। एक पूँजीपति का एक युवक ने किस तरह हृदय-परिवर्तन किया, यही 'बन्धन' में बताया गया है। सत्य, अहिंसा, शान्ति और सहयोग की भावना से पूर्ण 'बन्धन' गांधीवादी भावना का पूर्णतया प्रतिनिधित्व करता है।

अनेक विद्वानों ने प्रेम को भी साहित्य की मूल प्रेरणा माना है। 'प्रेमी'जी प्रेम को अपनाकर नाट्य-रचना करते हैं। उनके प्रत्येक नाटक में प्रेम का पावन स्रोत बहता है। प्रेम के प्रति जो उनका आग्रह है, उसे 'स्वर्ण-विहान' की भूमिका में इस

प्रकार व्यक्त किया है—'इस पुस्तक में मैंने एक निश्चित आदर्श रखने का प्रयत्न केवल इसलिए किया है कि वह आदर्श 'प्रेम' है—मेरा प्राण है। राजनीति मुझे प्यारी नहीं, परन्तु आँसुओं से, आहों से, दुःखों से, मानवता के अपमान से मेरे हृदय का सीधा सम्बन्ध है, इसीलिए यह तुतली-सी तान बरबस निकल पड़ी है। इस पुस्तक में केवल राष्ट्रीयता ढूँढ़नेवाले जगह-जगह प्रेम के उच्छृङ्खल गीत सुनकर बिगड़ बैठेंगे, परन्तु मैं प्रेमहीन संसार को श्मशान से भी बुरा समझता हूँ।' इसी प्रेम-भावना ने उन्हें मानव-प्रेम और देश-प्रेमकी उत्कट विचारधारा की ओर उन्मुख किया और इसी प्रेरणा के कारण वे कला को कला के लिये मानते हुए भी सोद्देश्य नाटक रचना कर सके। 'प्रेमी'जी ने केवल लिखने के लिए नहीं लिखा, बल्कि अपने प्राणों का आसव पिलाकर मानवता, समाज और देश को नई स्फूर्ति देने का आयोजन किया है।

दो

प्रेमीजी के ऐतिहासिक नाटक :

इतिहास और कल्पना का समन्वय

किसी भी देश और जाति का साहित्य उसका इतिहास ही है। अतः इतिहास को साहित्य से अलग करके नहीं देखा जा सकता। इतिहास सत्य का समूह है और साहित्य सत्य की अभिव्यक्ति। साहित्यकार सत्य की अभिव्यक्ति के लिए इतिहास का आश्रय लेता है; क्योंकि ऐतिहासिक कथानक, इस लोक के पात्रों द्वारा सत्य की अभिव्यक्ति दिखाकर उसके सजीव, स्वाभाविक, विश्वसनीय एवम् व्यावहारिक रूप को सिद्ध करता है। इतिहास के संमिश्रण से साहित्य की कल्पना और अनुभूति इसी लोक की बन जाती हैं। पात्रों की ऐतिहासिकता, पाठकों को बार-बार यह समझाती है कि वह सत्य इसी लोक का है। ऐतिहासिक कथानक एवम् पात्र, साहित्य-सिद्ध आदर्शों को सजीवता प्रदान करते हैं; साहित्यिक कल्पनाओं में यथार्थ की चेतना भर देते हैं।

साहित्य का कार्य सत्य का स्वाभाविक, विश्वसनीय और सरलतम ढंग से साक्षात्कार कराना है। इस साक्षात्कार के लिए तादात्म्य-सम्बन्ध-स्थापना की प्रक्रिया काम में लाई जाती है। विशेषकर नाटककार को साधारणीकरण के लिए इतिहास से सहायता मिलती है। ऐतिहासिक पात्रों से पाठकों का आत्मीय सम्बन्ध संस्कारवश जुड़ा रहता है, अतः उनसे साधारणीकरण तथा तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित करने में उन्हें सरलता होती है। परिणामस्वरूप उनके हृदय में रसोद्रेक सहज भाव से होता रहता है। इस प्रकार उनके रसयुत हृदय में सांकेतिक सत्य शीघ्रता से उदित हो जाता है। इतिहास के प्रकाश में आभासित साहित्य-वर्णित जीवन अधिक स्वाभाविक, विश्वसनीय एवं बोधगम्य हो जाता है।

साहित्यगत जीवन को ऐतिहासिक पात्र, कथानक, परिस्थितियां एवं वातावरण पग-पग पर यह ज्ञान कराते रहते हैं कि वह इसी लोक का और इसी लोक के प्राणियों का है। वास्तव में कल्पनामूलक साहित्यगत जीवन को लोकसिद्ध करने का श्रेय ऐतिहासिक कथानक को है। संभवतः इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने नाटक में ऐतिहासिक भूमि के लिए विशेष मान्यता दी है। अतः कोई भी रस-सिद्ध साहित्यकार इतिहास का आधार लेकर चलना अधिक पसन्द करेगा।

सोद्देश्य साहित्य-सर्जन करनेवाले व्यक्ति तो और भी अधिक इतिहास की ओर दृष्टि दौड़ाते हैं। प्रसादजी निस्सन्देह उच्चकोटि के ऐतिहासिक नाटककार थे; उन्होंने अपने नाटक 'विशाख' की भूमिका में लिखा है :—'इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है.........क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं, इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है।.........मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन करने की है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत प्रयत्न किया है।'

प्रसादजी के वक्तव्य से स्पष्ट है कि ऐतिहासिक नाटक में नाटककार इतिहास के गंभीर अध्ययन और मनन से देश की संस्कृति के प्राचीन विकास की भूली हुई श्रृंखलाओं की कड़ियों को खोजने और उन्हें मिलाने का प्रयत्न करता है। अपनी खोज के आधार पर वह तत्कालीन प्रतिनिधि व्यक्तियों को लेकर नाटक की कथा-वस्तु का निर्माण करता है। इसीसे वह अपने देश के लिए प्रकाश-स्तम्भ का काम करता है। प्रेमीजी ऐसे ही प्रकाश-स्तम्भ हैं। उन्होंने इतिहास के महत्त्व को समझा है; इसीलिए साहित्य में उसका समावेश किया है।

प्रेमीजी ने इतिहास को अपने नाटकों का आधार क्यों और किस सीमा तक बनाया, इसका उत्तर यद्यपि उपर्युक्त विवेचन से स्वतः ही मिल जाता है; किन्तु इस प्रश्न का उत्तर उनके शब्दों में इस प्रकार है :—

'इतिहास—हमारा भूत—हमारा बीता हुआ काल हमारे आज की बुनियाद है।.........बिना दृढ़ आधार के हमारा समाज, हमारी संस्कृति, हमारी राष्ट्रीयता और हमारी मानवता खड़ी कैसे रह सकती है, मैं तो अपने राष्ट्र के पैरों को इतिहास का बल देना चाहता हूँ। ('शतरंज के खिलाड़ी' की भूमिका)

'हम अभी स्वतन्त्र हुए हैं और हमें अपनी स्वाधीनता की रक्षा करनी है, इसलिए हमें अपना इतिहास इस दृष्टिकोण से भी पढ़ना है कि हम अपनी उन दुर्बलताओं को जान सकें, जिनके कारण हम पराधीन हुए थे ताकि भविष्य में उन भूलों को हम दुहरावें नहीं।' ('संरक्षक' की भूमिका)

'भारतीय इतिहास के उन कथानकों पर जिनसे इस विशाल देश में राष्ट्रीय एकता स्थापित करने की प्रेरणा प्राप्त हो, कुछ नाटक लिखने का प्रयास मैंने किया है।' ('विदा' की भूमिका)

'इतिहास के अध्ययन का अर्थ तिथियों, घटनाओं और राजाओं के नामों को याद कर लेना भर नहीं है। इतिहास तो हमें बताता है कि हमें क्या करना चाहिए, क्या नहीं—किस तरफ़ जाने में पतन है, किधर जाने में उत्थान—कहाँ मरण है, कहाँ जीवन !' ('शपथ' की भूमिका)

'प्रेमी'जी के ये वक्तव्य बताते हैं कि ऐतिहासिक नाटक विस्मृति का धुँधला ग्राँचल हटाकर हमारे सामने ग्रतीत की झाँकी उपस्थित कर देते हैं। ये नाटक इतने प्रेरक होते हैं कि कभी-कभी तो पाठक महान् विभूतियों के ग्रादर्श तथा कार्य-क्षमता से विस्मित हो उठते हैं ग्रौर देश-प्रेम की भावना से भर ग्राते हैं। ऐतिहासिक कथानक लेकर चलनेवाले नाटक जनता के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। प्राचीन गौरव के चित्र हमारे हृदयों में उत्साह की सृष्टि करते हैं ग्रौर हमारे पूर्वजों की भूलें हमें भविष्य के लिए सचेत करती हैं। प्रेमीजी ने इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर ऐतिहासिक नाटकों की सृष्टि की है। केवल इसलिए नहीं कि उन्हें नाटक लिखने में सरलता हुई; क्योंकि बने-बनाये कथानक, घटनाएँ ग्रौर पात्र मिल गये।

किसी महान् उद्देश्य को सामने रखकर चलनेवाले प्रसादजी ने ऐतिहासिक नाटकों की जो धारा प्रवाहित की थी, उसे प्रेमीजी ने ही तीव्रता प्रदान की। ग्रपनी नाटक-कला द्वारा उन्होंने ऐतिहासिक कथानकों में नये प्राण डाले हैं। प्रेमीजी ने ग्रबतक जो ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं:—रक्षाबन्धन, शिवासाधना, प्रतिशोध, स्वप्न-भंग, ग्राहुति, मित्र, विषपान, उद्धार, शपथ, विदा, संरक्षक, शतरंज के खिलाड़ी, प्रकाश-स्तम्भ, कीर्त्तिस्तम्भ, संवत् प्रवर्त्तन ग्रौर साँपों की सृष्टि।

सभी नाटकों के लेखन में प्रेमीजी ने इस बात का बराबर ध्यान रखा है कि इतिहास के ग्रौचित्य की भी रक्षा हो जाये ग्रौर कल्पना का, जो कि साहित्य का उपयोगी तत्त्व है, भी समुचित समावेश हो। ग्राखिरकार नाटक इतिहास तो नहीं है। ऐतिहासिक घटनाग्रों में कल्पना का मिश्रण करके उसको नूतन रूप देना ही कुशल नाटककार का कर्त्तव्य है। उसे यह ग्रधिकार नहीं कि वह घटनाग्रों की सत्यता या उसके क्रम को ही बदल डाले। पुरातन में नूतन की स्थापना करने का ग्रधिकार तो उसका होता है, किन्तु ढाँचा बदलने का नहीं। वास्तव में ऐतिहासिक नाटक की रचना साधारण नाटक से कठिन होती है। ऐतिहासिक नाटककार को प्राचीन इतिहास का पूर्ण रूप से जानकार होने के साथ-साथ सफल ग्रौर सहृदय कलाकार भी होना चाहिए, जिससे कि वह ऐतिहासिक तथ्यों में कल्पना का समावेश कर कोरे तथ्य को सरस सत्य का रूप दे सके। इसके लिए यह ग्रावश्यक है कि लेखक का ग्रध्ययन विस्तृत हो। ऐतिहासिक ग्रन्वेषणों का वह ग्रपने नाटकों में समाहार कर सके ग्रौर इस ढंग से कर सके जिससे कि कल्पना की ग्रौर भाव-गरिमा की रक्षा भी हो जाये। प्रेमीजी ने इस विषय में बड़ी सावधानी बरती है।

'कल्पना का उपयोग करते हुए भी प्रेमीजी ने ग्रपने नाटकों में इतिहास की मर्यादा की पूरी रक्षा की है। कलाकार के ग्रधिकार के उपयोग के ग्रहम् में ग्राकर उन्होंने इतिहास का न तो गला ही दबाया है, ग्रौर न कल्पना के ग्रातंक को ही

इतिहास पर छाने दिया है। इतिहास के सत्य की रक्षा करते हुए प्रेमीजी ने नवीन जीवन-निर्माण का मार्ग दिखाया है और अपनी बात सफलतापूर्वक कह दी है।'[1]

इतिहास की पुस्तकों में मिलनेवाले विवरण ही इतिहास नहीं हैं; संभावित घटनाएँ भी इतिहास हैं; जनश्रुतियाँ और लोकवाणी भी इतिहास ही है। 'यदि हम केवल विदेशियों द्वारा स्वार्थ-प्रेरित मनगढ़न्त इतिहास की गवाही में प्रेमीजी के नाटकों की परीक्षा करेंगे तो भारी भूल होगी। इतिहास केवल वह ही नहीं है; इतिहास राजस्थान की जनवाणी में भी अपने यथार्थ रूप में बोल रहा है। जनवाणी और ऐतिहासिक पांडित्य दोनों के आधार पर प्रेमीजी ने अपने नाटकों के लिए कथा-सामग्री और पात्र चुने हैं।'[2]

'रक्षा-बन्धन'—प्रेमीजी का यह पहला ऐतिहासिक नाटक है; जिसने इन्हें ख्याति के शिखर पर पहुँचाया। प्रेमी और रक्षा-बन्धन ये दो शब्द पर्यायवाची से हो गये। रक्षा-बन्धन में मुग़ल-सम्राट् हुमायूँ और उदयपुर के स्वर्गीय महाराणा साँगा की पत्नी कर्मवती के भाई-बहिन के पवित्र सम्बन्ध की रक्षा का वर्णन है। नाटक में दिखाया गया है कि महाराणा का विरोधी मुग़ल बादशाह कर्मवती को बहिन मान लेने पर अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा के विरुद्ध, गुजरात के बादशाह बहादुरशाह के उदयपुर पर आक्रमण का समाचार सुनकर, उसकी रक्षा के लिए उदयपुर पहुँचता है; किन्तु कर्मवती रक्षा की आशा न देखकर जौहर कर लेती है। हुमायूँ को दुःख होता है कि वह शक्तिभर युद्ध करने पर भी अपनी धर्म-बहिन की रक्षा न कर सका।

रक्षा-बन्धन की कथा में चित्तौड़ पर बहादुरशाह का आक्रमण—इतिहास की आँखोंदेखी घटना है। कर्मवती द्वारा हुमायूँ को राखी भेजना और उसका चित्तौड़ की रक्षा के लिए पहुँचना 'टाड के राजस्थान' में भी वर्णित है। जौहर की कहानी भी जन-मन में जीवित है। कर्मवती, जवाहरबाई, श्यामा, उदयसिंह, हुमायूँ, बहादुरशाह, विक्रमादित्य आदि सभी इतिहास-प्रसिद्ध पात्र हैं। नाटक में वर्णित मेवाड़ के महाराणा विक्रमादित्य का बहादुरशाह के भाई चाँदखाँ को अपने यहाँ आश्रय देना भी इतिहास-सम्मत है। डा० ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है कि बहादुरशाह अपने राज्य को बढ़ाना चाहता था और सन् १५३१ ई० में उसने मालवा के राजा पर आक्रमण किया, जिन्होंने बहादुरशाह के भाई चाँदखाँ को अपने यहाँ आश्रय दिया था। इस पर बहादुरशाह ने मालवा के राजा पर आक्रमण किया था।

ऐतिहासिक घटना को और अधिक प्रत्यक्ष करने के लिए इस नाटक में कल्पना का भी सहारा लिया गया है। धनदास, मौजीराम, चारणी, माया कल्पित पात्र हैं। इन सभी पात्रों के चरित्रों और सम्वादों से इनके निर्माण का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। धनदास, मौजीराम, माया तो हास्यरस की सृष्टि के लिए

---

१ और २ हिन्दी नाटककार (श्री जयनाथ 'नलिन') पृष्ठ १२४

हैं। श्यामा और चारणी देशवासियों को जाग्रति का सन्देश देने के लिए हैं, किन्तु श्यामा भी ऐतिहासिक पात्र है, हाँ उसका चरित्र-विकास कल्पना के आधार पर हुआ है।

यदि कुछ आलोचकों को हुमायूं का सहायता का वचन, परन्तु समय पर न पहुँच सकना, जौहर आदि की घटनाएँ इतिहास-सम्मत नहीं मालूम होतीं तो इसमें नाटककार का दोष नहीं; बल्कि ऐतिहासिक तथ्यों की ठीक से संगति न मिला पानेवालों का दोष है। एक बात यह भी है कि जिन घटनाओं पर इतिहासकार ही सहमत नहीं हैं; उनके लिए ऐतिहासिक या प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता की चर्चा करना ही व्यर्थ है।

शिवा-साधना में छत्रपति शिवाजी के साहसपूर्ण आक्रमणों और संगठनों के प्रयत्नों का वर्णन है। शिवाजी न केवल महाराष्ट्र में बल्कि सारे देश में जनता का स्वराज्य स्थापित करना चाहते थे। इनके पिता शाहजी आदिलशाह के अधीन थे। शिवाजी के स्वतन्त्र रूप से राज्य स्थापित करने में उन्हें आपत्ति थी। इसीलिए पुत्र को पिता का कहना न मानते देख वह (आदिलशाह) शाहजी को जीवित दीवार में चुनवाना चाहता है, परन्तु अपनी बेगम के अनुरोध पर उन्हें क़ैद कर लेता है, जिससे कि उनकी रक्षा के लिए आनेवाले शिवाजी को क़ैद कर सके।

दूसरी ओर औरंगज़ेब बीजापुर राज्य के साथ-साथ शिवाजी को भी बरबाद करना चाहता है। कूटनीति में सफलता न पाकर औरंगज़ेब धोखे से उन्हें बन्दी करता है। शिवाजी उसे धोखा देकर मिठाई के टोकरों मे बैठकर भाग जाते हैं। माता की मृत्यु से वे वैरागी होना चाहते हैं, परन्तु समर्थ गुरु रामदास द्वारा प्रोत्साहन पाकर वे एक बार फिर कर्त्तव्य पर आरूढ़ होते हैं।

'शिवा-साधना' की घटनाएँ ऐतिहासिक हैं, कवि ने कल्पना से भी पर्याप्त सीमा तक काम लिया है। इस नाटक की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में 'शिवा-साधना' की भूमिका में प्रेमीजी ने लिखा है—'मैंने नाटक में जो घटनाएँ दी हैं, वे बिना ऐतिहासिक आधार के नहीं दीं। यह ऐतिहासिक नाटक है। नाटक में इतिहास की अक्षरशः रक्षा करना कठिन कार्य होता है, फिर भी सभी मूल घटनाएँ मैंने अक्षरशः इतिहास के अनुसार ही अंकित की हैं, अपितु इतना भी कह सकता हूँ कि ऐतिहासिक घटनाओं के क्रम आदि का जितना ध्यान इस नाटक में रखा गया है, उतना शायद अब तक किसी ऐतिहासिक नाटक में न रखा गया होगा।'

कुछ पात्रों के चरित्र और घटनाओं के सम्बन्ध में उनका वक्तव्य इस प्रकार है :—'मैंने इस नाटक में बताया है कि शिवाजी न केवल महाराष्ट्र में बल्कि सम्पूर्ण भारत में 'जनता का स्वराज्य' स्थापित करना चाहते थे; उनके हृदय में मुसलमानों के प्रति कोई द्वेष न था। मेरी इस धारणा की इतिहास भी पुष्टि करता है। आधुनिक

इतिहासकारों ने इस बात को एक स्वर से माना है कि शिवाजी ने किसी व्यक्ति को केवल इसलिए नहीं दंड दिया कि वह मुसलमान है।' श्री जी० स० सारदेसाई आदि इतिहासकारों के उल्लेख इस वक्तव्य के समर्थन में दिये जा सकते हैं।

प्रेमीजी ने गुरु रामदास को शिवाजी का गुरु माना है। इस सम्बन्ध में जब तक इतिहासकारों में मतभेद बना है, तब तक प्रेमीजी का ऐसा मानना इतिहास-सम्मत ही स्वीकार किया जाना चाहिए; फिर लोकवाणी भी समर्थ गुरु रामदास को शिवाजी का गुरु मानती आई है।

दादा जी कोंडदेव द्वारा शिवाजी को स्वराज्य-साधना की प्रेरणा न मिलना और दादाजी का विष खा लेना आदि घटनाएँ भी इतिहास-सम्मत ही हैं। 'इतिहास की साधारण पाठ्य-पुस्तकों में बताया जाता है कि शिवाजी ने स्वराज्य-साधना की प्रेरणा दादाजी कोंडदेव से प्राप्त की थी। परन्तु मराठा इतिहास के विशेषज्ञ इस बात को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि दादाजी शिवाजी को हमेशा उस पथ पर जाने से निरुत्साहित करते रहे, शिवाजी को जो कुछ भी प्रेरणा मिली, वह अपनी वीरांगना माता जीजाबाई से ही मिली थी।' जीजाबाई का चरित्र भी लेखक ने इतिहास-सम्मत ही रखा है। दादाजी के विषपान का समर्थन फ़ारसीग्रन्थ तारीख़-ए-शिवाजी और यदुनाथ सरकार की 'शिवाजी एंड हिज़ टाइम्स' पुस्तक से होता है।

शाहजी को दीवार में चुनवाने की घटना कल्पित है। यह केवल इतिहास की घटना में नाटकीयता की वृद्धि के लिए रची गई है, किन्तु दीवार में चुने जाने की अन्य घटनाओं को ध्यान में रखा जाये तो लेखक की यह कल्पना संभावना में बदल सकती है।

सोनदेव द्वारा कोंकण के सूबेदार मौलाना अहमद की रूपवती पुत्र-वधू को शिवाजी के सामने प्रस्तुत करनेवाली घटना भी इतिहास-सम्मत है। डा० ईश्वरी-प्रसाद के ग्रन्थ 'भारत में मुस्लिम शासन का संक्षिप्त इतिहास' से इसकी पुष्टि होती है। जीजाबाई ने शिवाजी की परीक्षा लेने के लिए सोनदेव को ऐसा करने को कहा था, यह लेखक की अपनी कल्पना है। इस कल्पना से सोनदेव के चरित्र की भी रक्षा हो गई है और शिवाजी के अनुशासन की भी।

नाटककार ने दिखाया है कि शिवाजी की पत्नी सईबाई ने औरंगज़ेब से सहायता लेने की सलाह दी। कुछ इतिहासकार मुराद से सहायता ली गई बताते हैं। कुछ भी हो, सहायता लेने की घटना तो सत्य है; उसका स्वरूप अपनी कल्पना से जो बदला है, वह केवल इसलिए कि औरंगज़ेब से सहायता लेने की घटना अधिक जिज्ञासा और कौतूहल को बढ़ाती है। सईबाई की राजनैतिक कुशलता और चारित्रिक विकास पर भी इस कल्पना से प्रकाश पड़ता है।

अफ़ज़लखाँ का अपनी बेगमों को जीवित तालाब में फिंकवाना कल्पित कहा

जा सकता है; किन्तु कुछ मुगल बादशाहों-द्वारा इस प्रकार की घटनाओं के उल्लेख डा० स्मिथ आदि के इतिहासों में मिलते हैं। चाहे वे इस प्रकार की घटनाएँ जान-बूझकर करते थे और चाहे सनक में आकर, अतः इसे कोरी कल्पना न कहकर इतिहास की संभावना कहा जा सकता है।

बावजूद भारी विवाद के भी अफ़ज़लखाँ और शिवाजी के मिलन की घटना भी ऐतिहासिक ही है। आधुनिक खोज के अनुसार पहला हमला अफ़ज़लखाँ ने ही किया था। अपने बचाव के लिए शिवाजी पहले से ही तैयार थे, क्योंकि अफ़ज़लखाँ के षड्यंत्र का पता उन्हें पहले ही लग गया था। डा० ईश्वरीप्रसाद के अनुसार शिवाजी के बनाव-शृंगार को देखकर अफ़ज़लखाँ ने ही प्रथम उनको उत्तेजित किया और अपने बचाव के लिए शिवाजी ने उसकी हत्या की। लोकवाणी इसी प्रकार इस घटना को कहती आई है। यहाँ प्रेमीजी का इतिहास-ज्ञान और निष्पक्षता दृष्टि-गोचर होती है।

अफ़ज़लखाँ के बाद औरंगज़ेब का शिवाजी पर हमला करने के लिए शाइस्ताख़ाँ को भेजना, चाकन-क़िला की विजय, उसका पूना के लाल क़िला में ठहरना, शिवाजी और उनकी सेना का बारात बनाकर पूना में प्रवेश तथा राग-रंग के पश्चात् क़िले में पड़े शाइस्ताखाँ पर हमला करना, उसका अँगूठा कटना, उसके लड़के द्वारा प्रतिशोध और उसका मारा जाना और इसी समय किसी बाँदी-द्वारा रोशनी बुझाना आदि घटनाएँ भी इतिहास-सम्मत हैं। डा० ईश्वरीप्रसाद और डा० सरकार ने इनका उल्लेख इसी प्रकार किया है। प्रेमीजी ने रोचकता के साथ सत्य की रक्षा की है, यह उनकी कला-कुशलता है।

शाइस्ताखाँ का जसवंतसिंह के प्रति यह व्यंग्य—मैं तो समझता था कि राजा जसवन्तसिंह रात को शिवाजी से लड़ते हुए मारे गये—भी ज्यों-का-त्यों इतिहास से लिया गया है। नाटक में वर्णित शिवाजी का सूरत को लूटना और करोड़ों की धन-प्राप्ति भी इतिहास-सम्मत हैं। जयसिंह के अनुरोध पर शिवाजी का औरंगज़ेब के दरबार में जाना भी इतिहास के ही अनुसार है। औरंगज़ेब के दरबार में शिवाजी के अपमान की घटना भी इतिहास में वर्णित है। शिवाजी के समकालीन भूषण कवि ने भी इस घटना का वर्णन किया है।

औरंगज़ेब को नज़र पेश करने के पश्चात् शिवाजी का रामसिंह कछवाहा के के पास बैठाया जाना और इस पर उनका क्रोधित होकर मूर्च्छित हो जाना इतिहास में वर्णित है; परन्तु प्रेमीजी ने मूर्च्छा की चर्चा नहीं की, नायक के चरित्र को दुर्बल होने से बचा लिया है। शिवाजी का मिठाई के टोकरों में बैठकर निकल जाना, औरंगज़ेब का जयसिंह के पुत्र रामसिंह पर सन्देह करना तथा शिवाजी का सूरत को फिर से लूटना आदि घटनाएँ भी इतिहास-सिद्ध हैं।

औरंगज़ेब की पुत्री ज़ेबुन्निसा का शिवाजी के प्रति आकर्षण भी कोरी कल्पना नहीं है। इतिहास में इसका भी स्रोत है। मराठा इतिहासकार श्री ए. केलुसकर की मूल मराठी पुस्तक के आधार पर श्री एन. एस. तकाखव ने अपनी पुस्तक में लिखा है—'शिवाजी के दरबार में जाने परं कौतूहलवश दरबार की स्त्रियाँ उन्हें पर्दे के पीछे देखने आईं। उनमें औरंगज़ेब की अविवाहिता पुत्री ज़ेबुन्निसा भी थी। शिवाजी की वीरता की कहानियाँ राजकुमारी को पहले ही आकर्षित कर चुकी थीं और एक दृष्टि में ही वह शिवाजी से प्रेम करने लगी थी। उसने प्रण किया था कि या तो वह शिवाजी से शादी करेगी या जन्मभर अविवाहित ही रहेगी।' इसके सम्बन्ध में प्रेमीजी ने नाटक की भूमिका में लिखा है—'किसी बादशाह की पुत्री के मन का चित्रण करने की इतिहासकारों को प्राय: आवश्यकता ही नहीं जान पड़ती और फिर जो बात हृदय में छिपाकर रखनी होती है, वह इतिहासकारों तक पहुँचे भी कैसे !' स्पष्ट है ज़ेबुन्निसा का आकर्षण प्रेमीजी के मस्तिष्क की सूझभर नहीं है, उनके इतिहास-प्रिय कुशल नाटककार की खोज है।

यमुना, अकाबाई, सलीमा, मसीदखां, तारासिंह आदि कल्पित पात्र हैं, किन्तु ऐतिहासिक भावना का इनसे कहीं हनन नहीं होता है।

'प्रतिशोध' में वीर बुन्देला छत्रसाल की कहानी है। बुन्देलों की बिखरी हुई शक्ति को किस प्रकार उसने सुसंगठित कर औरंगज़ेब जैसे शक्तिशाली सम्राट् का सफल विरोध किया, यही प्रतिशोध का विषय है। इस नाटक की रचना कवि लाल-कृत 'छत्र-प्रकाश' पर आधारित है। प्रेमीजी का कहना है कि इस नाटक में पात्र कल्पित हों, यह बात अलग है, किन्तु ऐतिहासिक घटनाओं में ज़रा भी उलट-फेर नहीं हुआ। बुन्देलखंड का प्रामाणिक इतिहास हिन्दी-भाषा-भाषियों के लिए अभी तक अपरिचित है। जो कुछ प्रयत्न हुआ भी है वह ऐतिहासिक भूलों से पूर्ण है। 'प्रतिशोध' में ऐतिहासिक भूलें नहीं हैं, नाटककार ने इतिहास की रक्षा करने का पूरा यत्न किया है। नाटक के ऐतिहासिक आधार के लिए स्वयं लेखक ने 'प्रतिशोध' की भूमिका में लिखा है — 'बचपन से मैं बुन्देलों की उद्दण्ड वीरता की कहानियाँ सुनता आया हूँ। इस युग में भी अनेक बुन्देले ठाकुरों को तलवारों की कमाई खाते हुए मैंने देखा है। दारिद्रय से तंग आकर नौकरी करने के स्थान पर डाके डालना स्वाभिमानी मन को ज़्यादा भाता है। विपरीत परिस्थितियों के आगे सर झुका देने की कमज़ोरी आजतक इस जाति में नहीं आ पाई है। इसका कारण इसका प्राचीन उज्ज्वल इतिहास ही है।

छत्रसाल के पिता चम्पतराय का जीवन जितना संघर्षमय, जितना कष्टमय और जितना तेजस्वी रहा है, उतना वीरतम जातियों के इतिहास में थोड़े ही व्यक्तियों का मिलेगा। उनके मरने के बाद अनाथ, दरिद्र, दाने-दाने को मोहताज, अल्पवयस्क छत्रसाल किस प्रकार केवल अपने वंश के पूर्व गौरव को प्राप्त करने में ही नहीं, बल्कि

बुन्देलखंड से मुगल-साम्राज्य की सत्ता को निर्वासित करने में सफल हुए, यह लगन, कष्ट-सहन और साहस का उच्चतम उदाहरण है। वास्तव में 'प्रतिशोध' के पात्रों के चरित्र की महानता में ही बुन्देलखंड का इतिहास सुरक्षित है।

'आहुति' में रणथंभौर के हम्मीरसिंह और अलाउद्दीन के युद्ध का वर्णन है। अलाउद्दीन के कोप-भाजन मुस्लिम सरदार मीर महिमा को शरण देकर वे स्वयं भी उसके कोप-पात्र बनते हैं। अलाउद्दीन बहाना पाकर चढ़ाई कर देता है। युद्ध कई मास तक चलता है। कोषाध्यक्ष सुजानसिंह धन का अभाव बताकर युद्ध समाप्त करना चाहता है। विजय की आशा न देखकर राजपूत केसरिया बाना पहन कर युद्ध करने निकलते हैं, स्त्रियों को कहा जाता है कि यदि हार जायें तो वे जौहर कर लें; किन्तु राजपूत-सेना जीत जाती है। हम्मीरदेव मुगलों के झंडे उठाये हुए ही अन्दर जाते हैं। स्त्रियों को मुगलों के जीतने का भ्रम होता है और वे जौहर कर लेती हैं। हम्मीर को बड़ा क्लेश होता है, वे छोटे कुमार को गद्दी पर बिठा कर स्वयं भी इस महायज्ञ में अपने प्राणों की आहुति दे देते हैं।

प्रेमीजी ने इस नाटक में कल्पना का प्रचुर प्रयोग किया है। नाटक की कथावस्तु, घटना-क्रम और भावनाएं लेखक की कल्पना और अनुभूति के ताने-बाने से बनी हैं। फिर भी पात्रों के चरित्र की ऐतिहासिक महत्ता को कम नहीं होने दिया है। हम्मीर के चरित्र को उज्ज्वल इतिहास का चरित्र ही रखा है। प्रसिद्ध इतिहासकार श्री विश्वेश्वरप्रसाद, डा० ईश्वरीप्रसाद और कर्नल टाड आदि ने तथा चन्द्रशेखर, ग्वाल और जोधराज जैसे कवियों ने हम्मीरदेव को वीर, साहसी और बुद्धिमान् ही लिखा है। आहुति का हम्मीर भी इसी प्रकार का है।

अलाउद्दीन की सेना का रणथंभौर का दस मास तक घेरा डाले रखना, अन्त में हम्मीरसिंह का क़िले से बाहर निकलकर युद्ध करना, सुरजनसिंह का राणा को धोखा देना, चपला-द्वारा उसकी मृत्यु और अलाउद्दीन का कुत्तों के द्वारा उसकी लाश को फिकवाना आदि ऐतिहासिक घटनाएँ हैं।

मीर महिमा की रक्षा के लिए युद्ध लड़ा गया—यह घटना भी सत्य है। अन्तर केवल इतना ही है कि इतिहास में मीर मुहम्मदशाह नाम आता है जबकि प्रेमजी ने मीर महिमा लिखा है। मीर मगरू और जमालखाँ भी ऐतिहासिक पात्र हैं, जबकि डा० ईश्वरीप्रसाद इनके नाम उल्हाखाँ और नशरतखाँ बताते हैं। नाटक के अनुसार अलाउद्दीन की सेना ने छाछागढ़ पर विजय पाई, जबकि इतिहास में झायन नामक स्थान बताया है। प्रेमीजी ने जो नाम दिए हैं वह 'हम्मीररासो' काव्य के आधार पर हैं।

'स्वप्न-भंग' में दारा के अन्तिम दिनों में औरंगजेब के साथ हुए संघर्ष की कहानी है। दारा हिन्दू-मुस्लिम-एकता का समर्थक था। अपने विचारों और कार्यों-

द्वारा उसने इसी को सुदृढ़ रूप देने का प्रयत्न किया, किन्तु अपनी छोटी बहन रोशन-आरा के षड्यंत्र से उसका स्वप्न पूरा न हुआ।

शिवा-साधना की भाँति ही लेखक ने इतिहास के सत्य की इस नाटक में भी रक्षा की है। इतिहास के अनुसार शाहजहाँ के चार पुत्र थे—दारा, शुजा, औरंगज़ेब और मुराद। दो पुत्रियाँ थीं—बड़ी लड़की जहाँनारा दारा से विशेष स्नेह करती थी, छोटी रोशनआरा औरंगज़ेब को विशेष प्रिय थी। यही दरबार की सब घटनाएँ औरंगज़ेब को बताया करती थी। थोड़े-बहुत फेर-फार और कल्पना के सहारे यही कुछ प्रेमीजी ने भी इस नाटक में व्यक्त किया है। रोशनआरा के चरित्र को रंगीन बनाने के लिए कल्पना का अधिक आश्रय लिया गया है।

दारा का चरित्र तो इतिहास के बहुत ही अनुकूल है। दारा धर्म-प्रेमी था। हिन्दू-मुसलमान उसके लिए समान थे। वह सूफ़ियों और वेदान्तियों से समान सम्बन्ध रखता था। कुरान और वेदों का एक-जैसा ही आदर करता था। ब्राह्मणों की सहायता से उसने उपनिषदों का फ़ारसी भाषा में भी अनुवाद किया था। पाश्चात्य इतिहासकारों के वर्णनों के अनुकूल ही दारा का चरित्र इस नाटक में अंकित है।

शाहजहाँ, औरंगज़ेब, शुजा और मुराद के चरित्र भी इतिहास-सम्मत हैं। युद्ध-वर्णन और उसकी मूल घटनाएँ भी इतिहास से मेल खाती हैं। शाहजहाँ की मृत्यु का ग़लत समाचार सुनकर औरंगज़ेब और मुराद दक्षिण से और शुजा बंगाल से युद्ध करने चले। इतिहास में दारा की राजनैतिक भूल से ही शाहजहाँ की मृत्यु का भ्रम साधारण जनता को हुआ था; किन्तु नायक के चरित्र को ऊँचा उठाने के लिए नाटककार ने शाहजहाँ की बीमारी का समाचार सुनकर ही युद्ध करना दिखाया है।

दारा और औरंगजेब के प्रथम युद्ध में नाटककार ने इतिहास की रक्षा करते हुए भी नाटक की रोचकता बनाये रखी है। दारा, महाराज जसवंतसिंह तथा कासिमखाँ को मुराद और औरंगज़ेब की सेना से युद्ध करने भेजता है। घमासान युद्ध होता है; राजपूत सेना हार जाती है और महाराज जसवंतसिंह मारवाड़ भाग जाते हैं। वहाँ उनकी पत्नी हारे हुए पति को घर में नहीं घुसने देती। जगदीशसिंह गहलोत के राजपूताने के इतिहास में वर्णित ये घटनाएँ भी इसी प्रकार हैं।

राजपूतों की हार का कारण कल्पित है। शेरखाँ और रोशनआरा के षड्-यंत्र को अपनी कल्पना से सजाकर कथानक को रोचकता दी है। इतिहासकार लेनपूल ने कासिमखाँ का और उसके साथ सेना का मैदान से हारकर भागना लिखा है। डा० ईश्वरीप्रसाद के अनुसार दारा की हार का कारण उसके अफ़सरों का षड्यंत्र भी था। इसी के अनुसार प्रेमीजी ने शेरखाँ और रोशनआरा के षड्यंत्र की सृष्टि की है। जसवंतसिंह के भाग जाने में लेखक ने सरदारों की प्रेरणा लिखी है, इससे जसवंतसिंह का चरित्र गिरने से बचा है।

दूसरा युद्ध ग्वालियर और आगरा के बीच सामूगढ़ में हुआ। दारा को अपनी हार से क्लेश हुआ। शाहजहाँ भी आगरा की गर्मी बचाने के लिए दिल्ली चल चुका था, परन्तु युद्ध में पराजय के कारण वह फिर आगरा ही आ गया। यहाँ तक की घटनाएँ तो इतिहास से मेल खाती हैं, लेकिन खलीतुल्लाह तथा रोशनआरा के षड्-यंत्रों में कल्पना का समावेश है। खलीतुल्लाह दारा का सेनापति था और इतिहास इस बात का साक्षी है कि धन-लोलुपता इसको विद्रोही बना सकती थी। इसी आधार को लेकर प्रेमीजी ने इतना विशद और रोचक चित्रण कर डाला है। दारा का युद्ध में तत्परता से लड़ना और हाथी से उतरकर घोड़े पर चढ़कर चलना तो इतिहास-सम्मत है, किन्तु खलीतुल्लाह का षड्यंत्र कल्पित है। यह कल्पना नाटकीय कौतूहल लाने के लिए की गई है, किन्तु यह कल्पना भी सर्वथा निराधार नहीं है; क्योंकि प्रथम श्रेणी के इतिहासकार मनूची और बर्नियर ने खलीतुल्लाह के छलपूर्ण व्यवहार का वर्णन किया है।

युद्ध में हार जाने के बाद दारा ने शाहजहाँ को मुँह नहीं दिखाया; पर नाटक-कार ने युद्ध के पश्चात् शाहजहाँ के समक्ष दारा के द्वारा ही युद्ध का वर्णन करवा कर नाटक में रोचकता का समावेश किया है। लेखक ने औरंगज़ेब को स्वयं क्षमा-प्रार्थी न दिखाकर जहाँनारा द्वारा उसे अपनी त्रुटियों का ज्ञान कराया है। औरंगज़ेब स्वयं मिलने आना चाहता था, पर रोशनआरा यह कहकर कि तुम मूर्ख हो, जहाँ-नारा ने तुम्हें गिरफ़्तार करने का षड्यंत्र किया है, उसको नहीं आने देती, जबकि ऐतिहासिक सचाई यह है कि शाहजहाँ का पत्र तथा मित्रों का आग्रह ही उसको वहाँ नहीं आने देता। यह नाटककार की अपनी कल्पना है।

औरंगजेब का क़िले में पानी का प्रवेश रोकना और शाहजहाँ के पानी माँगने पर कुएँ का खारी पानी देना तथा शाहजहाँ का अपनी बेटी से व्यंग्य-वचन कहना आदि 'शाहनामे' के अनुसार ही है। औरंगज़ेब के ससुर शाहनवाज़खाँ के द्वारा दारा को आश्रय दिलवाना, उसका अपने दामाद के विचारों से सहमत न होना आदि का इतिहास में स्पष्ट उल्लेख है। यदुनाथ सरकार ने इस घटना की तारीख ६ जनवरी सन् १६५८ दी है। इस घटना को उभारकर दिखाने से नाटक में सौंदर्य की वृद्धि ही हुई है।

शिवाजी तथा मुस्लिम रियासतों का दारा को सहायता देने का वर्णन, जामनगर के महाराणा की पुत्री का दारा के पुत्र के विवाह के प्रस्ताव का वर्णन कल्पित है। जसवन्तसिंह द्वारा सहायता न पाकर दारा अकेला ही युद्ध करता है, परन्तु हार जाता है, यह घटना सर वूलज़ले हेग के इतिहास से मेल खाती है, परन्तु नादिरा के साथ दारा का जंगल में भटकना तथा प्रकाश और वीणा द्वारा

आश्रय पाना कल्पित है। इतिहास के अनुसार दारा वहाँ से हारकर गुजरात की ओर गया, जहाँ गुजरात के नए शासक शाहनवाज़खाँ (औरंगज़ेब के ससुर) ने उसका साथ दिया। दोराई के युद्ध में शाहनवाज़खाँ दारा की ओर से युद्ध करता हुआ मारा गया था। दोराई के युद्ध में हारकर दारा ने फिर गुजरात जाने का यत्न किया था तब उसे वहाँ घुसने की अनुमति नहीं मिली थी।

मलिक जीवन के यहाँ दारा का आश्रय लेना भी इतिहास-सम्मत है। बर्नर, जो उसकी रोग-ग्रस्त स्त्री नादिरा की सेवा के लिए उसके साथ था, इस बात का उल्लेख करता है कि दारा दर-दर की ठोकरें खाता हुआ दादर पहुँचा और बिलोची सरदार मलिक जीवन के यहाँ आश्रय लिया, जिसकी दारा ने राज-कोप से रक्षा की थी। उसकी स्त्री, पुत्री तथा पुत्र ने दारा के चरणों पर गिरकर इस पठान सरदार का आश्रय न लेने को कहा, परन्तु दारा नहीं माना। इसी मलिक जीवन ने दारा को औरंगज़ेब के सरदारों के हवाले कर दिया था।

प्रेमीजी ने दारा की पत्नी नादिरा की मृत्यु मलिक जीवन के यहाँ कराई है जबकि उसकी मृत्यु दादर जाते समय रास्ते में हुई थी। किन्तु नादिरा के मानसिक कष्ट का वर्णन इतिहास-सम्मत ही है।

दारा के दुःखद अन्त का वर्णन नाटक में जिस प्रकार चित्रित है, उसी प्रकार बर्नर के इतिहास में भी है। बर्नर ने अपनी आँखों से दारा की दयनीय दशा और जलूस देखा था।

दारा-द्वारा भिखारी को दान और दारा के क़त्ल की आज्ञा भी इतिहास के समान हैं। अन्त में एक बात और; सम्पूर्ण नाटक औरंगज़ेब और दारा के युद्धों और राजनीतिक दाव-पेंचों से भरा है। इस मन उबा देनेवाली एकरसता को भंग करने के लिए प्रेमीजी ने प्रकाश, वीणा और सलीमा आदि पात्रों की सृष्टि की है। ये पात्र ही रोचकता बनाए रखते हैं।

'शतरंज के खिलाड़ी' नाटक 'मित्र' नाटक का नवीन रूप है। इसमें जैसलमेर के महारावल तथा अलाउद्दीन के युद्ध का वर्णन है। युद्ध का कारण था, जैसलमेर के लोगों-द्वारा अलाउद्दीन के खजाने की लूट। इस युद्ध में अलाउद्दीन की सेना नष्ट हो जाती है, किन्तु किसी देश-द्रोही ने छल से राजपूतों की युद्ध और खाद्य-सामग्री में आग लगा दी। राजपूत केसरिया बाना धारण कर युद्ध करते हैं और स्त्रियाँ जौहर करती हैं। अलाउद्दीन के सेनापति महबूब को रत्नसिंह अपना पुत्र सौंपकर मित्रता का प्रमाण देते हैं। रत्नसिंह और महबूब गले मिलते हैं। मित्रता और कर्त्तव्य की जय होती है।

इस नाटक की घटनाएँ राजपूताने की ख्यातों, टाड-राजस्थान, जगदीशसिंह

गहलोत के इतिहास और पंडित विश्वेश्वरनाथ रेउ के इतिहासों से मेल खाती हैं। प्रेमीजी ने जैसलमेर के महारावल का नाम जीतसिंह लिखा है; इतिहास में जैतसिंह मिलता है, परन्तु पुत्रों के नाम इतिहास के अनुसार मूलराज और रत्नसिंह ही हैं। जीतसिंह और जैतसिंह में विशेष अन्तर भी नहीं है। इतिहास के अनुसार ही नाटक में भी युद्ध का कारण जीतसिंह के छोटे पुत्र रत्नसिंह द्वारा अलाउद्दीन का ख़ज़ाना लूटा जाना है। ख्यातों के अनुसार ख़ज़ाना मूलराज ने लूटा था।

इस नाटक में अलाउद्दीन के सेनापति और रत्नसिंह की मित्रता आरम्भ से ही लिखी है। इतिहास में ऐसा नहीं है। ख्यातों में मूलराज और कमालुद्दीन की मित्रता की चर्चा है। गहलोत और ख्यात के अनुसार अलाउद्दीन के सेनापति का नाम कमालुद्दीन था, किन्तु टाड के अनुसार उसका नाम महबूब था। प्रेमीजी ने टाड का ही आधार लिया है। रत्नसिंह के पुत्र का नाम नाटक में गिरिसिंह बताया गया है; जब कि कुछ इतिहासकारों ने पुत्रों का नाम धड़सी और कान्हड़ लिखा है। टाड ने रत्नसिंह के पुत्रों का नाम गरसी (Garsi) और कनूर (Kanur) लिखा है। प्रेमीजी ने गरसी को गिरिसिंह कर दिया है। मूलराज की पुत्री 'प्रभा' के नाम के सम्बन्ध में भी इतिहास मौन है। अलबत्ता मूलराज की सन्तान का पता ज़रूर चलता है, ऐसी स्थिति में यह पात्र कल्पित तो नहीं है।

युद्ध के लिए आये हुए दिल्ली के सेनापति महबूब और रत्नसिंह का आरम्भ में गले मिलना और तांडवी का भैयादूज का टीका करना इतिहास से साम्य नहीं रखता; किन्तु लेखक की उद्देश्य-सिद्धि ने इसे सम्भावित घटना बना दिया है। महारावल जीतसिंह द्वारा किले में पत्थरों के टुकड़े इकट्ठे करना और शत्रुओं पर वर्षा करना श्री गहलोत के इतिहास के अनुसार है। उन्होंने लिखा है :—"रावल ने अपने किले में अन्न संचय कर लिया था और परकोटों पर बड़े-बड़े प्रत्थर भी इकट्ठे किये थे, जिनसे आक्रमणकारियों का संहार किया जा सके।" युद्ध का आरम्भ होने पर किसी विश्वासघाती राजपूत द्वारा जीतसिंह को तीर से मारना राजपूत-चरित्र की ऐतिहासिक सच्चाई है; इतिहास-ग्रन्थों में इस घटना का उल्लेख भले ही न किया हो। इस घटना से नाटक में रोचकता भी आई है।

महबूबखाँ के भाई रहमानखाँ का प्रभा तथा गिरिसिंह द्वारा बन्दी होना और मूलराज की पत्नी किरणमयी द्वारा क़ैद, सुरजनसिंह द्वारा विश्वासघात और रहमान को क़ैद से छुड़ाने का षड्यन्त्र, महारावल द्वारा सुरजनसिंह को बन्दी करना इत्यादि बातें ऐतिहासिक भाव-धारा की सचाई तो हैं; किन्तु इतिहास-ग्रन्थों में इनके प्रमाण नहीं मिलते।

मूलराज का राज्याभिषेक भी इतिहास-सम्मत है। हाँ, इसमें समय की दूरी का हेर-फेर अवश्य किया गया है। रहमान और सुरजनसिंह का बन्दीगृह से भागना,

प्रभा का तीर से एक को मार गिराना, महबूब की पुत्री अख़्तरी और रत्नसिंह के पुत्र गिरिसिंह का प्रेम भी कल्पना मात्र है। घमासान लड़ाई के बावजूद जब गढ़ नहीं जीता जा सका तो अलाउद्दीन उस वीर जाति से मित्रता करने का विचार करता है, परन्तु महबूबखाँ का भाई रहमान अलाउद्दीन से यह कहकर कि जैसलमेर तो बुझता हुआ चिराग़ है, आप उसकी अन्तिम लौ को देखकर विस्मित न हों, उसका जीवन समाप्त हो चुका है। इस दीप का तैल व्यतीत हो गया है। फिर उत्साह देता है और युद्ध के लिए उद्यत करता है। नाटक की यह घटना भी थोड़े हेर-फेर के साथ ऐतिहासिक ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि इतिहास के अनुसार अलाउद्दीन तो चित्तौड़ की तरफ़ गया था। जैसलमेर के युद्ध पर महबूबखाँ और अलीखाँ को भेजा गया था। श्री जगदीशसिंह गहलोत के अनुसार क़िले के अन्दर की दशा रहमान ने नहीं, जाति-द्रोही भीमदेव भाटी ने बताई थी। कोई आश्चर्य नहीं कि इसी देश-द्रोही ने युद्ध-सामग्री और खाद्य-पदार्थों में आग लगाई हो। जान पड़ता है कि प्रेमीजी ने संभावना और इतिहास का मेल करने के विचार से ही घटना-चक्र बदल दिया है।

नाटक के अन्त की घटनाएँ भी ऐतिहासिक हैं। कल्पना केवल वहीं है, जहाँ मित्रता के सिद्धान्त का और राजनैतिक चालों का प्रतिपादन किया है।

नाटक के काल्पनिक पात्र ताण्डवी और महाकाल अपने गीतों और सम्वादों से युद्ध को सजीवता देते हैं। प्रभा और गिरिसिंह का भाई-बहिन का मधुर स्नेह दर्शकों को प्रभावित करता है। अख़्तरी और गिरिसिंह का प्रणय युद्ध के भयानक वातावरण में लीन पाठकों के मस्तिष्क की एकरसता भंग करता है। लेखक इस घटना द्वारा दिखाना चाहता है कि यदि मानव में एक ओर युद्ध में भयंकर ताण्डव करने की कठोर भावनाएँ व्याप्त हैं तो उसीमें किसीसे प्रेम करने की कोमल भावनाएँ भी हैं। कल्पना का यह सामंजस्य ऐतिहासिक घटनाओं की नीरसता को दूर कर रचना को सरस बनाता है।

'विषपान' की भूमिका में प्रेमीजी लिखते हैं :—'मेवाड़ की राजकुमारी कृष्णा का विषपान बलिदान राजस्थान के इतिहास की अत्यन्त करुणाजनक घटना है। वह समय था जब राजपूत राजवंश वंशाभिमान के उन्माद में देश के राजनीतिक भविष्य को भूल गये थे। छोटी-छोटी बातों पर ये लोग लाखों-करोड़ों रुपये और हज़ारों मस्तक लुटा देते थे। यही धन-जन देश को शक्तिमान् बनाने में व्यय होता तो ज़माने का नक़्शा ही बदल जाता। राजपूतों की जिस नासमझ उन्मत्तता ने कृष्णा को विषपान करने के लिए बाध्य किया वही अनेक रूपों में देश के पतन का भी कारण हुई। इसने अपने हाथों से अपने देश की स्वाधीनता को जहर पिला दिया।' स्पष्ट है कि नाटक की कथा का आधार विषपान की घटना है। कथानक में महाराज मानसिंह और महाराज जगतसिंह का भीमसिंह की पुत्री कृष्णा के लिए पारस्परिक मनमुटाव

ऐतिहासिक घटना है । जोधपुर के महाराज मानसिंह और जयपुर के महाराज जगतसिंह का आपस का सम्बन्ध कृष्णाकुमारी के टीकेवाली घटना से ही बिगड़ गया था और अन्त में इसी मनमुटाव के कारण अनेक युद्ध हुए । खोज से तथा पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ, डा० ईश्वरीप्रसाद, श्री जगदीशसिंह गहलोत और कर्नल टाड के इतिहासों से इसकी पुष्टि होती है । राजकुमारी कृष्णा के विवाह का आर्थिक-संकट भी इतिहास-सम्मत है ।

विषपान की मूल घटनाएँ इतिहास से ली गई हैं । टाड व राजस्थान में लिखा है—मेवाड़ की ऐसी दुर्दशा थी ही, उधर महाराणा को घरेलू मामलों से भी दुःख हुआ । उनकी पुत्री कृष्णाकुमारी के विवाह के लिए जोधपुर और जयपुर के नरेशों में झगड़ा चला । अन्त में इस झगड़े को निपटाने के लिए अमीरखाँ के आग्रह से महाराणा ने कृष्णाकुमारी को ज़हर देकर मरवा डाला । ऐतिहासिक घटना को नाटकीय रोचकता और कौतूहल प्रदान करने के लिए लेखक ने जवानदास का छलपूर्वक महाराणा से कृष्णाकुमारी की हत्या के लिए लिखवाना तथा अमीरखाँ द्वारा महाराणा को महल में बन्दी करके पहरा देना आदि की सृष्टि की है ।

कृष्णाकुमारी के विवाह का टीका पहले जोधपुर के राणा के पास जाना, उस समय महाराजा मानसिंह के द्वारा भीमसिंह पर आक्रमण और विजय प्राप्त करना, भीमसिंह की मृत्यु के पश्चात् कृष्णाकुमारी का टीका जयपुर के महाराजा जगतसिंह के पास जाना, मानसिंह द्वारा उसका विरोध और अमीरखाँ से षड्यंत्र ऐतिहासिक घटनाएँ हैं । कलुआ, राधा, रमा आदि पात्र कल्पित हैं । चरित्र-चित्रण, सरसता, मनोरंजन और देश-दशा का चित्रण करने के लिए इनकी सृष्टि की गई है ।

'उद्धार' भी ऐतिहासिक नाटक है । मनुष्य की लम्पटता और स्वार्थ-परता ने चित्तौड़-दुर्ग का विध्वंस किया, अपनी आन-रक्षा के लिए राजपूत वीरों ने केसरिया बाना पहनकर रण-भूमि में प्राण दिए और वीरांगना पद्मिनी ने अन्य वीरांगनाओं सहित जौहर की ज्वाला में प्रवेश किया । इस अमर साके में सिसौदिया राजवंश के सभी प्राणी काम आ गए—शेष रहे महाराणा लाखा के द्वितीय पुत्र अजयसिंह जिन्हें मेवाड़ का पुनः उद्धार करने के लिए जीवित रहने दिया गया था और युवराज अरिसिंह का नवजात शिशु 'हमीर' जो एक झोंपड़ी में अपनी माँ की गोद में पल रहा था । यही हमीर 'उद्धार' का नायक है । किस प्रकार हमीर ने जन-नायक बनकर मेवाड़ को स्वाधीन बनाया, यही इस नाटक का विषय है ।

हमीर सिसौदिया सामन्त अरिसिंह के पुत्र थे । श्री गहलोत ने अपने ग्रन्थ में लिखा है—'अरिसिंह चित्तौड़ की लड़ाई में काम आये और उनके छोटे भाई अजयसिंह घायल हुए । जब अजयसिंह को पता लगा कि अरिसिंह का पुत्र हमीर अपनी ननिहाल में विद्यमान है तो उन्होंने उसे अपने पास बुलवा लिया और उसकी शूरवीरता देखकर

अपना उत्तराधिकारी बनाया। नाटक का आरम्भ इसी ऐतिहासिक आधार पर है। आगे की कथा में थोड़ा परिवर्तन है। लेखक ने किशोरावस्था में हमीर का एक गाँव में रहना इसलिए दिखाया है कि वह एक सफल जन-नायक बन सके। हमीर की बीसवीं वर्षगाँठ पर उसके चाचा अजयसिंह उन्हें युवराज-पद उपहारस्वरूप प्रदान करते हैं। यह परिवर्तन भी लेखक ने अपनी कल्पना के अनुसार किया है।

हमीर का वीर और साहसी चरित्र इतिहास के अनुसार ही है। मेवाड़ का महाराव मालदेव भी ऐतिहासिक पात्र है। गहलोत के अनुसार मालदेव को सुल्तान या मंत्रियों ने चित्तौड़ दिया। डा० ईश्वरीप्रसाद के अनुसार भी सुल्तान ने मालदेव को चित्तौड़ का महाराव बनाया। प्रेमीजी ने टाड का अधिक आधार लिया है। कमला को उन्होंने टाड के अनुसार ही विधवा दिखाया है। गहलोत आदि इससे सहमत नहीं हैं। कमला का अपने पिता मालदेव के यहाँ जाने के सम्बन्ध में गहलोत ने लिखा है—'जब इस सम्बन्ध से हमीर सिसौदिया के पुत्र हुआ तब मालदेव की पुत्री ने कुल-देवता की मानता के बहाने चित्तौड़ में प्रवेश किया और वहाँ क़िले के द्वारपालों को अपनी ओर मिला लिया। हमीर भी सूचना मिलने पर सेना के साथ चित्तौड़गढ़ पहुँच गया और उसने सहज ही क़िले पर अधिकार कर लिया।' डा० ईश्वरीप्रसाद ने भी चित्तौड़ को जीतने में हमीर का ही षड्यंत्र बताया है। इस समय हमीर को बन्दी बनाने के लिए मालदेव ने कोई षड्यंत्र नहीं किया था। कमला और हमीर को निर्दोष बताकर लेखक ने उनके चरित्रों को ऊँचा उठाया है। पुत्री का अपने पिता से विद्रोह, चाहे वह बागी ही क्यों न हो, स्वाभाविक नहीं जान पड़ता। इसलिए नाटककार ने इस घटना को रँगने में अपनी कल्पना का आधार लिया है और मालदेव की ही दुष्टता और षड्यंत्र दिखाया है जिसके लिए उन्हें 'टाड' के वर्णन से सहायता मिली है।

लेखक ने कमला का अपने पुत्र के साथ चित्तौड़ जाने का उद्देश्य यह बताया है कि हो सकता था कि अपने पौत्र का मुख देखकर मालदेव मुसलमानों का साथ छोड़ दे और हमीर का साथ दे, लेकिन इतिहास में उसका उल्लेख नहीं है। कमला तो अपने पिता मालदेव के विरुद्ध षड्यंत्र करने वहाँ गई थी। मालदेव की पुत्री ने कुल-देवता की मानता के बहाने चित्तौड़ में प्रवेश किया था। दलपति, दुर्गा आदि पात्रों की कल्पना राष्ट्रीय भावना के लिए की गई है। जाल और सुधीरा भी कुछ लोगों को कल्पित पात्र जान पड़ेंगे लेकिन जाल का उल्लेख टाड ने किया है। सुधीरा हमीर की माँ का नाम कल्पित ही है—प्रेमीजी को ऐसा इसलिए करना पड़ा कि इतिहास हमीर की माँ के नाम के सम्बन्ध में मौन है, यद्यपि हमीर की माँ जब कुमारी थी उस समय अरिसिंह के उस पर मोहित होने की कथा इतिहास में मिलती है।

'शपथ'—ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नाटक है। इसकी ऐतिहासिक

प्रामाणिकता के लिए लेखक का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—'दशपुर (मध्यभारत-स्थित वर्तमान मंदसोर) में आज भी एक प्रस्तर-स्तंभ पड़ा हुआ है, जिस पर लिखा हुआ है—उसने उन प्रदेशों को भी जीता, जिन पर गुप्त सम्राटों का आधिपत्य नहीं था और न ही जहाँ राजाओं के मुकुटों को ध्वस्त करनेवाली हूणों की आज्ञा ही प्रवेश कर पाई थी। लौहित्य से लेकर महेन्द्र पर्वत तक और गंगा से—स्पष्ट हिमालय से—लेकर पश्चिम पयोधि तक के प्रदेशों के सामंत उसके चरणों पर लोटते थे। मिहिरकुल ने भी जिसने भगवान् शिव के अतिरिक्त और किसी के सामने सिर नहीं नवाया, अपने मुकुट के पुष्पों द्वारा युगल चरणों की अर्चना की।

यह प्रशस्ति वत्स भट्ट नामक कवि ने 'शपथ' के नायक यशोधर्मन के सम्बन्ध में लिखी है। यशोधर्मन का मूल नाम विष्णुवर्धन था। उसके कहीं के वंशानुगत राजा होने का इतिहास में कोई प्रमाण नहीं है। वह साधारण व्यक्ति था, किन्तु उसने जनमत को उत्तेजित कर एक सफल सशस्त्र राजनीतिक क्रान्ति की। यही इस नाटक का प्रधान विषय है।

हूणों के समय आतंककारिणी, दुर्धर्ष शक्ति संसार के इतिहास में दूसरी नहीं हुई। इन्होंने सारे यूरोप को रौंद डाला था और जब अपना मुख भारत की ओर फेरा तो इन्हें शक्तिशाली गुप्त साम्राज्य से टक्कर लेनी पड़ी। महान् पराक्रमी सम्राट् स्कन्दगुप्त जीवनभर हूणों के टिड्डी दल को भारत में न घुसने देने का प्रयास करता रहा, इसी प्रयास में उसने वीर-गति पाई। स्कन्दगुप्त के पश्चात् कोई प्रबल व्यक्ति न हुआ जो हूण-शक्ति के तूफ़ान के सामने खड़ा होता। हूणों ने, जो भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रदेश से ही टकरा-टकराकर रह जाते थे, अग्रसर होकर मालवा प्रदेश तक अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। गुप्त साम्राज्य अंतिम श्वास ले रहा था। भारत के अन्य राजा अपने-अपने प्रदेशों में मुँह छिपाये बैठे थे, उन्हें यह नहीं सूझता था कि अपने शत्रु को संगठित होकर पराजित कर भारत से निकाला जाय—तब जनता में से एक वीर प्राण खड़ा होकर विश्व-विजयी हूणों की शक्ति को धूल में मिलाकर देश को स्वतंत्र करता है।

नाटक में भारतीय इतिहास के आधार पर भारतीयों के उन गुणों और संस्कारों का उल्लेख है, जिनके कारण भारत तेजस्वी वीर और बलवान् बना तो उन निर्बलताओं और त्रुटियों का भी—जिनके कारण भारत को अनेक बार विदेशी शक्तियों से पराजित होना पड़ा। इस प्रकार पात्रों के चरित्र, गुण और संस्कारों की संरक्षा करता हुआ यह नाटक भी ऐतिहासिक तथ्यों से पूर्ण है।

'भग्न प्राचीर' में लेखक ने मेवाड़ के इतिहास-प्रसिद्ध महाराणा संग्रामसिंह के यशस्वी जीवन के उस अन्तिम परिच्छेद को चित्रित किया है, जिसमें वे

राजपूत शक्तियों का संगठन कर बाबर से संघर्ष करते हैं । सीकरी के युद्ध में वे हार जाते हैं, फिर भी युद्ध के लिए तैयार रहते हैं । अन्त में युद्ध से ऊवे हुए उनके ही सामन्त विष देकर उनका प्राणान्त कर देते हैं ।

नाटक में इतिहास को पूरा संरक्षण मिला है । सभी प्रमुख घटनाएँ इतिहास-सम्मत हैं । भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा पर बाबर का आक्रमण, दिल्ली के बादशाह इब्राहीम लोदी के विरुद्ध लाहौर के सूबेदार दौलतखाँ लोदी तथा इब्राहीम लोदी के चाचा अलाउद्दीन लोदी का बाबर का सहायक होना, बाबर के हाथों इब्राहीम लोदी का हारना, राजपूत राजाओं और पश्चिमी अफ़ग़ानों के सरदार हसनखाँ मेवाती तथा पूर्वी अफ़ग़ानों के सरदार बहारखाँ लोहानी, जिसने अपने-आपको सुलतान मुहम्मदखाँ के नाम से प्रसिद्ध कर लिया था, का इब्राहीम लोदी का साथ न देना, एक मास तक बाबर द्वारा महाराणा साँगा को सन्धि-चर्चा में उलझाये रखना और इस बीच अपनी शक्ति को सुदृढ़ बनाना, खानवा के युद्ध से पूर्व एक छोटी-सी सैनिक मुठभेड़ में बाबर की मुसलमान सेना का हारना और इससे बाबर की सेना में भारी त्रास और आतंक फैलना, उनका राजपूत सेना से युद्ध करने के लिए मना करना, बाबर की नैतिकता का चित्रण, राणा साँगा-सम्बन्धी घटना, शीलादित्य का युद्ध में विश्वासघात करना, विष द्वारा संग्रामसिंह का प्राणान्त होना आदि सभी घटनाएँ इतिहास से मेल खाती हैं ।

ऐतिहासिक तथा और घटनाएँ ही नहीं; नाटक के पात्र भी पूर्णतया ऐतिहासिक हैं । महाराणा संग्रामसिंह, बाबर, भोजराज, कर्मवती, मीरा, उज्ज्वलसिंह, मेदिनीराय, शीलादित्य आदि नामों से देश का मध्यकालीन इतिहास भलीभाँति परिचित है । पात्रों के चरित्र, व्यक्तित्त्व और क्रिया-कलाप से ऐतिहासिक मर्यादा की रक्षा हुई है ।

कल्पना का भी समुचित आश्रय लिया गया है । ऐतिहासिक सचाई के अनुसार महाराणा संग्रामसिंह ने बाबर को दिल्ली के पठान बादशाह पर आक्रमण करने के लिए निमंत्रित किया, लेकिन प्रेमीजी ने इस तथ्य को छिपाया है । इससे वे संग्रामसिंह के आदर्श चरित्र को प्रस्तुत कर सके हैं । मुहम्मदखाँ लोदी का चरित्र राष्ट्र-प्रेम और हिन्दू-मुस्लिम एकता की दृष्टि से कल्पना पर आश्रित है । शीलादित्य के हाथों उज्ज्वलसिंह झाला का प्राणान्त भी कल्पित है । राजपूत सरदारों के परस्परिक वैमनस्य और उसके दुष्परिणाम को प्रकट करने के लिए ही लेखक ने यह कल्पना की है । इस कल्पना के लिए उनके पास पर्याप्त आधार भी है, क्योंकि इतिहास कहता है कि उज्ज्वलसिंह झाला बाबर और संग्रामसिंह में हुए इस युद्ध में मारे गये थे और शीलादित्य ने इस समय विश्वासघात किया था ।

'प्रकाश-स्तम्भ' वाप्पा रावल के प्रारंभिक जीवन पर आधारित

ऐतिहासिक नाटक है बाप्पा रावल के जीवन के साथ अनेक दैवी और चमत्कारिक घटनाएँ जुड़ी हैं, जिनको इस बुद्धिवादी युग में कोई मानने को तैयार नहीं होगा। लेखक ने उन घटनाओं को नाटक में नहीं आने दिया है। नाटक का आधार टाड का राजस्थान है। प्रेमीजी ने लिखा है—'बाप्पा के जीवन की नागदा के सोलंकी राजा की पुत्री से विवाह का खेल खेलने की घटना वर्षों पहले मैंने टाड राजस्थान में पढ़ी थी। मुझे घटना नाटकीय लगी और उसी घटना से मैंने नाटक का प्रारम्भ कर डाला।'

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार और श्री भगवतशरण उपाध्याय के इतिहास-ग्रन्थों से भी लेखक ने सहायता ली है। 'हमारा राजस्थान' नामक ग्रन्थ में लिखा है 'चित्तौड़ पर हुए एक अरब आक्रमण में इसी मान मोरी ने राज्य की रक्षा करने में कमज़ोरी दिखाई, जिस पर उसके सरदार नागदा के गुहिल-पुत्र बाप्पा (कालभोज) ने ७२८ ई० के करीब चित्तौड़ का दुर्ग उससे छीन लिया था।' इसी घटना के सहारे नाटक का कथानक आगे बढ़ा है। इसी ग्रन्थ से यह भी सिद्ध होता है कि बाप्पा रावल स्वयं राजा नहीं था, लेकिन अरबों की बाढ़ को रोकने के लिए उसे दुर्बल राजा से राज्य छीनना पड़ा। नाटक में इसी घटना का आधार लेकर बाप्पा सम्बन्धी घटनाएँ अंकित हैं। वाप्पा के विवाह की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में लेखक ने कहा है—'बाप्पा का विवाह आक्रमणकारी अरबों के एक सेनापति की कन्या से हुआ, यह घटना भी मेरे मस्तिष्क की कल्पना नहीं है। टाड ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।'

नाटक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के लिए लेखक का कथन है—'नाटक के चरित्रों के कथोपकथन में अनेक ऐतिहासिक घटनाओं और तथ्यों का उल्लेख मैंने किया है, जिन्हें श्री जयचन्द विद्यालंकार एवं श्री भगवतशरण उपाध्याय की इतिहास पर लिखी पुस्तकों से मैंने प्राप्त किया है।' इस प्रकार नाटक का वातावरण इतिहास की छाया में ही प्रस्तुत किया गया है।

'कीर्ति-स्तम्भ' का आधार मेवाड़ के इतिहास में महाराणा रायमल के पुत्रों में मुकुट-मोह के कारण हुआ गृह-कलह है। मेवाड़ के इतिहास में महाराणा कुंभा के काल में मेवाड़ राज्य की कीर्ति और शक्ति उत्कर्ष की चरमसीमा पर पहुँच गई थी। कुंभा ने अनेक बार मालवा के सुलतान और गुजरात के बादशाह को पराजित किया एवम् दिल्ली की लोदी सल्तनत का भी गर्व चूर्ण किया। कुंभा केवल तलवार के ही धनी नहीं थे, अपितु उन्होंने अपने राज्यकाल में साहित्य एवम् ललितकलाओं की अति वृद्धि भी की। ऐसे गुणी, वीर पुरुष, सुशासक, कला-प्रेमी का प्राणान्त मुकुट के मोह में विवेक और मनुष्यता को खो देनेवाले अपने ज्येष्ठ पुत्र ऊदाजी (उदयसिंह) द्वारा हुआ। इस घटना के बाद मेवाड़ के राजघराने में कलह का तांडव प्रारम्भ हुआ, जिसने मेवाड़ राजवंश के उज्ज्वल यश को धब्बा तो लगाया

ही, साथ ही मेवाड़ राज्य का विस्तार कम कर दिया, उसके हाथ से राजपूतों का नेतृत्व भी छिनवा दिया। महाराणा रायमल के ज्येष्ठ पुत्र संग्रामसिंह (राणा सांगा) की दूरदर्शिता, त्याग, वीरता एवम् साहस ने इस अन्तःकलह की ज्वाला को शान्त कर दिया और मेवाड़ के गत गौरव को पुनः प्राप्त ही नहीं किया बल्कि उसे भारत का सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य बना दिया।

महाराणा कुंभा के ज्येष्ठ पुत्र ऊदाजी ने पिता की हत्या कर मेवाड़ का राजमुकुट अपने मस्तक पर धारण किया था। तब हत्यारे के अनुज रायमल सामन्तों एवं प्रजा के सहयोग से अपने अग्रज को परास्त कर मेवाड़ के महाराणा बने। ऊदाजी शांत होनेवाले जीव न थे, वह दिल्ली के लोदी बादशाह की शरण में गये और अपनी पुत्री का विवाह उससे करने का वचन देकर, सहायता प्राप्त की। ऊदाजी की पुत्री ज्वाला एवम् पुत्र सूरजमल को अपने पिता का यह कार्य पसन्द नहीं आया और उन्होंने पिता के विरुद्ध रायमल का साथ दिया। दिल्ली की सेना पराजित हुई और ऊदाजी के जीवन का भी अन्त हो गया। मेवाड़ के राजकुल का सम्मान रखने के लिए पिता से भी विद्रोह करनेवाले सूरजमल के हृदय में भी मेवाड़ के राजमुकुट का मोह जागा और महाराणा रायमल के तीनों पुत्रों—संग्रामसिंह, पृथ्वीराज और जयमल में भी युवराज-पद पाने के लिए प्रतिस्पर्धा आरम्भ हुई। इस अन्तःकलह ने भीषण रूप धारण किया।' इसी अन्तःकलह का चित्रण नाटक में हुआ है।

नाटक की सभी घटनाएँ और प्रमुख पात्र पूर्णतया ऐतिहासिक हैं। टाड के राजस्थान से इस नाटक की घटनाएँ मेल खाती हैं। किन्तु प्रेमीजी ने अपनी कल्पना की कूची से इतिहास को और भी उभार कर रखने की चेष्टा की है। सूरजमल को टाड ने संग्रामसिंह का चाचा (काकाजी) लिखा है, एक स्थान पर ऊदाजी का पुत्र भी लिखा है। प्रेमीजी ने नाटकीय सुविधा के लिए उसे ऊदा का पुत्र मान लिया है।

यमुना, तारा, राव सूरतान, लाल पठान, राजयोगी, सेठ कर्मचन्द प्रेमीजी की अपनी सृष्टि जान पड़ते हैं, लेकिन यमुना को छोड़कर शेष सभी पात्रों का उल्लेख इतिहास में कहीं-न-कहीं मिलता है; यह विविध इतिहासों को गंभीरता से पढ़ने पर पर ही ज्ञात हो सकता है। यमुना और ज्वाला से सम्बन्धित नदी-तट पर हुई घटना कल्पित होते हुए भी ज्वाला के सम्बन्ध से संभावित अवश्य है। यमुना का सिरोही नरेश के दरबार में जाना तथा सिरोही नरेश के द्वारा अन्त में आत्म-हत्या करना भी कल्पित घटनाएँ हैं। लेकिन लेखक ने सभी घटनाओं और पात्रों का ऐतिहासिक घटनाओं और पात्रों से ऐसा सम्पर्क स्थापित किया है कि कल्पना-सी नहीं जान पड़ती।

वीरता, साहस, निर्भयता, त्याग और देश-प्रेम की उदात्त भावनाओं के साथ राजपूतों की अदूरदर्शिता, पारस्परिक वैमनस्य, मुकुट के प्रति मोह की नैतिकताहीन बुराइयों का चित्रण ऐतिहासिक आधार पर ही किया गया है। इन भावनाओं के अंकन ने नाटक की कथावस्तु को और भी अधिक प्रामाणिकता प्रदान की है।

राजपूतों का इतिहास शक्ति और दुर्बलता का दर्पण है। 'कीर्तिस्तंभ' में इस दर्पण को ज्यों-का-त्यों रख दिया गया है। तत्कालीन व्यक्तिगत, राजनैतिक और सामाजिक दुर्बलताओं के यथार्थ चित्रण में यह नाटक ऐतिहासिकता की रक्षा करता है।

'संरक्षक' भारत के अंग्रेज़ी काल के इतिहास का एक पृष्ठ है। इसमें उस समय की झाँकी अंकित की गई है, जब अंग्रेज़ भारत में अपने राज्य का विस्तार कर रहे थे। नाटक की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि के लिए प्रारम्भिक निवेदन में प्रेमीजी ने कहा है:—

'राजस्थान के हाड़ौती प्रदेश में हाड़ा राजपूतों के आधीन कोटा राज्य आन्तरिक संघर्षों में लीन था। ज़ालिमसिंह नाम का झाला राजपूत महाराव उम्मीदसिंह का मामा था और उम्मीदसिंह के पिता इस संसार से विदा लेते समय उसे उम्मीदसिंह का संरक्षक बना गये थे। महाराव उम्मीदसिंह का भी ज़ालिमसिंह के जीवित रहते स्वर्गवास हो गया था, किन्तु उनके स्वर्गवास के समय युवराज किशोरसिंह प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हो चुके थे। ज़ालिमसिंह और उनका ज्येष्ठ पुत्र माधोसिंह चाहते थे कि संरक्षक का पद वंशानुगत झाला वंश में रहे और महाराव नाममात्र के राजा रहें, वास्तविक सत्ता ज़ालिमसिंह और उनके पश्चात् उनके पुत्र माधोसिंह के हाथ में रहे।

किशोरसिंह जब महाराव हुए तो उन्होंने पूर्ण सत्ता अपने हाथ में लेनी चाही। ज़ालिमसिंह का दासी-पुत्र गोवर्धन जो माधोसिंह से अधिक योग्य और महत्वाकांक्षी था, इस विषय में महाराव का समर्थक था। महाराव के छोटे भाई राजकुमार पृथ्वीसिंह भी हाड़ा-राजगद्दी पर झालाओं के आतंक को समाप्त कर देने को लालायित थे। इस प्रकार कोटा राज्य में गृह-संघर्ष चालू था।

उस समय अंग्रेज़ों ने भारतीय राज्यों में संरक्षक सेना रखने के लिए संधियाँ करने की नीति चालू कर रखी थी। ज़ालिमसिंह ने अंग्रेज़ों को अपना मित्र बनाकर अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना उचित समझा और महाराव उम्मीदसिंह को ऊँच-नीच समझा कर अंग्रेज़ों से सन्धि करने के लिए तैयार किया। जिस सन्धि-पत्र पर महाराव ने २६ दिसम्बर १९१७ के दिन हस्ताक्षर किये उसमें अनेक शर्तें थीं। इस सन्धि-पत्र में ज़ालिमसिंह और माधोसिंह के लिए संरक्षक का पद प्राप्त होगा और उन्हें राज्य का शासन चलाने का अधिकार होगा, ऐसी कोई शर्त नहीं थी। बाद में अंग्रेज़ों ने चाहा कि इस सन्धि-पत्र में यह शर्त भी रहे किन्तु इस शर्तवाले सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर

होने के पहले महाराव उम्मीदसिंह का देहान्त हो गया। उनके उत्तराधिकारी महाराव किशोरसिंह ने इसे स्वीकार करने से इंकार किया तथा सन्धि-पत्र की दसवीं धारा के अनुसार अपने राज्य में पूर्ण प्रभुसत्ता प्राप्त करने की उन्होंने माँग की। अंग्रेज़ों ने ज़ालिमसिंह और माधोसिंह का पक्ष लिया। किस प्रकार कोटा के हाड़ाओं ने इस सम्बन्ध में अंग्रेज़ों से वीरतापूर्वक संघर्ष किया, यह इस नाटक में चित्रित है। स्पष्ट है कि नाटक पूर्णतया ऐतिहासिक है।

पात्रों और घटनाओं के सम्बन्ध में कल्पना का आश्रय प्रायः नहीं के ही बराबर लिया गया है।

'विदा' का कथानक देश में राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के प्रयत्नों में आंशिक सफलता प्राप्त करनेवाले शाहज़ादा अकबर से सम्बन्धित है। यह एक ऐतिहासिक सचाई है कि सम्राट अकबर महान् ने इस बात को अनुभव किया था कि देश की सब जातियों और धर्मों में सद्भावना स्थापित किए बिना देश में कोई शासन सुस्थिर नहीं रह सकता, न यहाँ सुख-शांति स्थापित हो सकती है। शासन में देश के सभी लोगों को साझीदार बनाना आवश्यक है—कोई जाति या धर्म यहाँ प्रभु और शासक बनकर नहीं रह सकता। सम्राट् अकबर की नीति को आशातीत सफलता प्राप्त हुई—राजपूतों ने आदरणीय व्यवहार पाकर मुग़ल-शासन के विस्तार में सहयोग दिया। देश में शांति क़ायम होने से कलाओं और व्यापार-व्यवसाय की वृद्धि हुई। सम्राट् अकबर की इस नीति को औरंगज़ेब ने उलट दिया। उसने राजसत्ता को इसलाम धर्म को फैलाने का साधन बनाया और हिन्दू धर्म पर खुले आघात किये—जिसकी पराकाष्ठा 'जज़िया' लगाना था। इस कर के विरुद्ध शिवाजी और मेवाड़ के महाराणा राजसिंह ने औरंगज़ेब को ज़ोरदार पत्र लिखे—किन्तु उसने किसी की चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया।

औरंगज़ेब की नीति ने सारे देश में बेचैनी की लहरें उठा दी थीं। पंजाब में सिख, दक्षिण में मराठे, राजस्थान में राजपूत, ब्रज में जाट और सतनामी, विन्ध्य प्रदेश में बुन्देले, इस प्रकार सारे ही भारत में औरंगज़ेब के विरुद्ध भावनाएँ भड़क उठी थीं। औरंगज़ेब के सगे-सम्बन्धी भी इस बात को अनुभव करने लगे थे कि उसकी आक्रामक नीति के कारण भले ही मुग़ल-साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार हो रहा है, लेकिन वह भीतर से खोखला होता जा रहा है। किन्तु औरंगज़ेब के व्यक्तिव का ऐसा आतंक था कि कोई भी व्यक्ति उससे प्रभावशाली ढंग से यह बात कह न पाता था। ऐसे समय में औरंगज़ेब की पुत्री ज़ेबुन्निसा और पुत्र मुहम्मद अकबर ने उसके विरुद्ध विद्रोह की आवाज़ उठाई। पहले उन्होंने राजपूतों को अपने साथ मिलाया—फिर मराठों का भी सहयोग लेने का यत्न किया और यदि राजपूतों का और मराठों के पारस्परिक सहयोग और विश्वास का कोई मार्ग बन जाता तो निश्चय ही शाहज़ादा अकबर सफल हो जाता

और हिन्दू-मुसलमानों के बीच पड़ी हुई दरार संभवतः पट जाती। प्रस्तुत नाटक शाह-जादा अकबर के इस प्रयास का ही चित्रण है। डाक्टर ईश्वरीप्रसाद, एस० आर० शर्मा, श्री सरकार और मनूची आदि के इतिहास-ग्रन्थों से इस परिस्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

'संवत् प्रवर्त्तन' शकारि विक्रमादित्य के सम्बन्ध में लिखा गया ऐतिहासिक नाटक है। इस नाटक के लिखने में लेखक को प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री जायसवाल, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, श्री हरिहरनिवास द्विवेदी (मध्यभारत के इतिहास के लेखक) आदि के इतिहास-ग्रन्थों से भारी सहायता मिली है। विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ और नासिक के लेखों से भी सहायता ली गई है। इस प्रकार नाटक को हर प्रकार से ऐतिहासिक बनाने का प्रयत्न किया गया है। जैन-साहित्य में अधिकांशतः इतिहास की सामग्री मिलती है। प्रेमीजी ने जैन-साहित्य को भी आधार माना है।

शकारि विक्रमादित्य के सम्बन्ध में जैन-साहित्य में उपलब्ध आचार्य कालक की कथा उज्जयिनी के नरेश गर्दभिल्लदर्पण का उल्लेख करती है। गर्दभिल्लदर्पण ने आचार्य कालक की रूपवती युवती भगिनी को बलात् उठा लिया था। इसी कारण क्रोधित होकर कालक शकों को गर्दभिल्लदर्पण से बदला लेने के लिए भारत पर चढ़ा लाये थे। इस कथा के अनुसार गर्दभिल्लदर्पण के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से मालव प्रदेश को मुक्त किया। नाटक की आधारभूत सामग्री यही है। श्री जायसवाल और विद्यालंकार इस कथा में मतभेद रखते हैं, इस पर अपने तर्क देते हुए प्रेमीजी ने नाटक के आत्म-निवेदन में जो विचार प्रकट किए हैं, वे इस नाटक की ऐतिहासिकता पर गंभीर प्रकाश डालते हैं। उन्होंने लिखा है :—'जायसवाल जी एवं जयचन्द्रजी यह तो मानते हैं कि उज्जयिनी का नरेश गर्दभिल्लदर्पण था। यह भी मानते हैं कि आचार्य कालक शकों को भारत में लाए लेकिन यह नहीं मानते कि गर्दभिल्लदर्पण के पुत्र विक्रमादित्य ने मालव प्रदेश को शकों से मुक्त किया। आचार्य कालक सम्बन्धी आधी कथा को मानना और आधी को न मानना मेरी सम्मति में उचित नहीं है।'

आगे चलकर प्रेमीजी लिखते हैं—'इन इतिहासकारों-द्वारा गौतमी-पुत्र सातकर्णि को शकों से भारत को मुक्त करनेवाला मानने का एकमात्र कारण है—नासिक तिरण्डु पर्वत में एक दीवार पर मिला हुआ गौतमी-पुत्र की माँ गौतमी के लेन-देन के सम्बन्ध में एक लेख जिसमें उसने अपने पुत्र को शक, यवन, पल्हवों का निदूषक लिखा है। इसमें लेखक ने कहीं गौतमी-पुत्र सातकर्णि को 'विक्रमादित्य' नहीं लिखा। इस उल्लेख से हम इस निर्णय पर नहीं पहुँच सकते कि कालक कथा में गर्दभिल्ल-दर्पण के पुत्र द्वारा शकों से मालव प्रदेश को मुक्त करने का जो उल्लेख है, वह

मिथ्या है। गर्दभिल्लदर्पण के पुत्र विक्रमादित्य ने केवल मालव प्रदेश से शकों का उच्छेदन किया। उस समय तक शक सौराष्ट्र, मालव और मथुरा तक अपने राज्य का विस्तार कर चुके थे। गर्दभिल्ल-पुत्र विक्रमादित्य ने मालव-प्रदेश से शकों का उच्छेदन किया, किन्तु सौराष्ट्र में तो वे बने ही रहे और इन्ही शकों का संघर्ष बाद में गौतमी-पुत्र से हुआ, जिसमें गौतमी-पुत्र सातकर्णि विजयी हुए। इस तरह आचार्य कालक की कथा भी सही है और गौतमी का लेन-दान का लेख भी।'

नहपाण और उषवदात के ऐतिहासिक होने में भी कोई सन्देह नहीं। उक्त दोनों विद्वानों की शंकाओं का उत्तर देते हुए प्रेमीजी ने लिखा है—'मैंने शकक्षत्रप, भूमक, नहपाण और नहपाण के जामाता उषवदात को गर्दभिल्ल-पुत्र विक्रमादित्य का समकालीन माना है। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने श्री जायसवालजी के मत का अनुमोदन करते हुए नहपाण को उज्जयिनी का शकक्षत्रप माना है, यह भी माना है कि गर्दभिल्ल दर्पण के बाद वह उज्जयिनी का राजा बना था, किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी माना है कि नहपाण का अन्त गौतमी-पुत्र सातकर्णि द्वारा हुआ था। इस अन्तिम निष्कर्ष का कारण भी नासिक वाला लेख है, किन्तु जब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उज्जयिनी के शकों का उच्छेदन गर्दभिल्लदर्पण के पुत्र विक्रमादित्य ने किया और जब यह भी निश्चित है कि गर्दभिल्लदर्पण के बाद उज्जयिनी का क्षत्रप नहपाण था तो हमें यह मानने में संकोच नहीं करना चाहिए कि नहपाण से ही गर्दभिल्लदर्पण के पुत्र विक्रमादित्य ने मालव-प्रदेश का उद्धार किया।

उषवदात नहपाण का जामाता था, इसका उल्लेख नासिक के पास गुहा संख्या १० के बरांडे की दीवार पर छत के नीचे उसके एक लेख से सिद्ध है, जिसमें उसने स्वयं ही अपने-आपको राजा क्षहरात क्षत्रप नहपाण का जामाता लिखा है। उषवदात नहपाण का जामाता भी था और राज-काज में सहायक भी था। उषवदात के लेख में ही एक जगह उल्लेख है—'भट्टारक की आज्ञा पाकर वर्षाऋतु में मालपों (मालवों) द्वारा घेरे हुए उत्तमभाद्र को छुड़ाने आया हूँ।' इससे सिद्ध है कि मालवों के साथ जो संघर्ष शकों का हुआ इसमें उषवदात ने भाग लिया। इसलिए उषवदात को गर्दभिल्लदर्पण के पुत्र विक्रमादित्य का समकालीन मानकर अपने इस नाटक का एक पात्र मैंने बना लिया है।

भर्तृहरि भी ऐतिहासिक पात्र है। भर्तृहरि की भी प्रचलित कथा में ऐसा उल्लेख है कि विक्रमादित्य से पहले वह ही उज्जयिनी पर राज्य करते थे और विक्रमादित्य उनके मंत्री थे। जब भर्तृहरि ने राज्य छोड़ा तब विक्रमादित्य ने राज्य-भार सँभाला। अनुश्रुतियों में विक्रमादित्य के छोटे भाई भर्तृहरि का जहाँ-तहाँ उल्लेख आता है। कहीं-कहीं यह भी उल्लेख आता है कि भर्तृहरि गर्दभिल्लदर्पण की शूद्रादासी के पुत्र थे। इसी आधार पर प्रेमीजी ने भर्तृहरि को दासी-पुत्र और विक्रमादित्य का भाई

माना है। भर्तृहरि और विक्रमादित्य की कथा में विरोध न पैदा हो, इसलिए विक्रम ने उन्हें ही शकों के उच्छेद के पश्चात् मालव-प्रदेश का प्रथम गणपति बनवाया, ऐसी कल्पना नाटककार ने की है।

मलयावती, सेनापति चंद्र और बेताल भी अनुश्रुतियों में आते हैं; इनकी भी ऐतिहासिक सत्ता है। विक्रम को बेताल का बचपन का साथी मान लेना चाहे कल्पना ही हो, किन्तु ऐतिहासिक तथ्य को और भी स्वाभाविक बनाती है।

'साँपों की सृष्टि' मुस्लिमकालीन ऐतिहासिक नाटक है। इस नाटक का सम्बन्ध अलाउद्दीन खिलजी से है। इससे पहले भी प्रेमीजी के नाटक 'आहुति' और 'शतरंज के खिलाड़ी' अलाउद्दीन खिलजी के समय से सम्बन्धित थे। 'साँपों की सृष्टि' नाटक भी अलाउद्दीन खिलजी के जीवन के अन्तिम दिनों को सामने रखकर लिखा गया है। अलाउद्दीन ने अपने चाचा का वध करके दिल्ली का सिंहासन पाया था—उसके पहले जलालुद्दीन ने भी गुलाम वंश के अन्तिम सुलतान से राज्य छीनकर इसी प्रकार दिल्ली की बादशाहत पाई थी। मलिक काफ़ूर ने भी इसी परम्परा का पालन कर दिल्ली के तख्त पर कब्ज़ा करना चाहा और वह इसमें काफ़ी सीमा तक सफल भी हुआ, किन्तु उसकी सफलता अस्थायी रही। यह नाटक इन्हीं घटनाओं को लेकर लिखा गया है, और इसकी अभिव्यक्ति बड़े ही कौशल से की गई है।

इस नाटक में अलाउद्दीन के जीवन के अन्तिम दिनों में हुई घटनाओं का मुख्य रूप से चित्रण है। लेखक ने इस बात को विशेष रूप से उभारा है कि अलाउद्दीन का दाम्पत्य एवम् पारिवारिक जीवन दुःखी था। एक विजेता के रूप में जितना वह सफल था, गृहस्थ के रूप में उतना ही असफल। इस असफलता ने उसके मस्तिष्क को विकृत कर दिया था। नाटक में प्रसंग-वश अलाउद्दीन के जीवन की सभी प्रमुख घटनाएं, भारत की उस समय की राजनीतिक स्थिति, भारतीय समाज की वे दुर्बलताएँ, जिनके कारण विदेशी यहाँ सफलता पा सके और विदेशियों के द्वारा किये गये नृशंस अत्याचारों की झाँकियाँ कहीं-न-कहीं आ ही गई हैं।

विभिन्न पात्रों के मुख से कही गई ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण इस नाटक में इस प्रकार मिलता है।

१. *कमलावती*—जब सुलतान अलाउद्दीन खिलजी की सेना ने गुजरात पर आक्रमण किया था तब वहाँ की राजधानी अन्हिलवाड़ में रक्त की बाढ़ आई थी। रक्त के समुद्र में तुर्क और राजपूत योद्धाओं के शव मगरों की तरह तैर रहे थे।

२. महमूद ग़ज़नवी द्वारा तोड़े गये सोमनाथ के मन्दिर का भारतीयों ने पुनरुद्धार करवा दिया था; किन्तु अलाउद्दीन के धार्मिक उन्माद ने उसे फिर तुड़वाया। सुदूर दक्षिण के चिदम्बरम् मन्दिर को मिट्टी में मिला दिया।

३. गुजरात-नरेश के भाग खड़े होने पर कमलावती अपने देश की रक्षा के लिए युद्ध करती रही। बन्दी बनाई गई और शाही हरम में लाई गई।

४. हज़ार दीनारी मलिक काफ़ूर सम्राट् का सबसे विश्वासपात्र सेनापति था। दक्षिण में उसने देवगिरि के यादव, द्वारसमुद्र के होश्याल, वारंगल के काकतीय और मदुरा के पांड्यों पर विजय पाई, किन्तु दिल्ली के अनेक तुर्क सरदार उससे घृणा करते थे।

५. सुलतान अलाउद्दीन ने देवगिरि का राज्य रामचन्द्रदेव को वापस दे दिया और उसका उपयोग रुद्रप्रतापदेव के विरुद्ध किया। फिर रुद्रप्रतापदेव को जीत कर उसका राज्य वापस कर दिया और उसका वीर बल्लाल के विरुद्ध प्रयोग किया—फिर बल्लाल को जीतकर उसे पांड्यों के विरुद्ध सहायता देने को मजबूर किया।

६. मलिक काफ़ूर कठपुतली सुलतान को गोद में लेकर सिंहासन पर आसीन होकर सरदारों का मनमाना अपमान करने लगा। उसने अनेक सरदारों की सम्पत्ति को छीन कर उन्हें राह का भिखारी बना दिया। अनेक को मरवा डाला। अनेक की आँखें निकलवा दीं। स्वर्गीय सुलतान के जितने भी पुत्र थे उन्हें बन्दी बनाकर या तो उन्हें मरवा दिया या उनकी आँखें निकलवा लीं।

७. सुलतान के एक पुत्र मुबारकशाह को उसने बन्दी बना रखा था। उसकी आँखें निकालने के लिए जब उसने अपने चार आदमियों को भेजा तो मुबारकशाह ने उन्हें काफ़ूर के प्रति विद्रोही बना दिया। इन लोगों ने मुबारकशाह के स्थान पर मलिक काफ़ूर को मौत के घाट उतार दिया।

८. *काफूर*—तीन बार (मलिक काफ़ूर ने) दक्षिण भारत की राज-शक्तियों और धर्माभिमान को पद-मर्दित किया। वहाँ के प्रत्येक राजमहल, मन्दिर और धन-कुबेरों की हवेलियों से अपार धन-सम्पत्ति, जिसमें कोहनूर हीरा भी था, लूटकर सुलतान के राजकोष को समृद्ध बनाया। हजारों भारतीय नारियों को तुर्क सैनिकों की सेवा करने के लिए वितरित कर दिया। हज़ारों बच्चों के सिर धड़ से अलग कर दिये।

९. *अलाउद्दीन*—तलवार चलाने में अलाउद्दीन को कभी ऐतराज़ नहीं रहा। इसने औरतों-बच्चों पर भी दया नहीं की। मेवाड़ में एक दिन में इसकी आज्ञा से तीस हज़ार इन्सानों का, जिनमें बूढ़े, बच्चे, स्त्रियाँ सभी थे, बध किया गया था। केवल भारतवासी ही नहीं, दुनिया में विध्वंस का खेल खेलनेवाले चंगेज़खाँ के वंशज भी इसकी तलवार के आगे पानी माँगते रहे। सीरीमहल की बुर्ज में पत्थरों की जगह आठ हज़ार मुग़लों की खोपड़ियाँ इसने चुनवाईं।

१०. सुलतान की एक बेटी जालौर के राजकुमार विक्रम को चाहने लगी थी और लाख समझाने पर भी वह बाज़ न आई। विक्रम ने विवाह करना स्वीकार नहीं किया। अपने अपमान का बदला लेने के लिए अलाउद्दीन ने जालौर पर चढ़ाई की और विक्रम तथा उसके बाप को मार डाला।

इतिहास की इन घटनाओं को लेखक ने बड़े ही कौशल से नाटक में रखा है। सूच्य वस्तु के उपयोग से अलाउद्दीन के समय की प्रायः सभी मुख्य घटनाएँ रख दी गई हैं। इतने विस्तार से इतिहास का संरक्षण संभवतः दूसरे किसी नाटक में नहीं हुआ। सभी पात्र ऐतिहासिक हैं। माला और सलीमा की कल्पना केवल अलाउद्दीन और कमला के वार्तालाप को व्यक्त करने के लिए की गई है, किन्तु दासियों का ऐतिहासिक अस्तित्व तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। साथ ही इन पात्रों से किसी ऐतिहासिक तथ्य का सीधा सम्बन्ध भी नहीं रखा गया है।

तीन

देशकाल की छाया में वर्तमान का चित्रण

ऐतिहासिक नाटकों की रचना कोई सरल काम नहीं है। ऐतिहासिक नाटककार का कृतित्व केवल इस बात में ही नहीं है कि वह घटनाओं के ब्यौरे सही रूप में रखता चले, घटना-चक्र को इतिहास-सम्मत बनाता चले और पात्रों के नाम-धाम-काम इतिहास-ग्रन्थों के अनुकूल अंकित करता चले; सफलता इस बात में है कि वह जिस काल या काल-खण्ड का, जिस प्रदेश या भू-भाग का चित्रण करता है, वह आँखों के आगे प्रत्यक्ष हो जाय। देशकाल या वातावरण नाटक का आवश्यक तत्त्व है। नाटक तो वास्तविक जीवन का चित्रण प्रस्तुत करता है। देशकाल की ओर ध्यान बनाये रखने से ही नाटक में स्वाभाविकता लाई जा सकती है। देशकाल तथा वातावरण के विपरीत चित्रण से नाटक में अस्वाभाविकता आ जाती है।

देशकाल के चित्रण द्वारा नाटककार हमारे सामने अतीत की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक अवस्थाएँ, रीति-रिवाज, खान-पान, वेश-भूषा आदि का चित्रण करता है। कथानक से सम्बन्धित समय और स्थान की सभ्यता-संस्कृति का सही-सही लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है और जो लेखक देशकाल की मर्यादाओं की रक्षा नहीं कर पाता, उसके दृश्य-विधान, पात्र और चरित्र हास्यास्पद हो जाते हैं। देशकाल नामक तत्त्व की सहायता से लेखक ऐतिहासिक सामग्री का सही अंकन करता है।

लेकिन एक ओर जहाँ वह देशकाल का चित्रण करता है, वहाँ दूसरी ओर ऐतिहासिक सामग्री का प्रयोग कर अपनी कला से ऐसी परिस्थिति का निर्माण करता है, जिसमें कुछ नवीनता भी हो। वह पुरातन में नूतन की संस्थापना करता है और इस प्रकार ऐतिहासिक वातावरण की पृष्ठभूमि में वर्तमान को रखकर भविष्य के लिए दिशा-निर्देश भी करता है। कलाकार चाहे अतीत से सामग्री ले, चाहे कल्पना का सहारा ले, वह हर दशा में युग का प्रतिनिधि तो कहलाता ही है। जो कलाकार अपने समय की परिस्थितियों से आँख मूँदकर केवल अतीत की घटनाओं पर आँसू बहाकर ही अपनी कला की इतिकर्त्तव्यता मानता है, वह लाश को अपने रोदन से जिलाने का मूर्खतापूर्ण प्रयत्न करता है।

'पुरातन और नवीन का स्वस्थ संगम जिस रचना में नहीं होगा, भूत तथा वर्तमान का सामंजस्य जिसमें न होगा, वह हमारे भविष्य का भी निर्माण नहीं कर सकती, यह निर्विवाद है। प्रेमीजी के नाटकों की प्रेरणा है, वर्तमान। वर्तमान का निर्माण ही उनका उद्देश्य है, वर्तमान साध्य है, भूत साधन।' (हिन्दी नाटककार

पृष्ठ १४७) अपने नाटकों की भूमिकाओं में प्रेमीजी ने स्पष्ट घोषणा की है कि "उन्होंने अतीत की सामग्री वर्तमान का चित्रण करने के लिए ही चुनी है।"

प्रेमीजी के नाटकों में जहाँ अतीत का सफल चित्रण हुआ है, वहाँ वर्तमान की मार्मिक अभिव्यक्ति भी हुई है। एक सजग और सच्चे कलाकार की भाँति वे अपने कर्त्तव्य को स्थिरता दे चुके हैं, उनमें उद्देश्य के प्रति भटकन नहीं है। 'शतरंज के खिलाड़ी' की भूमिका में उन्होंने लिखा है :—'इतिहास—हमारा भूत—हमारा बीता हुआ कल हमारे आज की बुनियाद है। इतिहास का महत्त्व भारत ने ठीक-ठीक नहीं समझा और इसीलिए हमारे अतीत के अनेक कीर्ति-स्तंभ पृथ्वी के उदर में समा गए; जो हैं वे धर्म-ग्रन्थ बनकर श्रद्धा के चमत्कार-द्वारा कल्पना के रंग में रँगकर अपनी ऐतिहासिकता को बहुत-कुछ खो चुके हैं। छज्जों के कँगूरे सजानेवाला कलाकार नींव के रोड़ों को व्यर्थ नहीं कह सकता। बिना दृढ़ आधार के हमारा समाज, हमारी संस्कृति, हमारी राष्ट्रीयता और हमारी मानवता खड़ी कैसे रह सकती है! मैं तो अपने राष्ट्र के पैरों को इतिहास का बल देना चाहता हूँ।'

किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि एक उपदेशक या मंच के व्याख्याता नेता की भाँति प्रेमीजी उपदेश करते चले गये हैं। उनके नाटक प्रचार का उद्देश्य लेकर नहीं चले हैं, कला की प्रभावोत्पादकता उनमें है। 'विषपान' की भूमिका में वे कहते हैं :—'प्रचार और कला की सीमा को मैं पहचानता हूँ। यदि साहित्यिक श्रेष्ठ विचार नहीं देता—केवल मनोरंजन की भूख मिटाता है तो उसकी सेवाओं का अधिक मूल्य नहीं है। साहित्यिक की लेखनी की रेखाओं से युग का निर्माण होता है। साहित्य-द्वारा समाज के संस्कार बनते हैं। ललित साहित्य का संस्कृति के निर्माण में बड़ा हाथ है। समाज की विषमताएँ ही तो उनके लिए साहित्य का मसाला देती हैं। ललित साहित्य के द्वारा समाज की जटिल समस्याओं पर प्रकाश पड़ना चाहिए।'

प्रेमीजी का नाटककार आधुनिक सामाजिक दृष्टिकोण से भी परिचालित है। "आधुनिक सामाजिक दृष्टिकोण से परिचालित होने के कारण प्रेमीजी ने अपने नाटकों में सामाजिक समानता की आवश्यकता का भी चित्रण किया है। इस दृष्टि से 'विषपान' में महाराज जगत्सिंह द्वारा वेश्या-विवाह का समर्थन कराकर एवम् राजकुमारी कृष्णा का धीवर से वार्तालाप कराकर उन्होंने इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। उनके नाटकों में राष्ट्र-चिन्तन के पश्चात् समाज-कल्याण से सम्बंधित तत्त्वों के चिन्तन को ही मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। इनके अतिरिक्त उन्होंने कहीं-कहीं अध्यात्म-चिन्तन को भी विकसित होते हुए दिखाया है। चिन्तन के अतिरिक्त अनुभूति-ग्रहण की प्रवृत्ति भी उनके नाटकों की उत्कृष्ट निधि है। इस अनुभूति का सम्बन्ध स्पष्टतः समाज-दर्शन से रहा है।"[1]

---

१. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ; पृष्ठ ७५८

कुशल कलाकार अपने काम की सामग्री चुनने में सदा ही विवेक से काम लिया करते हैं। प्रेमीजी ने भी वर्तमान का चित्रण करने के लिए अनुकूल सामग्री का चुनाव इतिहास के ऐसे पृष्ठों से किया है, जिनको वर्तमान का प्रतिरूप कहा जा सकता है। प्रेमीजी के नाटकों का दर्शन गाँधीवादी दर्शन है। उन्होंने वर्तमान समस्याओं का सुलझाव गाँधी-मार्ग से होकर ही निकाला है। गांधीवादी दर्शन ने देश की जनता को साम्प्रदायिक द्वेष का अन्त कर राष्ट्रीय एकता की ओर अग्रसर किया है। सांस्कृतिक और मानवीय एकता का नारा ही उन्होंने बुलन्द किया है। जातीय गुणों के त्याग की प्रेरणा गांधीजी सदा देते रहे; एकान्त स्वार्थ के विरुद्ध सदा ही उन्होंने अपना मत दिया और राष्ट्रीयता की भावनाओं को प्रोत्साहन दिया। वर्तमान भारत को इसीकी तो आवश्यकता रही है।

'स्वप्न-भंग' और 'विदा' की भूमिकाओं में प्रेमीजी ने गाँधीवादी दर्शन के प्रति अपनी आस्था इन शब्दों में प्रकट की है :—'दारा का जो स्वप्न था—वही कुछ परिष्कृत रूप में महात्मा गाँधी का भी था और मेरे छोटे-से प्राणों का भी वही स्वप्न है। धर्म, जाति, सम्प्रदाय, देश और सामाजिक एवं राजनीतिक विचार-धाराएँ और इसी प्रकार की अनेक बातों को मानव का शत्रु बनाए हुए हैं। सबकी जड़ में व्यक्ति का स्वार्थ है। जब व्यक्तियों के संस्कार सुधरेंगे, वह स्वार्थ से छुटकारा पाकर दूसरों के हित के लिए त्याग करने में आनन्द पायेंगे तब संसार स्वर्ग वन जायेगा। मैं चाहता हूँ—हिन्दुस्तान ही नहीं सम्पूर्ण संसार स्वर्ग बन जाय।' (स्वप्न-भंग)

'अब हम स्वतंत्र हैं और हमें इस बहुत बलिदानों के पश्चात् प्राप्त की हुई स्वतंत्रता की रक्षा करनी है, अपनी दुर्बलताओं को दूर करना है और देश को सुखी और समृद्ध बनाना है। यह तभी संभव है जब हम एकता के सूत्र में बँधकर देश के उत्थान में जुट पड़ें। महात्मा गाँधी ने देश की एकता की रक्षा करने के लिए प्राण दे डाले। भारत सब वर्गों, जातियों और धर्मों का है। सबमें भाईचारा होना चाहिए। सबको समान सुविधाएँ और अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ, और सब राष्ट्रीयता की भावना से एक सूत्र में बँधे रहने चाहिएँ, यही गाँधीजी की कामना थी। मैंने अपने कुछ नाटकों के द्वारा उनकी इस कामना को सफल बनाने की दिशा में थोड़ा-सा योगदान दिया है।' (विदा)

प्रेमीजी ने वर्तमान भारत की उन समस्याओं को विशेष रूप से छुआ है, जो प्राचीन काल से भारत को घुन की तरह खाये चली आ रही हैं। साम्प्रदायिक द्वेष एक ऐसा ज़हर है जो चिरकाल से जातीयता की नाड़ियों में प्रवाहित हो उसे क्षीणप्राय करता रहा है। साम्प्रदायिकता ने कभी धार्मिक क्षेत्र में, कभी राजनैतिक क्षेत्र में और कभी सामाजिक क्षेत्र में अपना अकांड-तांडव दिखाया है! विदेशियों के सम्पर्क से लेकर आज तक इसका प्रभाव बढ़ता ही चला

गया है । इस विष की धारा को समाप्त करने के लिए ही प्रेमीजी ने इतिहास के पन्नों को पलटा । सबसे पहले उन्होंने 'रक्षाबन्धन' नाटक द्वारा इसके विरुद्ध ज़ोरदार आवाज़ उठाई । इस नाटक में साम्प्रदायिक एकता का स्वप्न साकार बन गया है । इस नाटक की भूमिका में लेखक ने कहा है—'पंजाब में ज्ञान की बाँसुरी और कर्म का शं. फूँकनेवाली बहन कुमारी लज्जावती ने एक बार मुझसे कहा था कि हमारे भारतीय साहित्य में—हिन्दी और उर्दू तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में—हिन्दुओं और मुस्लमानों को अलग करनेवाला साहित्य तो बढ़ रहा है, उन्हें मिलाने का प्रयत्न बहुत थोड़े साहित्यकार कर रहे हैं । तुम्हें इस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए । इसी लक्ष्य को सामने रखकर उन्होंने मुझे ऐतिहासिक नाटक लिखने का आदेश दिया ।……मैंने बहन लज्जावतीजी की आज्ञा मानकर "रक्षाबन्धन" नाटक लिखा ।'

'रक्षाबन्धन' नाटक में कर्मवती का हुमायूँ को राखी भेजना और उसे भाई बनाना तथा हुमायूँ का चित्तौड़ की रक्षा के लिए आना दोनों ही घटनाएँ साम्प्रदायिक एकता की द्योतक हैं । ऐतिहासिक घटना की छाया में लेखक ने अपने समय की साम्प्रदायिक अग्नि को शांत करने का मार्ग सुझाया है । मेवाड़ के महाराणा विक्रमादित्य का दृष्टिकोण जातीय एकता की ओर था, बहादुरशाह के भाई चाँदख़ाँ से उसने कहा —'मज़हब मनुष्य के हृदय के प्रकाश का नाम है । जो मजहब का नाम लेकर तलवार चलाते हैं, वे दुनिया को धोखा देते हैं, धर्म का अपमान करते हैं ।……जाति और धर्म के नाम पर मनुष्यता के टुकड़े न कीजिए ।' हुमायूँ का तो सारा जीवन ही साम्प्रदायिक एकता का नमूना है । हुमायूँ के अन्तिम वाक्य गाँधीवादी दर्शन से प्रभावित रखे गये हैं :—'हिन्दुस्तानी ही नहीं, इन्सान हैं । हमें उस दुनिया की हर क़िस्म की तंगदिली के ख़िलाफ़ जिहाद करना चाहिए । हमारा काम भाई के गले पर छुरी चलाना नहीं, भाई को गले लगाना है, भाई को ही नहीं, दुश्मन को भी गले लगाना है । दुनिया के हर एक इन्सान को अपने दिल की मुहब्बत के दरिया में डुबा लेना है ।'

हुमायूँ के ये वाक्य उसे किसी आधुनिक नेता का रूप नहीं देते, इतिहास में वह अपनी उदारता और विशाल दृष्टिकोण के लिए प्रसिद्ध है । दारा के विचार और भी अधिक विशाल हैं:---'···स्वार्थ के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों के दिल में वह ज़हर न भरो जो फिर किसी के लिए भी दूर न हो सके । ··हिन्दुस्तान को हिन्दू और मुसलमान दोनों की माँ रहने दो । उसे साम्प्रदायिकता की आग में न झुलसाओ ।'

इतिहास कहता है कि आरम्भ में तो मुसलमान विदेशी के रूप में रहे, लेकिन जैसे-जैसे वे इस देश में बसते गये, उन्हें इस बात का अनुभव होता गया कि भारत को अपना ही देश माने बिना कल्याण नहीं है । जाति-धर्म से बड़ी चीज़ है देश के

प्रति राष्ट्र-भावना । दारा ने इस बात को अनुभव किया । वर्तमान युग में एक बार फिर इस प्रकार के विचारों की आवश्यकता पड़ी । लेखक ने दारा के शब्दों में 'स्वप्न-भंग' में कहलवाया —'मैं तो मनुष्यमात्र को एक समझता हूँ । हम जिन्हें मुसलमान कहते हैं, आदिम आर्यों के वंशज हैं । जब इस्लाम का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, तभी हिन्दुस्तान के सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओं ने अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, अरब और तुर्किस्तान में राज्य-सत्ता स्थापित की थी, अपने धर्म का प्रसार किया था । मुसलमान तो उन्हीं क्षत्रियों की सन्तान हैं । आज धर्म के परिवर्तन से वह रक्त का सम्बन्ध तो नहीं भूला जा सकता । भारतवर्ष सदा से अपना था और सदा अपना रहेगा । हम पहले भारतवर्ष के हैं, पीछे अरब और तुर्किस्तान के । हम इसे पराया कैसे समझें ?'

साम्प्रदायिक वैमनस्य की ज्वाला सदा से देश की अखण्डता को जलाती आई है । देश टुकड़ों में बँटता जा रहा है । उसकी शक्ति क्षीण होती रही है । देश के सामने यह समस्या पहले भी थी और आज भी है । इतिहास बताता है कि दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के समय हमारा देश अनेक छोटे राज्यों में बँट चुका था और प्रत्येक राजा अपने वंश-गौरव के अभिमान में दूसरे से लोहा लेने को प्रस्तुत था, ऐसे समय में ही विदेशी शक्ति भारत पर विजय पा सकी । इसी प्रकार जब पठान राज्य अनेक टुकड़ों में विभाजित हो गया तब बाबर को आक्रमण करने का साहस हुआ । मुग़ल साम्राज्य जब छिन्न-भिन्न होने लगा तब अहमदशाह अब्दाली और नादिरशाह को इस देश पर चढ़-दौड़ने का साहस हो सका । पठानों और मुग़लों के समानधर्मी होने पर भी युद्ध के मैदान में आमने-सामने खड़े होने में कोई हिचक पैदा नहीं हुई । जभी एक साम्राज्य समाप्त हुआ—भारत की अखण्डता नष्ट हुई—तभी किसी बाहरी शक्ति ने इसकी स्वाधीनता पर आक्रमण किया है । राष्ट्रीय एकता का अभाव इस देश की सबसे बड़ी दुर्बलता है । अभी कुछ ही वर्ष हुए हैं कि देश दो टुकड़ों में बँटा है । आज भी महागुजरात, महापंजाब आदि के नारे लगाये जा रहे हैं । सदियों से भारत ने जो भूल की है, वह आज भी जारी है । भारत की एकता और अखण्डता की आवश्यकता आज भी पहले की भाँति बनी हुई है ।

'विषपान' में जोधपुर और जयपुर के पारस्परिक मनमुटाव को दूर करने के लिए कृष्णा ने अपना बलिदान दिया । राजस्थान की एकता के लिए कृष्णा ने विषपान किया; उसके बहाने से लेखक हमारे सामने देश की एकता के प्रश्न को सुलझाना चाहता है । आज की बड़ी आवश्यकता है सांस्कृतिक और राष्ट्रीय एकता, 'विषपान' अपने इतिहास के सहारे इसी का हल निकालता है । 'विदा' नाटक की समस्या भी यही है । जेबुन्निसा और अकबर राष्ट्रीय एकता पर बल देते हैं । एकता और मनुष्यता की रक्षा के लिए दोनों अपने बाप औरंगजेब से विद्रोह करते हैं । अकबर के हृदय की वेदना गाँधीजी के हृदय की वेदना ही है । दुर्गादास से अकबर कहता

है :—"दुर्भाग्य है, इस देश का जहाँ ऐसे लोग बहुत थोड़े हैं जो व्यक्तिगत सत्ता और स्वार्थों से ऊपर उठकर अपने देश की सुख-समृद्धि के विषय में सोचते हों। ऐसा हिन्दुस्तान उनकी कल्पना के बाहर है जो न हिन्दुओं का हो, न मुसलमानों का, न राजपूतों का, न मराठों का, न किसी अन्य जाति का, बल्कि सम्मिलित रूप में सबका हो, जिस भारत में सबको समान अधिकार प्राप्त हों—शासन में समान आवाज़ हो।"

वैमनस्य और स्वार्थ की भावना के कारण ही देश परतन्त्र रहा और सदियों तक उसके निवासियों के सामने स्वतन्त्रता का प्रश्न खड़ा रहा। प्रेमीजी ने अपने भिन्न-भिन्न नाटकों के द्वारा इस प्रश्न पर प्रकाश डाला। वर्तमान युग में स्वतन्त्रता का प्रश्न और भी तीव्रतर हुआ। ऐसी स्थिति में लेखक ने अपने पात्रों-द्वारा आज़ादी की कामना को वढ़ावा दिया। अपनी अमर कृतियों से अत्याचारी शासन को समाप्त कर स्वराज्य की स्थापना की कामना का शंखनाद किया। प्रतिशोध, शिवा-साधना, आहुति आदि भारतीय स्वतन्त्रता की कामना के अग्रदूत हैं। वास्तव में प्रेमीजी के नाटकों में देशप्रेम सर्वोपरि तत्त्व है। सभी नाटकों में देश-प्रेम सब भावों से अधिक सजग और गतिशील है। प्रेमीजी के पात्रों की पुकार है—आततायियों और आक्रमणकारियों से अपनी जन्मभूमि की प्राण देकर भी रक्षा करो। 'रक्षाबन्धन' की श्यामा, जो मेवाड़ के राजवंशों से घृणा करती थी, भारती के द्वारा प्रबोधन पाकर कहती है—'तुम सच कहती हो, देश सर्वोपरि है, सर्वश्रेष्ठ है। हमारे दुःखों की क्षुद्र सरिताएँ उसके कष्ट और संकट के महासमुद्र में डूब जानी चाहिएँ।' कर्मवती जवाहरवाई, लाखनसिंह, अर्जुनसिंह आदि सभी देश की स्वतंत्रता के लिए बलिदान को तत्पर हैं। कर्मवती कहती है—'जबतक हम अपने व्यक्तित्व को, सुख-दुःख और मानापमान को, देश के मानापमान में निमग्न न कर देंगे, तबतक उसके गौरव की रक्षा असंभव है, तबतक हम मनुष्य कहलाने योग्य नहीं हो सकते।' 'शिव-साधना' के शिवाजी, बाजीप्रभु, तानाजी मालसुरे आदि देश को ही सर्वोपरि मानते हैं। शिवाजी कहते हैं—'जबतक पुण्यभूमि शत्रुओं के अस्तित्व से शून्य न हो जाय, तबतक स्वराज्य की सीमा का विस्तार व्यर्थ है।'

'उद्धार' का हम्मीर भी देश के लिए सर्वस्व बलिदान करने की कामना लिये हुए कहता है—'आपको वंशाभिमान के अतिरेक ने पथभ्रष्ट कर दिया था, किन्तु हमें जानना चाहिए कि देश तो जाति, वंश और सभी सांसारिक वस्तुओं से ऊँचा है। उसकी मानरक्षा के लिये हमें समस्त का बलिदान करना चाहिए।' देश का यथार्थ अर्थ समझाने की स्थान-स्थान पर लेखक ने चेष्टा की है। शुद्ध व्यक्तिगत पौरुष और वीरता का प्रदर्शन देश-सेवा नहीं है, बल्कि उसे सर्वोपरि समझकर अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का लय ही देश की सच्ची भक्ति है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् हमारे सामने अनेक समस्याएँ उभरी हैं ; प्रेमीजी ने अपने ऐतहासिक नाटकों द्वारा उनका भी समाधान खोज निकाला है। देश की स्वतंत्रता में अनेक वीरों, महापुरुषों और राजनैतिक नेताओं का हाथ है, उनके प्रति श्रद्धा होना स्वाभाविक है ; किन्तु यह श्रद्धा व्यक्ति-पूजा में परिवर्तित हो गई है। साध्य को छोड़कर साधन की ओर ध्यान चला गया है। 'भग्न प्राचीर' नाटक में लेखक ने इस ओर ध्यान दिया है। महाराजा संग्रामसिंह कहते हैं—'मैं जानता हूँ कि व्यक्ति-पूजा मानव का स्वभाव है और किसी सीमा तक उसका उपयोग भी है, उससे लाभ भी होता है, किन्तु भारत में यह सद्गुण अवगुण की सीमा तक पहुँच गया है। किसी एक व्यक्ति के व्यक्तित्व की चकाचौंध से प्रत्येक देशवासी को अन्धा कर देने की आवश्यकता नहीं है। हमें व्यक्तियों की भक्ति करने के स्थान पर देश और मानवता का समादर करना होगा।'

व्यक्ति-पूजा की यह प्रवृत्ति हममें पहले भी थी और आज भी है। आज यह अधिक वढ़ गई है। संग्रामसिंह का सन्देश ध्यान देने योग्य है, खासतौर पर ऐसी स्थिति में जबकि हमारे देश के लोगों का देश-प्रेम नेताओं के गुणगान तक ही सीमित रह गया है। देश को हम भूल चले हैं और अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए राजनैतिक नेताओं की भक्ति ही हमारा इष्ट बन रही है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद देश में प्रान्तीयता की भावना उभरी है। इस भावना को अनेक पार्टियाँ बढ़ावा दे रही हैं। मराठा, द्रविड़, जाट, राजपूत, हिन्दू, सिख के प्रश्न उठाये जा रहे हैं। संग्रामसिंह के द्वारा लेखक ने इस समस्या पर भी प्रकाश डाला है :—'गृहयुद्ध की ज्वाला बहुत भयानक होती है। कभी-कभी वह छल भी करती है। जान पड़ता है वह बुझ गई। लेकिन वह प्राणों में सुलगती रहती है। अचानक ही उसमें से लपटें उठने लगती हैं। पीढ़ियों तक यह ज्वाला शान्त नहीं होती। बैर के विष से वंशों का रक्त विषाक्त हो जाता है।'

स्वतंत्रता-प्राप्ति पर देश के सामने पहली समस्या देश में से राजत्व की भावना को समाप्त करना था। वास्तव में आज के विश्व की सबसे बड़ी समस्या है राजतंत्र। भारतीय स्वतंत्रता के उपरान्त विश्व के विभिन्न कोनों से राजतंत्र समाप्त हुआ है। 'प्रकाश-स्तंभ' नाटक में बाप्पा का कथन प्रजातंत्र के समर्थकों का कथन है। राजतंत्र के विरुद्ध प्रजातंत्र की दलील है :—'लुटेरे का ही दूसरा नाम राजा है। जो दूसरों की श्रम से अर्जित धन-सम्पत्ति से अपना कोष भरता है वह राजा है। जिस प्रकार मेरे ये साथी हैं उसी प्रकार उसके राजकर्मचारी और सैनिक आदि होते है ; जो वेतन लेकर व्यवस्थित ढंग से अपने पड़ोसियों को लूट-लूटकर उसका भंडार भरते हैं। न्याय-व्यवस्था के नाम पर वह लोगों को उल्लू बनाता है। शस्त्रों की चमक दिखाकर सबको चुपचाप लुटते रहने को बाध्य करता है और

इस बाध्यता को राजभक्ति के नाम से पुकारा जाता है। तुम्हारे जैसे विद्वानों के मस्तिष्कों को मोल लेकर वह अपनी प्रशस्ति लिखाता है।'

आजकी सबसे बड़ी आवश्यकता है, प्राचीन रूढ़ियों का मोह छोड़कर मानव-मात्र की एक जाति की स्थापना। बाप्पा का प्रयत्न इसी दिशा में था और लेखक उसके कथनोपकथनों द्वारा हमें भी दिशा-निर्देश करता है। जन्म से ही जाति-वर्ण मानकर चलनेवाले समाज में विषमता फैलाते हैं। जन्मगत विचारों पर बाप्पा टिप्पणी करते हुए कहता है :—'समाज में वैषम्य को परिपुष्ट करनेवाली परम्पराएँ अति प्राचीन हैं। प्रथम तो यह धारणा ही भ्रममात्र है; और यदि प्राचीन हों भी तो मानवता के सिद्धान्त के विरुद्ध, अस्वाभाविक और अन्यायपूर्ण परम्पराओं का अन्त मानव का कर्त्तव्य है।....जो वस्तुएँ, जो परम्पराएँ, जो विश्वास मनुष्य-मनुष्य में वैषम्य स्थापित करें उनका मैं परम शत्रु हूँ। जाति-प्रथा ने हमारे समाज को छिन्न-भिन्न कर दिया है। हममें पारस्परिक भ्रातृभाव समाप्त हो गया है। उच्च जातिवालों ने समाज के बड़े अंश को अस्पृश्य और दास की स्थिति में पहुँचा दिया है।'

यों तो देश-भक्ति के नाम पर छोटे-छोटे रस्मों की रक्षा का प्रयत्न हमारे देशवासी करते ही रहे हैं; कभी-कभी बाहरी शक्ति को खदेड़ने के लिए शक्तिशाली प्रयत्न भी हुए हैं, परन्तु देश के वास्तविक रूप को हम आज तक भी नहीं पहचान पाए। राष्ट्र-भावना का उदय हममें आजतक नहीं हो पाया। 'प्रकाशस्तंभ' का हारीत इस पर प्रकाश डालता है—'हमने देश के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना। हम अनुभव नहीं करते कि देश हमारी माँ है, हम उसकी गोद में खेले हैं, उसके अन्न-जल से हमारा शरीर बना है। जिस प्रकार हमारी जननी के शरीर का प्रत्येक अवयव अविभाज्य है, उसी प्रकार हमारे देश का भी। हम उसकी सूची के अग्रभाग जितनी भूमि पर भी किसी विदेशी को प्रभुत्व स्थापित नहीं करने देंगे। यही भावना हमें भारत के प्रत्येक धड़कनेवाले हृदय में भर देनी है। देश को माँ समझने की भावना ही वह आधार है, जिसका अवलम्ब लेकर भारत के सम्पूर्ण मानव-समाज को संगठन में बांधा जा सकता है।'

स्वार्थी शक्तियाँ आज धर्म को राजनीति में घुसेड़कर देश को पुनः खंडित करने का विचार लिए हुए हैं। यही विचारधारा आजतक देश के लिए घातक रही है। धर्म के नाम पर मानवता के विनाश का जाल रचनेवालों को हारीत के वाक्य ध्यान में रखने चाहिएँ :—'...लोग धर्म को राजनीतिक शस्त्र बनाकर अपनी साम्राज्य-विस्तार-लिप्सा को तृप्त करना चाहते हैं। हमें स्वार्थ-भावना से ऊपर उठकर धर्म को राजनीति के क्षेत्र से निर्वासित करना होगा।' धर्म ने समाज में समान अधिकारों का विभाजन नहीं होने दिया। इसलिए उसका विरोध जरूरी है। लेखक

ने आजकी इस समस्या की ओर भी ध्यान दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की सब सुविधाएँ मिलनी चाहिएँ। हारीत कहता है :—'प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह किसी धर्म का पालनकर्त्ता हो, राज्य में समान अधिकार और सुविधा प्राप्त होनी चाहिए, तभी यह देश एकता के सूत्र में बँधकर महान् शक्ति बन सकेगी।' सम्पूर्ण समाज की एकता पर बल देते हुए हारीत कहता है :—'विधि-विधान और तथा-कथित कुछ धर्म-शास्त्रों के निर्माताओं ने ऐसी ही धारणाओं का वारम्बार प्रचार कर निम्नवर्ग को अपनी हीनता से सन्तुष्ट रखने का यत्न किया है। भाग्य का लेख अमिट समझकर वे अपनी स्थिति से ऊपर उठने का यत्न नहीं करते। उनका आत्मविश्वास भी नष्ट हो गया है। किन्तु यदि व्यापक दृष्टि से देखें तो इससे हमारे देश की हानि हुई है, हमारा सम्पूर्ण समाज मानव-शरीर की भाँति एक है, उसके प्रत्येक अंग को हमें पुष्ट रखना है। उनमें परस्पर प्रतिस्पर्धा, घृणा और वैर नहीं होना चाहिए बल्कि सहानुभूति होनी चाहिए।'

अनुकूल शिक्षा और वातावरण से ही मानवता का स्तर ऊँचा उठ सकता है' इस आधुनिक विचार पर भी बाप्पा ने प्रकाश डाला है:—'यदि अनुकूल शिक्षा और वातावरण में पोषित हो तो शूद्र में भी मानवता के वे ही उच्च गुण आ सकते हैं; जो ब्राह्मण की सन्तान में हो सकते हैं।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐतिहासिक वातावरण पर तनिक भी आघात किये बिना प्रेमीजी ने वर्तमान समस्याओं का चित्रण किया है। वर्तमान और अतीत को वे अन्योन्याश्रित मानते हैं। उनका विचार है कि हमें जहाँ अपने देश की वर्तमान समस्याओं पर विचार करना चाहिए, वहीं अपने अतीत में वर्तमान समस्याओं के कारण खोजने चाहिये, वहीं से हमें उनका निदान भी प्राप्त होगा। उन्होंने अपने नाटकों की रचना जिस उद्देश्य से की है, उसपर अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं:—'मैंने नाटकों की रचना निरुद्देश्य नहीं की है। भारत सदियों की पराधीनता के पश्चात् स्वतंत्र हुआ है और अब इसे नवार्जित स्वतंत्रता की रक्षा भी करनी है एवं राष्ट्र को सुखी, समृद्ध और शक्तिशाली भी बनाना है। प्राचीन इतिहास हमारी शक्ति और दुर्बलता का दर्पण है। मैंने बार-बार यह दर्पण अपने देशवासियों के सम्मुख रखा है ताकि हम अपने देश के अतीत को देखकर व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन से उन दुर्बलताओं को दूर करें, जिन्होंने हमें पराधीनता के पाश में बांधा, उन गुणों को ग्रहण करें जिन्होंने हमें अभी तक जीवित रखा और फिर स्वतंत्र किया तथा उन गुणों का विकास करें, जिनकी राष्ट्र के नवनिर्माण में अपेक्षा है।'

प्रेमीजी ने अपनी नाट्यकला के माध्यम से देश को जीवित जाग्रत करने में बड़ा योग दिया है। कला की उपयोगिता भी वे इसीमें मानते हैं। 'संवत् प्रवर्त्तन' नाटक का

नायक विक्रमादित्य कहता है:—'हमें इस प्रकार के नाटक थोड़े सुधार के साथ अपने प्रदेश के कोने-कोने में खेलकर सर्वसाधारण में अपने कर्तव्य के प्रति चेतना जाग्रत करनी चाहिये। कला का देश के जागरण और उत्थान में उपयोग होना ही चाहिए। जनबल को जाग्रत और संगठित करने में कलाकार और साहित्यकार बहुत बड़ा योगदान दे सकते हैं।'

'कला और साहित्य अमृत भी है और विष भी। प्रतिभा का सदुपयोग इन्हें जीवनप्रद बनाता है और दुरुपयोग जीवन-नाशक। ललितकलाएँ मनुष्य की सद्भावनाओं को जाग्रत करनेवाला आनन्द देने के लिये हैं न कि उसे असंयमी और उच्छृंखल बनाने के लिए। कलाओं के प्रति जनमानस का आकर्षण अदम्य है, इसलिए इनकी शक्ति भी अपरिमित है और कलाकारों का उत्तरदायित्व इसलिए अतिशय महान् है। देश और जाति का निर्माण करना या उसे विनाश के पथ पर ले जाना उसके हाथ में है। जो कार्य शासन के विधि-विधान या शस्त्र नहीं कर सकते वह कलाकार और साहित्यकार सहज ही कर सकता है।'

कलाकार अपनी लेखनी से केवलमात्र जनसाधारण को ही सचेत नहीं किया करता, बल्कि किसी-न-किसी बहाने से उन महापुरुषों को भी सचेत करता है जिनके हाथ में किसी प्रकार की राजसत्ता या जनसाधारण की जीवन-व्यवस्था होती है। आज स्वतंत्र देश में भी शासन के विरुद्ध भीतर-ही-भीतर एक प्रकार का व्यापक असंतोष पाया जाता है। 'संवत् प्रवर्तन' में उषवदात के मुख से इस सत्य की ओर भी संकेत किया गया है:—'···जनसाधारण ने हतप्रभ होकर विदेशी शासन के अभिशाप को सह लिया। अब वह हतप्रभ की स्थिति समाप्त हो गई है। जन-मानस सोचने लगा है। वह एक नींद की सी स्थिति थी, जिसमें वे बेसुध पड़े हुए थे। अब उनकी पलकें खुल रही हैं, हमें चाहिए कि हम अपना रूप ऐसा बनावें जिससे वह पूरी तरह आँखें खोलकर हमें देखें तो उन्हें जान पड़े हम उनके भाई हैं।'

देशकाल की छाया में वर्तमान के चित्रण का अवसर प्रेमीजी कभी भी हाथ से नहीं जाने देते। 'साँपों की सृष्टि' आज के भारत की माँग को पूरी करता है। हमारे समाज की भूलों का उद्घाटन इसमें भी किया गया है। माहरू के मुख से लेखक ने कहलवाया है :—'जबतक हिन्दुस्तानी विभाजित रहेंगे, एक-दूसरे के दुःख-दर्द में शामिल नहीं होंगे—जबतक सारे हिन्दुस्तानी एक जाजम पर बैठकर खाना नहीं खा सकेंगे—जबतक इनके यहाँ आठ घरों के लिये नौ चूल्हों की जरूरत होगी, तबतक अलाउद्दीनों के अत्याचारों को कौन रोक सकता है? जो भारतीय विदेशियों से लड़ते समय भी युद्ध करने की अपेक्षा छूतछात पर ही अधिक ध्यान रखते हैं, उनका उद्धार कैसे हो सकता है!'

चार

प्रेमीजी के सामाजिक नाटक और उनकी भावधारा

प्रेमीजी प्रधानतया ऐतिहासिक नाटककार ही हैं। ऐतिहासिक कथानकों के सहारे ही आपने वर्तमान की बात कहने का प्रयत्न किया है। किन्तु इतिहास की अपनी सीमाएँ होती हैं। इतिहास में अपनी लेखनी से जीवन के यथार्थवादी चित्र नहीं उतारे जा सकते। ऐतिहासिक नाटकों में चरित्र के भीतरी परतों को खोलकर जीवन के अभावों का यथार्थ रूप उनमें रखा ही नहीं जा सकता। उनमें रूढ़िगत अनेक बन्धनों की तंग गलियों में ही होकर चलना होता है। व्यक्ति और समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने के लिए मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-प्रधान सामाजिक नाटक लिखने होते हैं। व्यक्ति और समाज के चरित्र का उद्घाटन करने के लिए प्रेमीजी ने सामाजिक नाटकों की रचना भी की है। 'बन्धन' की भूमिका में उन्होंने लिखा है—'इतिहास का मोह मुझे अब भी है, किन्तु समाज मुझ से दूर नहीं है। मैंने बहुत बड़ा मोल देकर समाज का जो चित्र देखा है वह पाठकों के सामने नहीं ला पाया हूँ। इतिहास में मैं अपने-आपको पूर्णरूप से नहीं दे सकता था। समाज का चित्र खींचते समय मुझे अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है।'

प्रेमीजी ने अब तक तीन सामाजिक नाटक लिखे हैं—बन्धन, छाया और ममता। इन नाटकों का मूल विषय प्रायः प्रेम और आर्थिक शोषण है। प्रेम-प्रधान भावना को आप चाहें तो यौन-समस्या भी कह सकते हैं। यह विदेशी प्रभाव भी माना जा सकता है। हिन्दी में सामाजिक नाटकों का अभाव है, और जो हैं भी तो वे पाश्चात्य सामाजिक सेक्स की समस्याओं से ओत-प्रोत हैं। अन्य नाटककारों की भाँति प्रेमीजी पर विदेशी साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों का प्रभाव नहीं पड़ा है। वहाँ का बुद्धिवाद, नारी-समस्या और जीवन के भौतिक सत्यों की स्वीकृति आपके मन में काम नहीं करती। आपकी विचारधारा के लिए भारतीय आदर्शवाद की पृष्ठभूमि सदा सहायक रहती है।

'बन्धन' में पूँजीपति और मज़दूरों के संघर्ष को अधिक उभार कर रखा गया है। नाटक का नायक मोहन मध्यवर्ग का शिक्षित युवक है, जो मज़दूर बनकर अपने को वर्गच्युत करता और मज़दूरों का नेतृत्व करता है। वह गाँधीवादी विचार-धारा का व्यक्ति है और इस बात में विश्वास करता है कि आत्मत्याग, करुणा और

प्रेम के बल पर पूँजीपतियों का हृदय-परिवर्तन करके लक्ष्मी को जो उनकी तिजोरियों में बन्द है, मुक्त करना चाहिए।

इस नाटक में दिखाया गया है कि स्वार्थी समाज ने किस प्रकार व्यक्ति के जीवन को कष्टों से भर दिया है। वर्तमान पूँजीवादी द्वारा निर्धन मज़दूर का शोषण ही चित्रित किया गया है। इसमें दिखाया गया है कि शोषितवर्ग तंग आकर अपने अधिकार पाने के लिए शोषकवर्ग के विरुद्ध वैध उपायों से आन्दोलन करता है और शोषकवर्ग उसकी बुरी तरह से अवहेलना ही नहीं करता, बल्कि शासकवर्ग का आधार लेकर उसका संहार करने पर उतारू हो जाता है।

नाटक का नायक है मोहन। यह मज़दूरों का नेता है। एक ओर इसमें परोपकार की भावना है, दूसरी ओर अपने घर की दरिद्रता से उत्पन्न प्रतिशोध की भावना। मिल-मालिक खज़ांचीराम का अत्याचार इसके विद्रोह को उग्रता देता है। परन्तु यह अहिंसक क्रान्ति करता है। खज़ांचीराम न तो मज़दूरों को पूरा वेतन ही देता है और न ही उन्हें महँगाई भत्ता देता है। फलस्वरूप वे हड़ताल कर देते हैं। उन पर लाठी चार्ज होता है। मोहन के नेतृत्व में मजदूर अहिंसात्मक रहते हैं और कष्ट सहते हैं। मोहन अपने आत्मत्याग से खज़ांचीराम का हृदय जीत लेता है। मजदूरों की माँगें स्वीकार हो जाती हैं। मोहन के साथ खज़ांचीराम अपनी लड़की मालती का विवाह भी कर देता है।

'बन्धन' के कथानक द्वारा प्रेमीजी ने अहिंसा द्वारा हिंसा पर विजय दिखाई है। गाँधीवादी-समाजवादी आर्थिक व्यवस्था की ओर संकेत किया है। सरला के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं--'हमें यह इच्छा करनी चाहिए कि मालिक और मज़दूरों का भाव ही मिट जाए। सबकी आमदनी बराबर हो।' गांधीवादी आर्थिक समाजवादी व्यवस्था पूँजीवादियों के हृदय-परिवर्तन में विश्वास रखती है। इसके लिए त्याग और सेवा की भावना को प्रमुखता दी जाती है। मोहन खज़ांचीराम से कहता है:—'मैं यह नहीं मानता कि आप अमीर लोगों के पास हृदय नाम की कोई वस्तु नहीं है। वह है। वह स्वार्थ के कूड़े के नीचे दब गया है। हमें अपने-आपको मिटाकर भी आपका हृदय खोज लाना होगा।' उसकी बहन सरला भी यही कहती है—'मनुष्यता को पवित्र करने के लिए महान् आत्माओं को कष्ट सहना ही पड़ेगा। प्रत्येक हृदय में करुणा का स्रोत है, उस स्रोत को पुनः प्रकाशित करने के लिए भैया जैसे व्यक्ति को अपना जीवन दीपक की तरह जलाना ही पड़ेगा।'

गाँधीजी कहा करते थे कि मनुष्यता को घृणा से नहीं प्रेम से जीता जा सकता है। सरला मालती से यही निवेदन करती है—'ये तुम्हारे पिता हैं। यदि तुम भी इन्हें प्यार न करोगी तो ये राक्षस हो जावेंगे। इनसे रूठो नहीं, इनसे घृणा भी मत करो। लक्ष्मी के मोह में ये तुम्हें भूल गये हैं। लेकिन तुम तो इन्हें न भूलो। इन्हें

समझाओ कि मनुष्य रुपये से ज़्यादा क़ीमती है । इन्हें अपने प्रेम से जीतो । इनके हृदय में प्रेम का दीपक जलाओ ।'

आज चारों ओर मनुष्य के निहित स्वार्थ उसे ही खाये जा रहे हैं । स्वार्थ का अन्धकार हमारे विकास में बाधक है; समता का शासन स्वार्थी लोग ही नहीं होने देते । 'बन्धन' का प्रकाश स्वार्थी-बुद्धि पर करारी चोट करता है—'किसने अन्धकार को अपनाया है ? प्रकाश को अपनानेवाला कोई नहीं । इसीलिए प्रकाश भी अन्धेरे में डूबा जा रहा है । संसार में अन्धकार के भयंकर बादल छाये हुए हैं, आकाश से पानी के स्थान पर अन्धकार बरस रहा है । समुद्रों में पानी नहीं अन्धकार ही भरा हुआ है ।······अन्धकार तो यह हमारी आँखों में चमकनेवाला अभिमान है । अन्धकार तो हमारे प्राणों में बोलनेवाली स्वार्थ की धड़कन है, अन्धकार तो हमारे खून में प्रवाहित होनेवाला लालच है ।' और मानव की लोलुपता पर चोट करता हुआ वह कहता है—'मानव की पशुता ने शराब पीली है । मनुष्य अपने ही शरीर के अंगों को काट रहा है । पागल कुत्ते की तरह मनुष्य जीभ खोले घूम रहा है ।

'बन्धन' के नवीन संस्करण के सम्बन्ध में प्रेमीजी ने लिखा है—'भारत स्वतन्त्र तो हो गया, लेकिन उसकी आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ तो अभीतक उलझी हुई हैं । पूँजी और श्रम का संघर्ष चल रहा है । इस नाटक में इस संघर्ष का गाँधीवादी हल है । प्रेमीजी की आकांक्षा है कि उनके खज़ांचीराम की भाँति ही प्रत्येक पूँजीपति कहे—'मैं आज सब-कुछ दे डालना चाहता हूँ । यह तुम लोगों का ही तो रुपया है, जो हमने अपनी तिजौरियों में क़ैद कर रखा है । लक्ष्मी को हमने क़ैद करना चाहा, लेकिन वह हमारी क़ैद में खुश नहीं है । वह मुक्त होना चाहती है । जबतक वह मुक्त न होगी, संसार में मारकाट, हिंसा बनी रहेगी ।'

'छाया' में प्रेमीजी ने एक ऐसे मध्यवर्गीय कवि 'प्रकाश' का जीवन चित्रित किया है, जो अपनी सरलता और सहृदयता के कारण पूँजीपति प्रकाशकों और स्वार्थी एवं ईर्ष्यालु मित्रों के जाल में फँसकर निर्धन और ऋणी बन जाता है । अन्त में उसकी पत्नी ठीक अवसर पर पहुँचकर उसको अपमानित होने और जेल जाने से बचाती है ।

धन के अभाव में मध्यवर्ग के लोगों का किस प्रकार नैतिक पतन हो जाता है और मध्यवर्गीय नारी अपने पुरातन संस्कारों के कारण तथा अपने एकनिष्ठ प्रेम से किस तरह अपने पति को सही रास्ते पर ले जाती है, यही 'छाया' नाटक के कथानक का मूलाधार है ।

समाज और राष्ट्र दोनों से उपेक्षित व्यक्ति का जीवन कितना करुण बन जाता है, यही 'छाया' में दिखाया गया है । व्यक्ति के शोषण का नंगा रूप इस नाटक में चित्रित किया गया है । व्यक्ति के अन्तर की बेबसी, जीवन के अभाव और

बाहरी पाखंड एवं कृत्रिम रूप का इसमें हाहाकार करता हुआ चित्र है। जीवन की गति को बदलनेवाले साहित्यकार के प्रति भी समाज उदासीन है। कवि प्रकाश, जिसकी कविताओं की एक-एक पंक्ति पर जनता नाच उठती है, जिसकी कविताएँ जीवन देती हैं, उसके परिवार की छिन्नमूल अवस्था देखिए—

प्रकाश :—विश्व-साहित्य को अमूल्य सम्पत्ति देनेवाला कवि, अपनी पत्नी की इज़्ज़त ढकने के लिए एक धोती तक ख़रीदने में भी समर्थ नहीं है। अपनी बच्ची को दूध पिलाने को भी दाम नहीं पाता। उस दिन जब साहित्य-सभा के मंत्री मुझे मान-पत्र दे रहे थे, सभा के बाहर कचहरी का प्यादा समन लिए खड़ा था।'

माया जो रात को नसीम बनकर अपने भाइयों की कालेज की शिक्षा और पिता के विलासी जीवन का क्रम जारी रखने के लिए अपना शरीर बेचती है, पाखंडी समाज का यथार्थरूप इन शब्दों में सामने रखती है—'उधर देखो, उस पलंग की सफ़ेद चादर पर इस नगर के न जाने कितने रईस युवक और बूढ़े भी अपने हृदय की कालिमा बिखरा गये हैं।'

इस नाटक में मानव के आर्थिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार के जीवन के उत्थान की चेष्टा है। छाया कहती है—'रुपये को अपने सिर पर न चढ़ने दो मनुष्यो! रुपये को मनुष्य का सुख न छीनने दो मनुष्यो! रुपये को मनुष्य का अपमान न करने दो मनुष्यो!' और 'पापी को हाथ पकड़ उठाना सीखो, उसके मुखपर अपयश की कालिमा पोतकर नीचे गिराना नहीं।'

'छाया' में आहत और उपेक्षित मानव को आश्रय देने के लिए 'काम' का आधार प्रदान करने का भी प्रयत्न है। काम-समस्या की ओर लेखक ने संकेत किया है। प्रकाश का माया और ज्योत्स्ना की ओर आकर्षण इसका प्रमाण है। दोनों के संसर्ग से प्रकाश को शान्ति मिलती है। ये दोनों भी एक सुख का अनुभव करती हैं। रजनीकान्त भी शंकर से उसके भीतर बहती काम-भावना की चर्चा करता हुआ नाटक की सेक्स-प्रधान विचार-धारा की ओर संकेत करता है। रजनीकान्त शंकर से कहता है :—'आपने जो दो मास तक मेरे 'हलाहल' का बिना वेतन लिए प्रबन्ध किया था; क्या वह केवल परोपकार की भावना से। एक खूबसूरत स्त्री के पास बैठने को मिलता था, इससे बड़ा वेतन एक नौजवान को क्या दिया जा सकता है?'

इतना ही नहीं, रजनीकान्त के मुख से लेखक ने वासना को ही व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति कहलाया है। वासना का शिकार व्यक्ति कितना आत्म-पीड़क और बनावटी है, देखिए :—आदमीरूपी जानवर जब अपनी वासना को कपड़े पहनाता है तो मुझे हँसी आती है। उपकार, दया, सहानुभूति, प्रेम और ममता ऐसे न जाने कितने नाम इस वासना के आप लोग रखते हैं। किसी की याद आपको सोने नहीं देती

किसी की आँखें आपको दिनभर काम नहीं करने देतीं, लेकिन आप लोगों में इतना साहस भी नहीं कि अपनी इष्ट देवी से भी अपने हृदय की बात कह सकें।'

समाज का नंगा और वास्तविक चित्र 'छाया' मे अंकित किया गया है। समाज-मनोविज्ञान को लेखक ने भली प्रकार पढ़ा और समझा है। लेखक ने समाज की दुर्बलता पर रजनीकान्त के द्वारा चोट कराई है। वह कहता है—'पापी को पुण्य की ओर लौटने का अवसर संसार नहीं देता। जिसने अपने ओठों से शराब का गिलास एक बार लगा लिया, उसके विषय में हवा सबसे कहती फिरती है यह शराबी है और फिर वह शराब पीना भी छोड़ दे तब भी वह शराबी ही है।' आज के न्याय पर टिप्पणी करता हुआ वह कहता है—'आजकल का न्याय है पूँजीपतियों, राजा, महाराजाओं और सम्राटों की सम्पत्ति और शक्ति की रक्षा करने का साधन। ...आजकल का न्याय शरीफ़ों को बदमाश बनाने का शिकंजा है।'

व्यक्ति के पतन का कारण समाज ही है। यदि समाज पापी के प्रति भी प्रेम और क्षमा से काम ले तो यह समस्या भी सुलझ सकती है। छाया कहती है—'अन्धकार का चश्मा लगाये हुए सभ्य पुरुषो, ज़रा अपनी आँखों का इलाज कराओ। जिन्हें आप पाप का पेड़ कहते हैं, उनमें भी पुण्य के फल लगते हैं।...पापी को हाथ पकड़कर उठाना सीखो, उसके मुँह पर अपयश की कालिमा पोतकर नीचे गिराना नहीं।'

'छाया' नाटक भावुकता-प्रधान नाटक है; इस पर किसी प्रकार के बुद्धिवाद को लादना उचित नहीं होगा। यदि लेखक बुद्धिवाद को लेकर चलता तो प्रकाशक और लेखक की समस्या का समाधान प्रस्तुत करता, किन्तु उसने तो प्रकाश की दुर्दशा दिखाकर एक भावुकतापूर्ण अपीलमात्र की है। उसने कोई मार्ग नहीं सुझाया है, मार्ग और समाधान की सुविधा समाज पर ही छोड़ दी है। बुद्धिवादी तो पश्चिमी प्रभाव मानकर चलता है। काम-भावना के सम्बन्ध में भी यही बात माननी चाहिए। लेखक पर पश्चिमी यौन-भावना का प्रभाव नहीं है; आकर्षण में एक पवित्रता और आदर्श है। कुछ आलोचकों को भले ही यह कला के प्रति अन्याय जँचें, परन्तु प्रेमीजी अपने देश के स्वस्थ संस्कारों को भूलकर चलना नहीं चाहते। उनकी ज्योत्स्ना और माया दोनों ही पवित्र पात्र हैं। माया को नारी का कामिनीरूप मानकर उसे पुरुषत्व के लिए अनन्त तृष्णावाली कहना न केवल उसके प्रति अन्याय करना है, बल्कि यह भी प्रकट करना है कि आलोचक ने न तो नाटक की भाव-धारा को पहचाना है और न ही पूर्वापर प्रसंग याद रखे हैं। माया तो समाज की आर्थिक बलिवेदी पर बलात् चढ़ाई गई करुणा की पात्री है। वह अनन्त तृष्णा के कारण शरीर नहीं बेचती, बल्कि परिवार की आर्थिक दुर्दशा के कारण ही वैसा करती है। पिता के हंटरों से विवश होकर वह नारकीय जीवन स्वीकार

करती है। वह तो प्राणों में ज्वालामुखी समेटे है और उसकी आत्मा सहानुभूति का आश्रय चाहती है। छाया के शब्दों में माया का रूप दर्शनीय है :—'अपना सम्पूर्ण कलंकमय ज़ीवन लेकर भी चिर उज्ज्वल और चिर पवित्र है। स्नेह और ममता का प्रशान्त महासागर इसके हृदय में उमड़ रहा है।'

'ज्योत्स्ना' के चरित्र में एक बहिन की ममता और सहायता की आकांक्षा है। पुरुषमात्र के लिए नहीं, पति के लिए सर्वस्व समर्पण की भावना उसमें है। वह तो रजनीकान्त की निगाहों में भी पवित्र और पुण्यात्मा है। नारी के यह रूप भारतीय चरित्र की ही देन है। केवल काम-भावना का चित्रण करने के कारण से ही लेखक पर पाश्चात्य प्रभाव मान लेना युक्तिसंगत नहीं है। वास्तव में लेखक ने अपने नाटक द्वारा वर्तमान नारी-समस्या का भी समाधान निकाला है। नारी चाहे जिस स्थान और चाहे जिस रूप में हो, हमारे लिए आदर, स्नेह और श्रद्धा की ही पात्री है।

वास्तव में 'छाया' नाटक 'बन्धन' की अपेक्षा कहीं अधिक मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक है। आलोचकों को इसमें उनकी बौद्धिक दुर्बलता दिखाई देती है; यथार्थ की दुनिया में विचरण करते हुए भी कलाकार की भावुकता को वे नहीं जान पाते। 'छाया' के प्रकाश में लेखक ने महत्त्वपूर्ण चोट जो समाज पर की है, क्या वह प्रेमीजी की कला को ठीक से न पहचान पानेवाले समालोचकों पर लागू नहीं हो सकती? वे लिखते हैं :—'छाया पर प्रकाश डालते समय मुझे बहुत संकोच हो रहा है। यह नाटक मेरे प्राणों को फोड़कर अपने आप प्रकट हो गया है। हमारे देश के ग़रीब साहित्यिकों के स्वाभिमान के अन्तःपुरों को कौन देखता है?······साहित्य-सेवा के प्रति समाज अपने कर्त्तव्य को न जाने कब समझेगा?······मेरे हृदय में बहुत धुआँ जमा हो गया है। उसे रास्ता तो देना ही होगा। छाया में भी मेरे हृदय का एक अंश ही आ पाया है। पिछले पाँच वर्षों में संसार ने मुझे बहुत कुछ दिया है, मुझे वह सब वापस भी तो करना है।'

'ममता' प्रेमीजी का तीसरा सामाजिक नाटक है। यह नाटक प्रेम, कर्त्तव्य और ममता की कहानी है। सन्देह, विश्वास और छल का द्वन्द्व है। एक नवयुवक वकील रजनीकान्त नवयुवती कला से प्रेम करता है, वह उससे विवाह नहीं कर पाता कि रजनीकान्त के पिता के मित्र रायसाहब रमाकान्त उसे अपनी पुत्री लता से विवाह करने के लिए विवश करते हैं। कुछ दिन बाद रायसाहब का देहान्त हो जाता है तो उनका मैनेजर विनोद चालाक चाची की सहायता से लता से बलपूर्वक विवाह करने की तैयारी करता है। लता भागकर रजनीकान्त की शरण लेती है। रजनीकान्त लता से विवाह कर लेता है। विनोद इससे प्रतिशोध लेने की तैयारी करता है। कला प्रायः रजनीकान्त के घर आती-जाती रहती है। विनोद इस परि-स्थिति से लाभ उठाता है। वह एक दिन रजनीकान्त की अनुपस्थिति में लता से

जाकर क्षमा माँगता है और लता के मन में कला के सम्बन्ध को लेकर रजनीकान्त के विरुद्ध विष भर देता है। कला और रजनीकान्त को एकत्र प्रेमालाप करते दिखाने के बहाने विनोद लता को भगाकर ले जाता है। इधर रजनीकान्त लता को न पाकर बहुत दुःखी होता है, उसे एक पुत्र भी लता से हुआ था। पुत्र का पालन-पोषण भी रजनीकान्त के लिए समस्या बन जाता है। कुछ दिन बाद कला के भाई यशपाल की प्रेमिका; जिसे विनोद ने भी फँसा रखा था; द्वारा विनोद के षड्यंत्र का पता चल जाता है। विनोद जेल चला जाता है; किन्तु लता के मन में रजनीकान्त के प्रति एक ऐसी भावना भर जाता है कि वह विनोद से मुक्ति पाकर भी घर नहीं लौटती। दिल्ली में अध्यापिका का जीवन बिताती है। एक दिन उसे पुत्र की बीमारी का पता चलता है तो वह घर की ओर आती है। कई वर्ष की निरन्तर निराशा और प्रतीक्षा के बाद रजनीकान्त कला से विवाह करने जाते हैं। सहसा घर में आग लग जाती है। लता घर में घुसकर पुत्र की रक्षा करती है ; किन्तु बुरी तरह झुलस जाती है। इसी समय कला और रजनीकान्त आ जाते हैं। यहीं नाटक समाप्त हो जाता है।

समस्त नाटक को पढ़ जाने और उसके कथा-प्रवाह को देखने से 'ममता' में किसी विशेष समस्या को उठाया गया है, ऐसा नहीं जान पड़ता। किन्तु यदि घटना-चक्र पर ध्यान दिया जाये तो 'ममता' में व्यक्ति और समाज को लेकर कई समस्याओं को उठाया गया है। व्यक्ति की समष्टि ही समाज है। अतः व्यक्ति की समस्याएँ भी समाज की ही समस्याएँ हैं। व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है, उसके सामने यह समस्या सदा ही बनी रहती है कि वह अपने आस-पास के वातावरण में रहनेवाले अथवा अपने से सम्बन्धित व्यक्तियों से कैसे बरते ? कुछ तो उसे ममता, त्याग और विश्वास से पूर्ण हृदयवाले व्यक्ति मिलते हैं, कुछ संदेह-शंकाओं से घिरे और कुछ छल-कपट और प्रवंचनाओं के पुतले। इनके बीच में व्यक्ति का जीवन क्या से क्या बन जाता है, यही इस नाटक में दर्शाया गया है। रजनीकान्त सरल चित्त, निष्कपट हृदय का व्यक्ति है, उसका सम्बन्ध एक ओर तो प्रेममूर्ति किन्तु भ्रम और ईर्ष्या से घिरी कला और लता से है, दूसरी ओर दुष्ट प्रकृति विनोद से। रजनीकान्त का जीवन सुखी होता है केवल उसके अपने विवेक से। अन्यथा तो उसने कष्ट ही उठाये। पुरुष के मन के भीतर जो प्रेम की सरिता उमड़ती है, उसका निर्वाह वह किस प्रकार करे, इसका निर्देश रजनीकान्त का चरित्र करता है। पुरुष अपने प्रेम की आँच से जातिवाद के लोहे को पिघलाकर अपने मन का स्वर्ण ढाल लेता है। व्यक्ति के जीवन में आज भी समाज ने जो जातिवाद की दीवारें खड़ी कर रखी हैं, उनका समाधान रजनीकान्त इस प्रकार करता है—

'जातियों की सीमाएं कृत्रिम हैं, जो हमें दुर्बल बनानेवाली हैं, मनुष्यता के टुकड़े करनेवाली हैं। स्वभावतः प्रत्येक मनुष्य एक ही जाति का है, मनुष्यता ही

उसका धर्म है। यदि अपनी ही जाति में सम्बन्ध जोड़ना स्वाभाविक होता तो हृदय अन्य जाति के व्यक्ति के चरणों पर न्योछावर ही क्यों होता ?' समाज की रूढ़ियों ने व्यक्ति को व्यक्ति के निकट आने में जो बाधा डाल रखी है, उसका समाधान यहीं मिलता है।

नारी के सामने भी जीवन को सुखी बनाने की समस्या है। क्या स्वतंत्र और स्वच्छन्द रहकर वह सुखी रह सकती है ? या विवाह-बन्धन में बँधकर ? प्रेमीजी ने लता और कला के उदाहरणों से समस्या का यही हल निकाला है कि नारी प्रकृति से दुर्बल है और बिना जीवन-साथी के वह छल-प्रपंचमय संसार में रह नहीं सकती।

पुरुष के प्रति नारी का क्या भाव रहे जिससे कि वह सुखी रह सके, इसका उत्तर रजनीकान्त के शब्दों में सुनिए—'नारी यह सोचती ही क्यों है कि पुरुष आठों पहर उसकी आँखों के सामने बना रहे ? उसे क्यों यह इच्छा होती है कि पुरुष का प्यार फ़िल्मों के नायकों की भाँति मुखर हो ? क्यों नहीं नारी उसके मौन में भी प्रेम के अक्षरों को पढ़ती ?'

विश्वास, त्याग और प्रेम ही नारी का बल है, जब वह इन गुणों को छोड़कर ईर्ष्या, अविश्वास और पलायन की प्रवृत्ति अपनाती है तो जीवन हाहाकार से भर जाता है। लता के मन में कला के प्रति ईर्ष्या, रजनीकान्त के प्रति अविश्वास और सन्देह जागा तो उसने अपने जीवन को विषाक्त कर लिया। नारी का सुख है उसकी ममता। स्वयं लता के शब्दों में—'नारी के मन की ईर्ष्या मुझे यहाँ से ले गई थी। माँ की ममता उड़ा लाई।' और 'मेरी संदेहशीलता ने स्वयं मुझे ही दंड दिया।'

तो फिर नारी के स्वाभिमान का क्या हो ? इसका उत्तर है त्याग की भावना का विकास। लता ने त्याग का ही आश्रय लिया। मुंशीजी से बातें करते हुए उसने कहा—'सीता-जैसी सहनशील नारी भी तो संसार में दूसरी अवतरित नहीं हुई। मुझसे पति की ज़रा-सी उपेक्षा नहीं सही गई और मैंने अपना, उनका और अपने बच्चे का जीवन नरक बना डाला। एक सीता थी जिसने निर्दोष होते हुए भी निर्वासन के दिन धैर्यपूर्वक काटे। पति के प्रेम पर अविश्वास नहीं किया, और बच्चों के प्रति माँ का कर्तव्य निभाते हुए, बच्चों को पिता की गोद में देकर धरती में समाकर अपने स्वाभिमान की रक्षा की।'

नर और नारी को लेकर भी वर्तमान समाज के सामने नई चिन्ताएं आई हैं, विवाह-विच्छेद शायद उसका परिणाम है। दोनों को एक-दूसरे की शायद आवश्यकता नहीं है; परन्तु यह तो अस्वाभाविक स्थिति है, यह तो प्रकृति का विरोध है। वास्तव में नर और नारी एक-दूसरे के पूरक हैं। कला के शब्दों में नर-नारी-सम्बन्धी समस्या का समाधान यह है :—'जो पुरुष समझते हैं कि पुरुष को नारी

की आवश्यकता नहीं और जो नारी समझती है कि नारी को पुरुष की आवश्यकता नहीं; वे दोनों अपने-आपको धोखा देते हैं।' यदि नर-नारी एक-दूसरे के पूरक हैं तो फिर अशान्ति, उखाड़-पछाड़ और नरक का कोलाहल क्यों ? इसका उत्तर है, प्रेम का अभाव, पारस्परिक सौहार्द्र्य और समझ की कमी। 'ममता' में इसका प्रतिपादन किया गया है।

किन्तु आधुनिक पीढ़ी इसका एकमात्र उपाय विवाह-विच्छेद ही मानती है। वह कहती है जब न्याय ने दुखी नारियों के लिए मार्ग बना दिया है तब पति के अन्याय के आगे मस्तक झुकाने की क्या आवश्यकता है ? इसके विपरीत प्रेमीजी का रजनीकांत कहता है :—'असल वस्तु है संस्कारों का बदलना।' और यदि संस्कार न बदले जा सकें तो उसका उत्तर है,—'यदि वास्तव में विवाह के द्वारा दो जीवनों का सर्वनाश होता हो, एक जीवनव्यापी संघर्ष और अशान्ति की सृष्टि होती हो तो विच्छेद हितकर ही होता है।'

प्रश्न उत्पन होता है कि संस्कार कैसे बदले जायें ? इसका उत्तर प्रेमीजी आस्तिक दृष्टिकोण बनाने में ही देखते हैं। विनोद-जैसा कुसंस्कारी व्यक्ति अन्त में छल-कपट को अनुपयोगी पाकर कहता है :—

'मैं अब मृत्यु के तट पर खड़ा हुआ जीवन की अंतिम घड़ियाँ गिन रहा हूँ। छल, प्रपंच और हत्या ही मेरे जीवन के नित्यकर्म रहे हैं। कितनों की अरमानों से भरी वस्तियाँ मैंने उजाड़ी हैं। पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक में मेरा कभी विश्वास नहीं रहा। संसार में ईश्वर नाम की कोई शक्ति है, इसे भी मैं नहीं मानता था; किन्तु आज अनुभव करता हूँ कि कहीं ईश्वर है अवश्य, जो पापियों को दंड देता है।'

इस प्रकार प्रेमीजी के सामाजिक नाटक भारतीय आदर्शों और मान्यताओं पर ही आधारित हैं, पाश्चात्य मतों का अन्धानुकरण उनमें नहीं है। सामाजिक समस्या-प्रधान नाटक लिखनेवालों में प्रगतिशीलता के नाम पर उच्छृंखलता का पोषण मिलता है। उनका दृष्टिकोण प्रचारात्मक अधिक है; फलतः उनके साहित्य की चारुता ही नष्ट हो गई है। प्रेमीजी के नाटकों में यह दोष नहीं पाया जाता। सिद्धान्तवाद ने प्रेमीजी के पात्रों की मानव-हृदय की अभिव्यक्तियाँ दबाई नहीं हैं, उन्हें खुलकर सामने आने दिया है। बौद्धिकता के नाम पर वर्तमान नाटककारों में जो एक अहं या दम्भ का भाव आ गया है, प्रेमीजी की कला उससे दूर है। अपने व्यक्तिगत जीवन में वे जितने सरल हृदय हैं; अपनी कला में भी उतने ही निश्छल और सरल हैं।

डा० सोमनाथ गुप्त ने एक स्थान पर लिखा है—'प्रेमीजी के नाटक अपनी ऐतिहासिक परम्परा से विदा ले चुके हैं। उन्होंने व्यक्ति और समाज की समस्याओं

को अपना विषय बनाना आरम्भ किया है, परन्तु उन्हें उसमें सफलता नहीं मिली है। उनका कथानक तो स्पष्ट है, परन्तु समर्थन में प्रौढ़ता की कमी है।' डा० गुप्त के इस मत से हम बिल्कुल सहमत नहीं हैं। पिछले दो अध्यायों में हमने प्रेमीजी के ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों की समस्याओं का ही उद्घाटन किया है। इसे देखकर डा० गुप्त की आलोचना सारहीन जान पड़ती है। वैसे भी डा० गुप्त ने जो फ़तवा दिया है, वह उनके आलोचक का निष्पक्ष गुण नहीं है। निष्पक्ष आलोचक लेखक की प्रगति और उसके विकास का धीरज के साथ अध्ययन करता है। डा० गुप्त ने जब यह फ़तवा दिया था, तब से लेकर आजतक प्रेमीजी लगभग एक दर्जन नाटक और लिख चुके हैं। यदि प्रेमीजी ने नाटक लिखने बन्द कर दिये होते अथवा उनकी कला का मार्ग अवरुद्ध हो गया होता तो शायद डा० गुप्त का उक्त फ़तवा शोभन लगता।

पाँच

अभिनय की दृष्टि से प्रेमीजी के नाटक

साहित्य-शास्त्रियों ने ललित कलाओं में काव्य, और काव्यों में नाटक को श्रेष्ठ माना है। नाटक का दृश्यत्व होना ही उसकी श्रेष्ठता का कारण है। काव्य-कारों को शब्दों-द्वारा भावों का बिम्ब खड़ा करना पड़ता है। जब तक हमारी आँखों के आगे किसी भाव-विशेष का चित्र अंकित न हो जाय, हम आनन्द नहीं ले सकते। शब्दों द्वारा कवि वैसा यथार्थ बिम्ब उपस्थित नहीं कर सकता, जैसा नाटक में अभिनेताओं द्वारा किया जा सकता है। मूर्त का प्रभाव अमूर्त की अपेक्षा अधिक होता है। नाटक में सामाजिक सब-कुछ सामने घटते देखता है। यही अभिनय है। वास्तव में नाटक शब्द की व्युत्पत्ति नट् धातु से हुई है, जिसका अर्थ है सात्त्विक भावों का प्रदर्शन। दूसरे अर्थ में नाटक का सम्बन्ध नट अर्थात् अभिनेता से होता है, और उस की विभिन्न अवस्थाओं की अनुकृति को ही नाट्य अथवा अभिनय कहते हैं। अभिनय के द्वारा ही नाटक जनता के सामने जीवन का यथार्थ चित्र रखता है। नाटक का रंगमंच पर अभिनय होना उसकी पहली शर्त है। श्रव्य-काव्य से वह इसी बात में तो अलग है। यदि अभिनय नाटक की शर्त न होती तो फिर दृश्य-काव्य की अलग कोटि निर्धारित करने की आवश्यकता ही न होती।

अभिनय नाटक का एक आवश्यक तत्त्व है; वस्तुतः नाटकीय वस्तु की अभिव्यक्ति का नाम ही अभिनय है। भारतीय आचार्यों ने तो—आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक—अभिनय के चार भेद भी कर दिये हैं। वास्तव में जो नाटक रंगमंच पर अभिनीत नहीं हो सकते, उन्हें दृश्य-काव्य कहलाने का अधिकार ही नहीं है। नाटक की रंगमंचोपयोगिता के बारे में स्वयं प्रेमीजी का कथन इस प्रकार है :— 'नाटक लिखा जाए तो उसे खेला भी जाना चाहिए। खेला जा सके ऐसा ही नाटक लिखना चाहिए। मुझे इस बात का सन्तोष है कि मेरे नाटक देश के कोने-कोने में खेले जा चुके हैं।' स्पष्ट है कि प्रेमीजी ने अपने नाटक अभिनय की दृष्टि से लिखे हैं।

आजकल कुछ आलोचकों ने कुछ असमर्थ लेखकों के स्वर-में-स्वर मिलाकर अभिनयपूर्ण नाटकों के लिए विभिन्न प्रकार की पाबन्दियाँ लगा दी हैं, जैसे—नाटक में गीत नहीं होने चाहिएं, स्वगत भाषण नहीं होने चाहिएं, दृश्यों का परिवर्तन नहीं होना चाहिए, आदि-आदि। लेकिन जब हम नाटक को—जीवन की पूर्णता को स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करनेवाली साहित्य-विधा मानते हैं तो फिर ये प्रतिबन्ध क्यों?

नाटक को सब कलाओं में श्रेष्ठतम माना गया है, क्योंकि सभी कलाओं का उचित समन्वय नाटक में हो जाता है। नृत्य, संगीत, स्थापत्य, मूर्त्ति, चित्र और काव्यकला सभी का समावेश नाटक में होता है। मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि का आधार नाटक में बराबर बना रहता है। ऐसी दशा में किसी विशेष गुण-धर्म को वर्जित करना कहाँ तक उपयुक्त कहा जा सकता है ?

साधारणतया अभिनय योग्य नाटक में देखना होता है कि उसका दृश्य-विधान कहाँ तक रंगमंचोपयोगी है, उसका यथावत् अभिनय हो सकता है कि नहीं, नाटक का कलेवर सीमित है या नहीं, कथोपकथन संक्षिप्त, सरल, सजीव, पात्रानुकूल और स्वाभाविक हैं या नहीं, रंग-संकेतों का उपयुक्त प्रयोग किया गया है कि नहीं ? आदि। प्रेमीजी के नाटक प्रायः इन गुणों से पूर्ण हैं। साहित्य और रंगमंच दोनों की ही निधि उन्हें कहा जा सकता है :—

दृश्य-विधान—'रक्षाबन्धन' का दृश्य-विधान इस प्रकार है—१. चित्तौड़ के महाराणा विक्रमादित्य का भवन, २. मेवाड़ के वन की पगडंडी, ३. राजभवन की वाटिका, ४. मांडू का राजमहल, ५. चित्तौड़ का भीतरी भाग, ६. गंगा-तट या चम्बल का तट। ये दृश्य आसानी से रंगमंच पर प्रस्तुत किए जा सकते हैं। दो दृश्यों के परिवर्तन में बीच में एक ऐसा दृश्य रखा गया है जो सुविधा प्रदान करता है। कोई अस्वाभाविक दृश्य भी नहीं है। नदी-तट के दृश्य के सम्बन्ध में शायद आपत्ति हो। किन्तु चित्रकला की सहायता से पृष्ठ-भूमि में पर्दे पर यह दृश्य प्रस्तुत किया जा सकता है। चित्रकला की सजीवता में किसे सन्देह हो सकता है ?

'शिवा-साधना' का दृश्य-विधान अवश्य ही निर्दोष नहीं कहा जा सकता; इसकी कहानी आगरा, दिल्ली, बीजापुर, रामगढ़, जंजीराद्वीप, पूना और सितारा में फैली हुई है। इससे स्थान की एकता के साथ समय की एकता भी नष्ट हो जाती है। प्रथम अंक का तीसरा दृश्य है बीजापुर का क़िला, जिसमें शाहजी को एक दीवार में चुना जा रहा है। चौथा दृश्य है—रामगढ़ में शिवाजी का मोरोपन्त से परामर्श। पहले दृश्य का पट-परिवर्तन करते ही उसकी ईंटें आदि हटाने के लिए समय कहाँ से आयेगा ? तीसरे अंक के दूसरे और तीसरे दृश्य भी विशाल हैं। आगे-पीछे इनका निर्माण करना सरल काम नहीं है।

'प्रतिशोध' में अधिकांश घटनाएँ राजमहलों या जंगलों में घटती हैं। थोड़े से श्रम और हेर-फेर से ही ये दृश्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं। एक के बाद दूसरे दृश्य के निर्माण में कोई कठिनाई नहीं होती, बल्कि सहायता ही मिलती है। नदी-तट, मन्दिर और लाल क़िला के दृश्य पर्दों की सहायता से उपस्थित किये जा सकते हैं। 'आहुति' के दृश्य भी 'प्रतिशोध' के ही अनुकरण पर रखे गये हैं। 'स्वप्न-भंग'

का दृश्य-विधान 'शिवा-साधना' की भाँति सदोष है। दारा के महल के बाद ताजमहल का चबूतरा कष्ट-साध्य है।

'विषपान' अभिनय के लिए उपयुक्त नाटक है। इसका दृश्य-विधान अधिक सरल और कम श्रमसाध्य है। वाटिका, राजमहल, पगडण्डी, झील का तट, राज-दरबार आदि दृश्य ही इसमें रखे गये हैं। एक के बाद दूसरे दृश्य को सरलता से दिया जा सकता है, एक दृश्य का विधान तीसरे दृश्य में काम आ जाता है। 'विष-पान' की भूमिका में लेखक ने नाटक की रंगमंच की उपयोगगिता पर विस्तार से विचार किया है।

'उद्धार' का दृश्य-विधान अत्यन्त उपयुक्त, सरल तथा नाटकीय है। पहले अंक के दृश्य हैं—एक खेत, राजवाटिका, राजमहल, राजवाटिका, एक झोंपड़ी, पहाड़ की तलहटी, राजदरबार। इनमें कोई भी ऐसा दृश्य नहीं जो आगामी दृश्य के निर्माण में बाधक हो। छोटे-से-छोटे निर्माण योग्य दृश्य के पहले ऐसा दृश्य है, जिसे बनाने की आवश्यकता ही नहीं। दूसरे, तीसरे अंकों में भी यही सुविधा है। राजभवन के पहले जंगल या वाटिका के दृश्य हैं, जिनसे राजभवन के दृश्य बनाने में सहायता मिल जाती है।

'शपथ' में पहले अंक में—वाटिका, अन्तःपुर, वन-पथ, सैनिक-शिविर, उपवन, शयन-कक्ष, गुहा-द्वार, मार्ग आदि दृश्य हैं। इनमें कुछ को पर्दे की सहायता से पृष्ठभूमि में दिखाया जा सकता है, कुछ को एक के बाद प्रयोग में लाया जा सकता है। शेष अंकों में भी यही स्थिति है। तीसरे अंक के दृश्य तो प्रायः एक-दूसरे के बहुत ही सहायक हैं।

'प्रकाश-स्तंभ' की भूमिका में प्रेमीजी ने कहा है—'इस नाटक का रचना-कौशल मेरे अन्य नाटकों से थोड़ा भिन्न है।···मेरा यह नाटक केवल दो सेटिंग्स पर खेला जा सकता है और दृश्यों की संख्या भी इसमें थोड़ी है।' लेखक ने सम्पूर्ण नाटक में जो दृश्य रखे हैं, वे इस प्रकार हैं—सरोवर का तट (पहले अंक के दोनों दृश्यों में यही रहता है), गुफा का दृश्य (दूसरे अंक के तीनों दृश्यों में यही रहता है) और तीसरे अंक में भी यही दृश्य बना रहता है। इस प्रकार यह नाटक पहले नाटकों की अपेक्षा दृश्य-विधान की दृष्टि से कहीं अधिक उत्तम है।

'शतरंज के खिलाड़ी में' फिर वही पुरानी पर्दा-प्रथा है। किन्तु दृश्य-विधान श्रमसाध्य नहीं है। सभी दृश्य एक-दूसरे के निर्माण में सहायक हैं। 'कीर्ति-स्तम्भ' भी अन्य नाटकों की भाँति तीन अंकों और अनेक दृश्यों में विभाजित है। प्रेमीजी के अनुसार—'अंकों में दृश्यों को विभाजित करने से रंगमंच पर अधिक क्रियाएं एवं अधिक घटनाएं होती हुई दिखाई जा सकती हैं, जिससे नाटक में अधिक चुस्ती और गति आती है।' इस नाटक में एक भी ऐसा दृश्य नहीं जो मंच पर न दिखाया

जा सके। राजमहल, मन्दिर, वन, पर्वत-प्रदेश आदि के स्थानों को तो उस दृश्य से सम्बद्ध पर्दों और पखवाइयों से दिखाया जा सकता है। 'कीर्ति-स्तम्भ' के लिए चित्रकला और कार्डबोर्ड से सहायता ली जा सकती है। वास्तव में दर्शकों की कल्पना पर भी विश्वास करके चलना चाहिए। इस नाटक में युद्ध आदि के दृश्य सूच्य-वस्तु के रूप में प्रस्तुत किए गये हैं। नदी आदि का दूर से अनुमेय रूप ही उपस्थित किया गया है। अग्नि का दृश्य भी सूच्य-वस्तु है। हाथियों, घोड़ों, पशु-पक्षियों के लिए कार्ड-बोर्ड या पर्दों से सहायता ली जा सकती है और इनकी बोलियाँ रिकार्डों की सहायता से पृष्ठभूमि से दी जा सकती हैं। गुफा और पाषाण-खंडों के दृश्य श्रमसाध्य तो हैं, परन्तु असंभव नहीं।

'संरक्षक' में दृश्य इस प्रकार हैं—राजमहल का शयनकक्ष, वन-प्रदेश, विशाल कक्ष, मैदान, नदी-तट, राज-सभा। ये सभी दृश्य प्रथम अंक में हैं और एक-दूसरे के साधक नहीं हैं। असंभव और श्रमसाध्य भी कोई नहीं है। दूसरे अंक में प्रथम दृश्य एक खेत का है। दूसरा दृश्य युद्ध के मैदान का जिसमें नेपथ्य का प्रयोग है, अतः मंच पर दृश्य-विधान की आवश्यकता ही नहीं। तीसरा दृश्य महल का है, चौथा नदी का तट है। पाँचवा राजसभा का कक्ष। तीसरे अंक के दृश्य पहले और दूसरे अंकों के ही समान हैं। 'विदा' की रचना भी रंगमंच को ध्यान में रखकर ही की गई है।

'साँपों की सृष्टि' रंगमंच के अधिक अनुकूल है। नाटक का घटनाकाल बहुत छोटा-सा ही है। घटनाओं के घटने के स्थान भी दो ही हैं, दिल्ली और ग्वालियर। पहला अंक कमलावती के महल के सामने समाप्त हो जाता है। दूसरा अलाउद्दीन के महल में। तीसरा ग्वालियर के क़िले के एक महल के सामने के उद्यान में। दृश्यों की संख्या भी अधिक नहीं है। पहले शंक में चार दृश्य, दूसरे में तीन और तीसरे में दो दृश्य। क्रमशः दृश्यों की संख्या घटती गई है। पहले अंक के चारों दृश्यों का स्थान एक ही है; अतः दृश्य-परिवर्तन का प्रश्न ही नहीं उठता, सरलता से ही नूतनता दी जा सकती है। यही स्थिति अन्य दृश्यों की भी है।

प्रेमीजी के सामाजिक नाटक रंगमंच के और भी निकट हैं। 'बन्धन' और 'छाया' के तो अनेक बार अभिनय हो चुके हैं। नवीन प्रकाशित 'ममता' के सम्बन्ध में प्रेमीजी का कथन ही अभिनेयता की पुष्टि करता है :—'इस नाटक की रचना-शैली मेरे पहले नाटकों से कुछ भिन्न है। यह सारा नाटक एक ही स्थान पर समाप्त हो जाता है। केवल एक सेट का निर्माण करना पड़ेगा और सारा नाटक उस पर खेला जा सकेगा। सारे कथानक को एक ही स्थान पर केन्द्रित करना ज़रा कठिन काम है और मुझे हर्ष है कि यह नाटक रंगमंच पर पूर्ण सफल होगा। इस नाटक में मैंने अंक भी केवल दो ही रखे हैं। ऐसा करना अभिनय करनेवालों के लिए सुविधाजनक रहेगा। इस तरह नाटक दो भागों में बँट जाता है और दर्शकों को एक अंक अर्थात्

एक भाग के पश्चात् थोड़ा विश्राम देकर अगला अंक अर्थात् अगला भाग दिखाया जा सकता है।' सम्पूर्ण नाटक रजनीकान्त के घर पर ही घटित दिखाया गया है। इस प्रकार रक्षा-बन्धन से ममता तक आते-आते प्रेमीजी दृश्य-विधान के सम्बन्ध में बहुत ही सावधान जान पड़ते हैं।

कलेवर—कलेवर की दृष्टि से प्रेमीजी के नाटकों में क्रमिक विकास दिखाई देता है। आरम्भिक नाटकों में उन्हें पात्रों की अधिक संख्या रखने का मोह था; किन्तु धीरे-धीरे वे पात्रों की संख्या कम करते गये हैं। वैसे अधिक पात्रोंवाले नाटकों में भी जो पात्र हैं, उनका रंगमंच पर आगमन यदा-कदा ही होता है। 'रक्षा-बन्धन' और 'शिवा-साधना' में पात्रों की संख्या सबसे अधिक है। 'रक्षा-बन्धन' में बीस पात्र हैं और 'शिवा-साधना' में पचास। 'शिवा-साधना' की भूमिका में प्रेमीजी ने लिखा है—'इस नाटककी पात्र-सूची पर्याप्त लम्बी होगई है, लेकिन इससे नाटक के गठन में कोई शिथिलता नहीं आई, क्योंकि अनेक पात्र ऐसे हैं जो एक-एक या दो-दो दृश्यों में आते हैं, मुख्य पात्र तो शिवाजी, जीजाबाई, रामदास और औरंगज़ेब ही हैं, जिनका अस्तित्व पहले अंक से अन्तिम अंक तक बना रहता है। इन्हीं पात्रों के कारण नाटक के दृश्य अंक तक एक सूत्र में बँधे हुए हैं।' इस सफ़ाई पर भी यह मानना ही पड़ेगा कि पाँच अंकों में फैला यह नाटक निश्चय ही कलेवर की वृद्धि करता है। 'प्रतिशोध' में भी पच्चीस पात्र हैं। 'आहुति' इस दृष्टि से अधिक सफल है। केवल तेरह-चौदह पात्र। इस नाटक का अभिनय भी दो घण्टे में सरलता से हो सकता है। 'स्वप्न-भंग' इससे भी आगे है। इसके सम्बन्ध में लेखक का वक्तव्य इस प्रकार है—'इस नाटक में पात्रों की संख्या थोड़ी है। दारा, औरंगज़ेब, शाहजहाँ और प्रकाश पुरुष-पात्रों में तथा जहाँनारा, रोशनआरा, नादिरा और वीणा स्त्री-पात्रों में बार-बार रंगमंच पर आते हैं। शुजा, मुराद, जयसिंह, जसवंतसिह और महारानी महामाया आदि इस कथा से सम्बन्धित अनेक पात्रों को रंगमंच पर नहीं लाया। यदि पात्रों की संख्या बढ़ा देता तो नाटक बड़ा भी हो जाता और मुख्य पात्रों का पूरा विकास भी न हो पाता।'

'विषपान', 'उद्धार' 'भग्न प्राचीर', 'प्रकाश-स्तम्भ', 'शपथ', 'संरक्षक' आदि में भी पात्रों की संख्या अनुचित नहीं कही जा सकती। 'कीर्त्तिस्तभ' में पात्रों की संख्या उचित है; पृष्ठसंख्या- की दृष्टि से यह कुछ बड़ा जान पड़ता है, परन्तु इसके कलेवर के सम्बन्ध में प्रेमीजी की सफाई इस प्रकार है—'नाटक में पात्रों की संख्या अधिक नहीं होनी चाहिए। थोड़े पात्रों के चरित्र विकसित करने में सुविधा रहती है। इस नाटक में मालवा के सुलतान, गुजरात के बादशाह, दिल्ली के बादशाह, संग्रामसिंह की माता, सिरोहीनरेश और उसकी पत्नी, मेवाड़ की राजकुमारी आनन्द-देवी, राव सूरतान आदि जिनका कथानक से कुछ सम्बन्ध है, रंगमंच पर लाये ही

नहीं गये । किसी पात्र को एक-दो दृश्य में लाना कुछ जँचता नहीं है । उनके चरित्रों को भलीभाँति प्रकट करने के लिए उनसे सम्बन्ध रखनेवाले दृश्य बढ़ाने पड़ते हैं और नाटक उपन्यास की भाँति बृहदाकार हो जाता है ।

नाटक में अधिक पात्र नहीं होने चाहिए—इसी प्रकार कथानक का फैलाव बहुत लम्बी अवधि में नहीं करना चाहिए । समरभूमि में अस्सी घाव खानेवाले पराक्रमी संग्रामसिंह का चरित्र भारतीय इतिहास में अपने शौर्य, सूझ-बूझ और प्रभाव में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । इस नाटक में यदि मैं उनके सम्पूर्ण जीवन के चित्रण के मोह में पड़ जाता तो नाटक अपने उद्देश्य को तो खो ही देता, साथ ही कथानक की कड़ियाँ शिथिल हो जातीं । अतः 'कीर्त्तिस्तम्भ' का कथानक बहुत थोड़ा सा रखा गया है ।'

प्रेमीजी के ऐतिहासिक नाटकों में सीमित कलेवरता की दृष्टि से 'साँपों की सृष्टि' सर्वोत्तम है । इसमें तीन पुरुष-पात्र और पाँच स्त्री-पात्र हैं, इनमें भी स्त्री-पात्र तो तीन ही प्रमुख हैं । पुरुष-पात्रों में खिज़्र के दर्शन भी कम ही होते हैं ।

कहानी भी बड़े कौशल से प्रस्तुत की गई है । यद्यपि अलाउद्दीन के युग को पूरी तरह चित्रित करने की चेष्टा की गई है, किन्तु पात्रों के कथोपकथनों के माध्यम से । सब घटनाएँ सूच्य-वस्तु के द्वारा दी गई हैं । मुख्य रूप से तो अलाउद्दीन के जीवन के अन्तिम दिनों में हुई घटनाओं का ही चित्रण है । सीमित कलेवरता की दृष्टि से छाया, बन्धन, ममता और साँपों की सृष्टि को सर्वोत्तम कहा जा सकता है । 'ममता' इनमें भी उत्तम है ।

कथोपकथन—प्रेमीजी के नाटकों के कथोपकथनों के सम्बन्ध में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है—'नाटकों का प्रभाव पात्रों के कथोपकथन पर बहुत कुछ अवलम्बित रहता है । श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' के कथोपकथन 'प्रसाद'जी के कथोपकथनों से अधिक नाटकोपयुक्त हैं । उनमें प्रसंगानुसार बातचीत का चलता स्वाभाविक ढंग भी है और सर्व-हृदयग्राह्य पद्धति पर भाषा का मर्म-व्यंजक अनूठापन भी । 'प्रसाद'जी के नाटकों में एक ही ढंग की चित्रमयी और लच्छेदार बातचीत करनेवाले कई पात्र आ जाते हैं । प्रेमीजी के नाटकों में यह खटकनेवाली बात नहीं मिलती ।'

आचार्य शुक्ल की इस आलोचना से विपरीतता नहीं होनी चाहिए । मतभेद के लिए गुंजायश नहीं है । वास्तव में प्रेमीजी के कथोपकथन सरल, सरस, संक्षिप्त, प्रभावोत्पादक, व्यंजक, स्वाभाविक और पात्रानुकूल हैं । हृदय के उद्गारों की आँधी को कम-से-कम शब्दों में व्यक्त करना प्रेमीजी को ही आता है । 'प्रसाद'जी में भी यह गुण था । 'रक्षाबन्धन' में दुःखी श्यामा से प्रश्न किया गया—'तुम कौन हो, यदि कष्ट न हो तो मुझे भी अपने दुःख में भाग लेने दो' । श्यामा ने उत्तर दिया—'सुनो

मैं हूँ, डाल से तोड़ी हुई, पैरों से रौंदी हुई कलिका, मैं हूँ मूर्च्छित हाहाकार, मैं हूँ ऊपर से बन्द किन्तु भीतर चिर प्रज्वलित ज्वालामुखी।'

अपनी व्यंजना और तीखी चोट करने के कारण प्रेमीजी के कथोपकथन बहुत ही प्रभावोत्पादक हैं।'बन्धन' और 'छाया' के कथोपकथन बहुत ही चोट करने-वाले हैं। 'बन्धन' का प्रकाश तो जो कुछ भी कहता है, व्यंग्य से परिपूर्ण ही रहता है। मालती पूछती है—'तो आज मिल में काम नहीं हुआ ?' इस पर प्रकाश कहता है—'काम तो बहुत हुआ। कई मजदूरों के सिर फटे। बहुत-सा कोलाहल हुआ। पुलिस आई, डाक्टर आये। शहर के नेता आये, सरकार के मैजिस्ट्रेट आये। इतना काम तो मिल में पहले कभी नहीं देखा।' और भी—'हिंसा करना ही मनुष्य की विजय है। देखती नहीं हो ये अपने विलास के साधन। सोने-चाँदी के बर्तन, सोफ़े-कोच, मोटर-बग्घी ! ये सब क्या हैं ? ये इन्सान की लाशें हैं। न जाने किस-किस को मारकर उन की खालें हम जमा किये बैठे हैं।' प्रकाश के कथोपकथनों में पूँजीवादी मनोवृत्ति पर सर्वत्र कठोर व्यंग्य मिलता है। 'छाया' में रजनीकान्त भी व्यंग्यात्मक सम्वाद बोलता है। वर्तमान समाज के पाखंड पर वह करारी चोट करता है।

प्रेमीजी के कथोपकथनों की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे आधुनिक युग के अनुकूल हैं; उनमें हमारे दैनिक जीवन के संबंध में, राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। इसी कारण वे सामाजिकों को अपील करते हैं। लगता है जैसे लेखक हमारे मन की ही बात कह रहा है। उनके सम्वाद पात्रों की मनोदशा, उनके बौद्धिकस्तर और उनकी स्थिति के सर्वथा अनुकूल हैं। प्रसादजी के पात्रों की भाँति दार्शनिकता से लदे हुए नहीं।

प्रेमीजी के कथोपकथनों की बड़ी विशेषता है, मनोवैज्ञानिकता। इनमें प्रसंगा-नुसार बातचीत का चलता स्वाभाविक ढंग भी मिलता है। जैसे-जैसे भावावेश बढ़ता जाता है, वैसे-ही-वैसे भाषा की धारावाहिकता भी बढ़ती जाती है, 'उद्धार' में मालदेव और कमला के सम्वादों में यही गुण है :—

कमला—मानव कल्पना और अनुभूति को आंखों से देखे तो उसे सब कुछ दिखाई दे।

मालदेव—इस छोटे से फूल में ?

कमला—जितना दिखाई देता है, उससे कहीं अधिक व्यापक वस्तु का विस्तार होता है।……यह कठोर शरीर के प्राचीर को चीरकर प्राणों में तीर की तरह प्रवेश करता है।

मालदेव—मेरे प्राणों में कभी सुमन-सौरभ-शर ने प्रवेश नहीं किया।

कमला—स्वार्थ और दम्भ ने प्रेम और सहानुभूति जैसी सुरभित और कोमल भावनाओं के लिए वहाँ स्थान छोड़ा ही नहीं है।"

'विदा' में ज़ेबुन्निसा, दुर्गादास, औरंगज़ेब के सम्वादों की भी यही विशेषता है। वैसे अन्य नाटकों में भी इसी कोटि के सम्वाद सर्वत्र पाये जाते हैं।

रंगमंच के लिए नाटकों में स्वगत-कथन का अनेक लेखक महत्त्व नहीं मानते। ऐसे स्वगत-कथन जो रंगमंच पर अन्य पात्रों की उपस्थिति में किसी पात्र द्वारा व्यक्त किए जाते हैं, अवश्य ही अस्वाभाविक होते हैं किंतु जहाँ पात्र अकेला ही मंच पर है वहाँ वह अपने उठनेवाले भावों को व्यक्त करता है। ऐसे स्वगत अस्वाभाविक नहीं कहे जा सकते। इन स्वगतों को एकांत-भाषण कहना चाहिए। ऐसे एकांत भाषण प्रेमीजी के प्रारंभिक नाटकों में कहीं-कहीं पाए जाते हैं। स्वगत-भाषण का तो पूर्ण बहिष्कार किया है। अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण जहाँ भी किया जायेगा, वहाँ एकांत-भाषण का सहारा लेना ही पड़ेगा। यह सच है कि प्रेमीजी ने एकांत-कथनों से बचने की चेष्टा की है; किन्तु फिर भी उनके नाटकों में कथोपकथन स्वगत के रूप में आये ही हैं। कर्त्तव्य-पथ पर चलनेवालों की बलिदान-भावना और मूक प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए एकांत-कथनों का आश्रय लिया है।

परन्तु इन एकांत-कथनों में कहीं-कहीं एक बड़ा दोष यह आ गया है कि वे आवश्यकता से अधिक लम्बे हैं। उदाहरण के लिए 'स्वप्न-भंग' के पहले अंक के पाँचवें दृश्य के आरम्भ में रोशनआरा का एकांत-कथन लिया जा सकता है। गीत के वाद वह पूरे एक पृष्ठ तक चिन्तन करती है। गीत भी उसका एकांत-कथन की भांति है, ऐसी स्थिति में इतना लम्वा एकांत-कथन मन को उबा देनेवाला है। इस नाटक में शाहजहाँ और दारा के एकांत-कथन भी लम्बे हैं।

एकांत-कथनों के अतिरिक्त अन्य पात्रों के कथोपकथन भी कई नाटकों में अपेक्षाकृत अधिक लम्बे हैं। 'रक्षा-बन्धन' में चारणी, विक्रम, माया, हुमायूँ, शाहशेख औलिया, बाघसिंह आदि के सम्वाद बहुत लम्बे हैं। कर्मवती के एकांत-कथनों ने ही इसे पर्याप्त नीरसता दी थी, फिर ये लम्बे कथनोपकथन! 'शिवा-साधना' में भी लम्बे कथोपकथन रखे गये हैं। रामदास, शिवाजी, मसीदखाँ, ज़ेबुन्निसा आदि के सम्वाद अनावश्यक रूप से लम्बे हैं। चौथे अंक के चौथे दृश्य के आरम्भ में ज़ेबुन्निसा का गान और एकांत-कथन उपन्यास की वर्णनात्मकता ला देता है। समस्त दृश्य में ज़ेबुन्निसा के सम्वादों की यही स्थिति है। इसी प्रकार 'कीर्त्ति-स्तम्भ', 'विदा', 'ममता' में भी संक्षिप्त कथोपकथनों के लिए सावधानी नहीं बरती गई। हाल ही में प्रकाशित 'संवत् प्रवर्तन' में भी एक-एक पृष्ठ के लम्बे सम्वाद हैं।

संक्षिप्त और नाटकीय कथोपकथनों की दृष्टि से 'विषपान', 'उद्धार', 'शपथ', 'प्रकाश-स्तम्भ', 'संरक्षक' को विशेष सम्मान मिलना चाहिए। 'उद्धार' के सम्वाद बहुत ही संक्षिप्त, चुस्त, प्रभावशाली और मार्मिक हैं। साथ ही अत्यधिक

सन्देशवाहक भी हैं। शायद ही ऐसा कोई दृश्य इस नाटक में होगा, जिस पर दर्शक सम्वादों के कारण मुग्ध न हो जाएँ। एक उदाहरण लीजिए:—

'**भूपति**— नर्तकी, तुम यहाँ दर्शन-शास्त्र पढ़ाने आई हो ?

मालती—(आह भरकर) हलाहल में चन्दन की सुगन्धि स्वाभाविक नहीं जान पड़ती, किन्तु क्या करूँ, कभी-कभी पुराने संस्कार जाग पड़ते हैं !······

सुजान—तुम विदुषी और गुणी हो मालती। फिर किसलिए, तुच्छ नर्तकी बनी हो ?

मालती—समाज का न्याय माँ-बाप के अपराध का दंड सन्तान को देता है।

सुजान—तुम अपने जीवन से घृणा करती हो नर्तकी ?

मालती—(हँसकर) घृणा ! किसलिए ? कला अपने-आपमें निर्दोष है, इसे जिस प्रकार के हृदय-प्याले में रखोगे वैसी ही यह दिखाई देगी। मैं कला की साधना करती हूँ, इसमें लज्जा की क्या बात है ?'

'साँपों की सृष्टि' के कथोपकथन भी 'उद्धार' की ही भाँति चुस्त, चुटीले, प्रभावशाली और सन्देशवाहक हैं। बल्कि इनमें कसक अधिक है, अतः शीघ्र ही हृदय को पकड़ लेते हैं। काव्यात्मकता के साथ एक वेदना और प्रोत्साहन दोनों को साथ-साथ रख देना इस नाटक के सम्वादों का गुण है। देखिए—

'**देवल** – विश्राम ! नारी का जीवन ऐसी यात्रा है, जिसमें कहीं विश्राम करने का अवकाश नहीं है। और सच्ची बात तो यह है कि दुःखी जीवन विश्राम से और भी थक जाता है।'

'**कमलावती**—सपने आँखें खोलते हैं, बन्द कर लेते हैं, फिर खोलते हैं। वे पंख फैलाते हैं। ऊँचे आकाश को देखते हैं। उड़ते हैं। क्षितिज को पार करने के प्रयत्न में खो जाते हैं। तरणियाँ अनुकूल वायु पाकर तट पर आती हैं। प्रतिकूल अन्धड़ों के झोंके खाकर फिर मँझधार में जा पहुँचती हैं, किन्तु मानव वही है जो साहस न छोड़े। हमें नए सपने जगाने हैं, उन्हें नई दिशाओं में उड़ाना है।'

'**महारू**—प्रत्येक इन्सान की धड़कनों में जान होनी चाहिए। उसकी अभिलाषाओं के पंखों में आसमान के छोर नापने की जवानी होनी चाहिए।'

'साँपों की सृष्टि' में आदि से अन्त तक बाहरी और भीतरी द्वन्द्व निरन्तर बना रहता है। एक अजीब हलचल-सी बनी रहती है; अतः इस नाटक के कथोपकथन भी आदि से अन्त तक ओजस्वी बन पड़े हैं। इतिहास की घटनाओं का उल्लेख भी जिन सम्वादों में है उनका भी अपना एक प्रभाव है, कोरी इतिहास-वर्णना वहाँ नहीं है।

रंग-संकेत ही एक ऐसी विशेषता है, जिससे नाटक रंगमंच के अधिक उपयुक्त हो जाया करते हैं। प्रेमीजी के नाटकों में आरम्भ में तो रंग-संकेतों का उपयोग बहुत

ही कम हुआ है। किन्तु धीरे-धीरे वे इसकी आवश्यकता अनुभव करते गये हैं और निरन्तर स्थान, समय, दृश्य-विधान पात्रों की वेष-भूषा, मुखाकृति, कथोपकथनों आदि के सम्बन्ध में संकेत देते गये हैं। 'रक्षाबन्धन', 'आहुति', 'भग्न प्राचीर', 'प्रतिशोध', 'शिवासाधना', 'स्वप्न-भंग' आदि में रंग-संकेतों का पर्याप्त प्रयोग नहीं है किन्तु 'विष-पान', 'शपथ', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'प्रकाशस्तम्भ', 'कीर्ति-स्तम्भ', 'संरक्षक', 'विदा', 'संवत् प्रवर्तन' तथा 'साँपों की सृष्टि' और सामाजिक नाटकों में रंग-संकेतों से पर्याप्त सहायता ली गई है।

आरंभिक रचनाओं में प्रेमीजी केवल शयन-कक्ष, राजमहल, वन आदि स्थान-सूचक शब्दों का प्रयोग कर देते थे, किन्तु बाद की रचनाओं में उन्होंने स्थान की पूरी सज्जा दी है। दृश्य को सजाकर सामने रख दिया है। इससे एक ओर जहाँ नाटक के निर्देशन में सहायता होती है, वहाँ पाठक को अपने सामने दृश्य का साक्षात्कार भी हो जाता है। 'संरक्षक' में दृश्य-विधान देखिए—'कोटा के राजमहल में महाराव उम्मीदसिंह का शयनकक्ष। महाराव रुग्णावस्था में शैया पर शयन कर रहे हैं। एक दासी पंखे से हवा कर रही है। एक सेवक उनके पाँव दबा रहा है। राजवैद्य महाराव की नाड़ी देख रहे हैं। पर्यंक के निकट हाथी-दाँत की पच्चीकारी की हुई शीशम की तिपाई पर स्वर्ण-पात्रों में औषधियाँ रखी हैं। कक्ष में उपयुक्त स्थानों पर ढाल, खड्ग, भाले, धनुष-बाण आदि अस्त्र-शस्त्र रखे हुए हैं। दीवारों पर सिंहों की मुखों सहित खालें टँगी हुई हैं। फ़र्श पर बहुमूल्य कालीन बिछी हुई है। साराकक्ष राजसी ठाठ से सुसज्जित है।' इस प्रकार दृश्य का पूरा चित्र दे दिया गया है। पाठकों के लिए एक वातावरण भी तैयार हो जाता है।

केवल पात्रों के नाम या उनके प्रवेश और प्रस्थान के संकेत देकर ही प्रेमीजी नहीं रह गये। पात्रों की वेश-भूषा, शारीरिक गठन आदि के द्वारा पूर्ण व्यक्तित्व व्यक्त किया है। 'उद्धार' नाटक में सुधीरा का चित्र देखिए—'सुधीरा खड़ी है और सामने देख रही है। उसकी वेश-भूषा स्वच्छ, सुरुचिपूर्ण किन्तु आडम्बरहीन है। सुहाग के चिन्ह नहीं हैं, फिर भी व्यक्तित्व में विरक्ति, उदासीनता अथवा क्लांति का आभास नहीं है। शरीर लम्बा, सुगठित और बलवान है। विशाल और तेजस्वी आँखें महान् आत्मा की द्योतक हैं। अस्तंगत सूर्य की किरणों ने आनन की दीप्ति को बढ़ा दिया है। वह इस प्रकार निश्चल खड़ी है मानो स्वप्न के संसार में खो गई है।'

रंग-संकेतों के द्वारा अभिनेयता को पूर्णता दी गई है। प्राचीन नाट्यशास्त्रकारों के अभिनय के चार प्रकार बताये हैं :—

१. आंगिक अभिनय का सम्बन्ध शरीर के विभिन्न अंगों से है। शरीर के विभिन्न अंगों का संचालन, हाथों का हिलाना, अन्धकार में टटोलना, तैरना, घोड़े पर सवार होना, विभिन्न रसों के अनुकूल दृष्टि में परिवर्तन करना, हँसना, रोना,

लज्जित होकर दृष्टि नीची करना इत्यादि सब कायिक चेष्टाएं इसीके अन्तर्गत आती हैं। प्रेमीजी ने स्थान-स्थान पर कोष्ठकों में आंगिक अभिनय के लिए संकेत दिये हैं। जहाँ-जहाँ उन्होंने चौंककर, तलवार खींचकर, मदिरा-पात्र को नीचे रखकर, मसनद के सहारे बैठकर, इंगित करके आदि शब्दों या वाक्यांशों का प्रयोग किया है वहाँ आंगिक अभिनय को पूर्णता दी है।

२. वाचिक अभिनय का सम्बन्ध वाणी से है। वचनों में, स्वर में विविधता लाना वाचिक अभिनय है। प्यारभरे उलहने से, व्यंग्यभरे स्वर में, उपेक्षापूर्ण हँसी के साथ, कठोर स्वर में, क्रोधपूर्वक आदि शब्द-योजना का प्रयोग वाचिक अभिनय का संकेत है।

३. सात्त्विक अभिनय में सात्त्विक भावों—स्वेद, रोमांच, कम्प, स्तंभ, अश्रु आदि—के अभिनय का भाव रहता है। खोई हुई सी खड़ी है, भावाभिभूत होकर, आँखों में अश्रु भरकर, रोमांच हो जाता है आदि शब्दावली को सात्त्विक अभिनय के लिए निर्देश कहा जा सकता है।

४. आहार्य अभिनय में वेश-भूषा, आभूषण, वस्त्र आदि साज-सज्जा का संकेत होता है। राजा, मंत्री, सेनापति, सेवक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, संन्यासी, तपस्वी आदि सभी की वेश-भूषा अलग-अलग होती है। आहार्य अभिनय के संकेत प्रेमीजी के नाटकों में प्रायः नहीं के बराबर मिलते हैं। यदि वे इधर आगे के नाटकों में ध्यान दें तो कहीं अधिक अच्छा हो।

कहना न होगा कि हिन्दी के अन्य प्रतिभाशाली विख्यात नाटककारों की अपेक्षा प्रेमीजी ने अपने नाटकों में अभिनय का अधिक ध्यान रखा है। अभिनय सफल बनाने में कार्य-व्यापार, कौतूहल, जिज्ञासा और अकस्मात् घटनेवाली घटनाओं का भी बड़ा महत्त्व है। आरंभ और अन्त भी प्रभावोत्पादक होना चाहिए। इस दृष्टि से भी प्रेमीजी के नाटक सफल कहे जा सकते हैं। इस विषय पर हम 'शिल्पपक्ष की दृष्टि से' शीर्षक के अन्तर्गत विस्तार से विचार करेंगे।

एक बात और रंगमंच के सम्बन्ध में प्रायः लोग कहा करते हैं कि नाटक रंगमंच के लिए नहीं लिखे जाते, नाटक के लिए रंगमंच होने चाहिएं। हम इससे सहमत हैं। रंगमंच विज्ञान के अन्तर्गत आता है। विज्ञान मनुष्य को सुविधा देता है, न कि मनुष्य विज्ञान को। ऐसी दशा में वैज्ञानिक उपायों द्वारा उपयुक्त रंगमंच की स्थापना होनी ही चाहिए। रंगमंचीय नाटक के सम्बन्ध में 'कीर्तिस्तम्भ' की भूमिका में प्रेमीजी लिखते हैं :—'भारत के रंगमंचों को विज्ञान की पूरी-पूरी सहायता प्राप्त नहीं है। यहाँ घूमनेवाला रंगमंच नहीं है, अतः यहाँ का नाटककार दृश्य-रचना में अनेक बन्धनों में बँधा रहता है। मान लीजिए अभी एक राजमहल का दृश्य दिखाया गया, इसके बाद फिर किसी बड़े भवन के अन्दर का दृश्य दिखाना है। आज यह भारत के रंगमंच पर

संभव नहीं है। एक गहरे दृश्य के बाद दूसरा दृश्य, जिसमें सजावट भी है, नहीं दिखाया जा सकता, इसीलिए दोनों के बीच कम गहरा दृश्य, जिसमें रंगमंच की बहुत कम चौड़ाई प्रयोग में आये और सजावट भी न करनी पड़े, रखना पड़ता है, ताकि रंगमंच का जो भाग पर्दे के पीछे है, उसमें आगामी दृश्य तैयार रहे। ऐसा करने में कथा को कभी-कभी आवश्यक मोड़ देना पड़ता है, किन्तु यदि नाटककार रंगमंच का ध्यान रखता है तो उसे ऐसा करना ही पड़ता है।' प्रेमीजी के नाटकों की रंगमंचीय उपयोगिता पर इस स्पष्टीकरण की छाया में ही विचार किया जाना चाहिए।

छः

प्रेमीजी के नाटकों में गीत

काव्यों में नाटक श्रेष्ठ है, इसका कारण यही है कि नाटक अपने काव्यत्त्व से रंगमंच पर प्रभावोत्पादकता उत्पन्न कर सामाजिक को रसलीन करता है। नाटक का उद्देश्य अन्य काव्यों की अपेक्षा अधिक रस-संचार करना है। यह रस-संचार केवल वाह्य दृश्य-विधान द्वारा ही नहीं हो सकता। बाह्य दृश्य-विधान एक साधन-स्वरूप है। भाव या रस हृदय की वस्तु है। बाह्य दृश्य जबतक बिम्बरूप में हृदय की वस्तु होकर भाव को प्रत्यक्ष रूप से उत्तेजित नहीं करता, तबतक रसानुभूति सम्भव नहीं है। नाटक में यदि काव्यकृत अनुबंधता नहीं रहे, तो वह आनन्द से बढ़कर उपहास या कौतूहल की वस्तु हो जाय।

रंगशाला के अनुरूप नाटक में काव्यत्त्व का निर्वाह बड़ी योग्यता और बहुज्ञता की अपेक्षा रखता है। पात्रों के संलाप और घटनाओं के चित्रण में निर्देशन-निपुणता से दर्शकों के चित्त पर ऐसा प्रभाव डाला जाना चाहिए कि लोकरुचि परिमार्जित होकर आदर्श की प्रतिष्ठा में तत्पर हो जाय। यह काम काव्यत्त्व के निर्वाह से ही हो सकता है; किन्तु काव्यत्त्व के निर्वाह में नाटक के वातावरण को ऐसा कवित्त्वपूर्ण नहीं बना देना चाहिए कि दुर्बोधता के कारण कार्य में वाधा उपस्थित हो जाय।

प्रेमीजी ने कथोपकथनों को सर्वजन सुलभ और कार्य-व्यापारों की प्रगति के सहायक रूप में रखा है। यद्यपि सम्वादों में भी काव्यत्त्व की संरक्षा की गई है, किन्तु पद्य की प्रभावोत्पादकता को वे जानते हैं, इसलिए काव्यत्त्व के पूर्ण प्रवाह को गीतों द्वारा बहाया है। गीतों में संगीत के कारण, अनुभूति की तीव्रता के कारण आत्म-विभोर और रसलीन करने की जितनी शक्ति है, उतनी गद्य में कहाँ? गीतों की इसी शक्ति को समझकर प्रेमीजी ने बराबर अपने नाटकों में गीतों का प्रयोग किया है।

नाटक में गीतों के औचित्य के सम्बन्ध में प्रेमीजी का मत इस प्रकार है :—
'इस युग के कलाकार चाहते हैं कि नाटकों में गीत न दिये जायें। यदि रंगमंच या चित्रपट का ध्यान न हो, तो नाटकों से गीतों को निर्वासित किया जा सकता है। रससृष्टि में संगीत बहुत सहायक होता है। आलोचक कहते हैं कि वास्तविक जीवन में गानेवाले पात्र नहीं मिलते। पात्रों से गीत गवाना अस्वाभाविक बात है। यह ठीक है कि नाटक का प्रत्येक पात्र गायक नहीं हो सकता, न प्रत्येक स्थान गीतों के लिए उपयुक्त होता है। फिर भी नाटक में दो-एक पात्र ऐसे रखे जा सकते हैं, जिनका गाना कहानी की स्वाभाविकता को नष्ट न करता हो। गीत कथानक के अनुकूल हों

और जो रस, जो वातावरण, जो प्रभाव लेखक उत्पन्न करना चाहता है उसको गहरा करनेवाले हों, मेरे नाटकों के गीत कथानक के अंग हैं।'

हमारे विचार में तो गीत जीवन की स्वाभाविकता है। साधारण जीवन में देखा जाता है कि वे व्यक्ति भी जिन्हें संगीत का तनिक भी ज्ञान नहीं होता, किसी विशेष मनोदशा की स्थिति में गुनगुनाया करते हैं। संगीत के प्रति आकृष्ट होकर अपना काम छोड़ बैठना तो स्वाभाविक है। ऐसी दशा में जीवन को स्वाभाविक रूप में चित्रित करनेवाले नाटक में गीत न हों, यह कैसे सम्भव है ? हृदय और मस्तिष्क दोनों मनुष्यता की पूर्णता के द्योतक हैं। अनुभूति का हृदय से और विचार का मस्तिष्क से सम्बन्ध है। अनुभूति और विचार मनुष्य के जीवन को विकास की ओर ले जाते हैं। इनको लक्ष्य करके ही काव्य को विचारात्मक और भावात्मक रूप दिया गया है। नाटक अपने कथोपकथनों द्वारा विचारात्मक काव्य की कोटि में आता है और गीतों के कारण से भावात्मक कोटि में। मनुष्य के जीवन में अनेक ऐसे क्षण आते हैं जब वह भावावेश में होता है, अन्तर्लीन होता है; ऐसी दशा में गीतों का सर्जन होता है। नाटक में भी ऐसी ही स्थिति की अभिव्यक्ति गीतों द्वारा होती है। नाटक में गीत सभी दृष्टि से होने चाहिये।

प्रश्न यह होता है कि नाटक में गीत कहाँ हों और उनका रूप क्या हो ? पहले प्रश्न का उत्तर तो यही हो सकता है कि वे उपयुक्त स्थान पर ही हों, वातावरण के अनुकूल ही उनको रखा गया हो। गीतों का रूप उनके गुण-धर्म के अनुसार ही होना चाहिये। गीतों का एक बाह्यस्वरूप है, दूसरा आभ्यन्तर। एक देह, दूसरा प्राण। भाव, विचार आदि गीत के बाह्यरूप हैं और ध्वनि, लय, आरोह-अवरोह, ताल, राग आदि उसका प्राण हैं। गीत वह है जो गाया जा सके, जिसमें रागात्मकता आत्म-निवेदन के रूप में प्रकट हो। गीत का आकार संक्षिप्त होना चाहिए, उसभें भाव की एकता होनी चाहिए। एक केन्द्रीयभाव होना चाहिए, जो टेक द्वारा सुरक्षित रहे, अन्य पंक्तियाँ विविध भावों द्वारा केन्द्रीयभाव की रक्षा करें।

प्रेमीजी के नाटकों में गीतों का सुन्दरता के साथ समावेश हुआ है। वे गीतों के अधिनायक हैं। प्रसादजी ने भी नाटकों में गीतों का प्रयोग किया है, किन्तु प्रेमीजी के गीत अधिक नाटकोचित हैं। भावावेश की स्थिति में प्रायः गीतकार कल्पना के लोक में चले जाते हैं या दार्शनिक हो उठते हैं। प्रसादजी के गीतों में यही दोष पाया जाता है। इसके विपरीत प्रेमीजी भावावेश के कारण कल्पना-लोक तक जाते हुए भी संसार की यथार्थ भूमि को नहीं छोड़ पाते। दार्शनिकता का बोझ भी आप अपने गीतों पर नहीं लादते।

प्रेमीजी के गीतों में नाटकीय उपयुक्तता प्रसादजी के गीतों की अपेक्षा अधिक है। उनकी स्वतन्त्र सत्ता चाहे हो न हो, वे वातावरण और प्रसंग से, पात्र

के चरित्र और मनोदशा से अवश्य ही सम्बद्ध हैं। कवि-हृदय की भावुकता के पीछे प्रेमीजी नहीं भागे, नाटककार के संयम से ही आपने काम लिया है। भावों की सरलता और भाषा की प्रासादिकता के कारण कथानक को सजीवता देनेवाले उनके गीत अनायास ही प्रसाद से अधिक नाटकीय हो गये हैं। प्रेमीजी के नाटकों के गीत कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, वातावरण, समय और देश के अनुकूल तो हैं ही, वे सामाजिकों की भावनाओं के साथ भी जुड़े हैं।

सम्वादों की भाँति ही प्रेमीजी के गीतों की भाषा सरल, सरस और प्रवाहमयी शब्दावली से युक्त है। साधारण सामाजिक भी उनसे प्रभावित हो सकते हैं। पात्रों के गहन सुख-दुःख की विभिन्न परिस्थितियों ने गीतों को जन्म दिया है और वे भली प्रकार संगीतात्मक हैं। प्रेमीजी के सभी गीतों में आदि से अन्त तक एकही भाव रहता है और वे स्पष्ट होते हैं। छायावादी युग के कवि होते हुए भी प्रेमीजी उसकी अस्पष्टता से प्रभावित नहीं हुए हैं। गीतों में आये भाव इतने स्पष्ट हैं कि पूरा चित्र ही जैसे सामने आ जाता है।

प्रेमीजी के गीतों ने ही नाटकों को वास्तविक दृश्यकाव्य का रूप दिया है। युद्ध तथा जौहर आदि के दृश्य रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं किये जा सकते, इनकी प्रतीति प्रेमीजी ने सम्वादों के साथ गीतों-द्वारा भी कराई है। गीतों की शैली सरल, स्पष्ट और संक्षिप्त होनी चाहिए। यह गुण प्रेमीजी के गीतों में पूर्णतया पाया जाता है। भाषा की दुरूहता से प्रेमीजी बचते हैं और भावों की गहनता को पास नहीं फटकने देते। भाषा में प्रसाद गुण वर्तमान है। प्रेमीजी के नाटकों में मुस्लिम भी हैं और हिन्दू भी। आपने अपने सम्वादों की भाँति गीतों में भी मुस्लिम पात्रों से उर्दू-भाषा मिश्रित गीत गवाये हैं। उर्दू के भी प्रचलित शब्द ही लिये हैं।

भावानुकूल भाषा के द्वारा गीतों को प्रभावशाली रूप दिया गया है। राष्ट्रीय और देशभक्ति-प्रधान गीतों की भाषा में ओज गुण है तो प्रेम और विरह-मिलन के गीतों में माधुर्य। नृत्य-सम्बन्धी गीतों में शब्द-साम्य और ध्वनि-साम्य का चमत्कार दर्शनीय है।

संगीतात्मकता तो गीतों का प्राण है। शब्द-चयन के साथ लय, सुर, ताल, तथा राग-रागिनी का ध्यान भी आवश्यक है। प्रेमीजी के गीतों को हम संगीतात्मकता की दृष्टि से सफल कह सकते हैं। यदि शास्त्रीय दृष्टि से विचार किया जाये तो प्रेमीजी ने समय के अनुसार ही राग-रागिनियाँ रखी हैं। संगीतशास्त्र के अनुसार गीतों के प्रकार ख़याल, ध्रुपद, धमार, ठुमरी, टप्पा, कजरी आदि हैं। प्रेमीजी के अधिकतर गीत ख़याल के अन्तर्गत आते हैं। राष्ट्रीय गीतों में ध्रुपद का रंग मिलता है। गजलों का गायन ठुमरी में और त्योहार-सम्बन्धी गीतों का कजरी में गायन हो सकता है।

गीतों में ताल भी बड़ी नहीं है। अधिकांश गीत त्रिताल, दादरा और कहरवा में गाये जा सकते हैं। मध्य और द्रुत लयों का ही प्रेमीजी ने अधिक उपयोग किया है।

विषय की दृष्टि से प्रेमीजी के गीतों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है—१. राष्ट्र-प्रेम या देश-भक्ति सम्बन्धी, २. एकता के प्रचारक, ३. विरह-गीत, ४. मिलन-गीत, ५. प्रेमसूचक, ६. प्रयाण गीत, ७. मन की विवशता के द्योतक, ८. चरित्र के प्रकाशक, ९. भविष्य के सूचक, १०. वन्दना-गीत, ११. त्योहार-सम्बन्धी, १२. निर्धनता-सम्बन्धी, १३. वातावरण के सृष्टा, १४. दार्शनिक और १५. प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी।

प्रेमीजी के नाटकों में देश-प्रेम और राष्ट्रीय गीतों की ही अधिकता है। उनके राष्ट्रीय गीत उदासीन और सुप्त जनता को जगानेवाले, देश का महत्त्व बताने वाले दृढ़ इरादे के सूचक हैं। इन गीतों में ओजगुण पूर्ण मात्रा में है। कर्त्तव्य की पुकार और आह्वान ने गीतों को ओजगुण दिया है। ये गीत प्रेरक भी हैं और उद्बोधक भी। 'रक्षा-बन्धन' में चारणी के गीत प्रेरकशक्ति लिये हैं। एक नमूना देखिए:—

'तेरी गौरवमयी कहानी,
प्राणों में भर रही जवानी,
बलिपथ पर बनकर दीवानी,
जाती है तेरी सन्तान !
जय जय जय मेवाड़ महान् !'

और

'सोचो तो मेवाड़-निवासी,
माँ को रहने दोगे दासी,
ओ बलिदानों के विश्वासी,
आगे कदम बढ़ाओ !
वीरों, समर भूमि में जाओ !!'

तीसरे अंक के पाँचवें दृश्य में जो समवेत गान—**सजनि ! मरण को वरण करो री !**—है, वह तो नाड़ियों में बलिदान का रक्त प्रवाहित करता है। इसी प्रकार 'प्रतिशोध' में प्राणनाथ प्रभु के गीत निर्जीव प्राणों में भी प्राण फूँकनेवाले हैं। अपनी आन के लिए युद्ध करने की ललकार उनके गीतों में विद्यमान है। 'आहुति' में चपला का गीत और सैनिकों का गान भी इसी कोटि के हैं। 'शिवा-साधना' में झण्डे का गीत भी राष्ट्र-प्रेम को जाग्रत करता है। 'शतरंज के खिलाड़ी' में तांडवी का गीत बहुत ही उत्तेजक है:—

'जो हैं अग्नि-पुत्र तूफ़ानी,
हार उन्होंने कभी न मानी,
यम से भिड़ जाने की ठानी,
मर कर भी न वीर मर पाये !
रण के घन घिर-घिरकर आये !!
जन्म-भूमि का मान न जाए,
रजपूतों की आन न जाए,
बलिवेदी पर होड़ लगाए,
चले, चढ़े, चढ़कर मुसकाए !'

'उद्धार' के दूसरे अंक के पांचवें दृश्य का समवेत गान भी प्रेरक है। नवीनतम रचना 'सम्वत्-प्रवर्त्तन' में भर्तृहरि का गीत 'हम स्वाधीन देश के वासी बन्धन नहीं सहेंगे' भी राष्ट्रप्रेम के दीवानों की बलिदान-गाथा को जगाता है।

साम्प्रदायिक एकता प्रेमीजी के नाटकों का लक्ष्य है। उनके हृदय में एकता की भावना सदा ही जीवित जागृत रही है। 'रक्षाबन्धन' में शाहशेख औलिया अपने गीत से एकता का पाठ पढ़ाता है:—

'आज ख़ुदा ख़ुद हैं हैरान !
पिला रहा है तुम्हें तआस्सुब की शराब शैतान !
कहाँ लिखा है, हमें बताओ खोलो वेद क़ुरान !'

'प्रतिशोध' की ज़ेबुन्निसा का भी यही लक्ष्य है—

'मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर,
सब में रहता है वह दिलवर,
चल इन्सान दुई से बचकर,
पीले जाम मुहब्बत वाला।'

एकता के दीवाने प्रेमीजी के पात्र गा उठते हैं—

'तोड़ मोतियों की मत माला !
मा का मान इसी माला से,
बच रे हृदय द्वेष-ज्वाला से,
कर लें पान प्रेम का प्याला !
इनमें कोई नहीं बड़ा है,
विधि ने इनको स्वयं गढ़ा है,
तू क्यों बनता है मतवाला ?'

प्रेमीजी के पात्रों के हृदय में प्रेम का भी अजस्र स्रोत बहता है, विरह और

मिलन प्रेम के दो छोर हैं। दोनों की ही सुन्दर अभिव्यक्ति प्रेमीजी के गीतों में मिलती है। विरह की व्यंजना देखिए—

'प्रेम-पन्थ पर दुःख ही दुःख है,
प्रेम उन्हीं का जीवन-धन है,
जिनकी सुख से चिर अनबन है,
उन पगलों का पागलपन है,
जिनसे सारा विश्व-विमुख है।'

'रक्षाबन्धन' की श्यामा की विरह-व्यथा भी दर्शनीय है। वह अपने विरह-व्यथित हृदय को इन शब्दों में सान्त्वना देती है—

'अविरत पथ पर चलना री!
सरल चिता-शैया पर सोना,
कठिन दुःख सहना सब खोना,
मिट जाना पर विकल न होना,
तिल-तिल करके जलना री!'

मिलन-गीत भी उत्कृष्ट कोटि के हैं; उनमें वासनात्मक उद्गार कहीं नहीं मिलेंगे। 'शिवा-साधना' की यमुना गाती है तो सईबाई प्रेमातिरेक से मूर्च्छित हो जाती है। प्रेमियों की दुनिया भी क्या ही निराली होती है:—

'आज मिलन की निशि है प्यारी,
आसमान में शशि मुसकाता,
प्राणों में तूफ़ान उठाता,
उधर पवन का झोंका आता,
आज बनी है दुनिया न्यारी!'

इसी प्रकार 'संवत्-प्रवर्तन' में नर्तकी प्रेम को प्रकृति में व्याप्त मानकर गाती है।

प्रेम की अभिव्यक्ति 'शतरंज के खिलाड़ी' में अख्तरी के गीतों में हुई है। वह प्रेम को ही जगत् का जीवन मानती हुई कहती है:—

'नीर है शोभा प्रकृति की,
प्रेम है जीवन जगत् का,
प्रेम से अपने हृदय को,
तू लबालब अब बनाले!'

'रक्षाबन्धन' की श्यामा और 'प्रतिशोध' की विजया तो प्रेम की ही मूर्त्तियाँ हैं। युद्ध के प्रसंग में जो राष्ट्रगीत हैं, वे प्रयाणगीत का अच्छा उदाहरण हैं।

वैसे यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त में जो प्रयाण गीत लिखा है, वैसा प्रवाहमय और परिमार्जित तथा प्रभावशाली गीत प्रेमीजी के नाटकों में नहीं मिलता।

मन की विवशता के द्योतक गीत आपने बहुत ही उत्तम लिखे हैं; इन्हें वेदना-गीत की संज्ञा भी दी जा सकती है। 'प्रतिशोध' की विजया प्रेम से कर्त्तव्य को ऊँचा स्थान देती है, किन्तु मन की आँधी उसे उड़ा ले जाती है। निरन्तर कर्म-लीन उसकी आत्मा एकान्त क्षणों में आकुल होकर कह उठती है:—

बड़ा कठिन मन को समझाना,
क्षण-क्षण जतलाती हूँ मन को,
व्याकुल मत हो तू दर्शन को,
बांध नियम में निज जीवन को,
पर न मानता यह परवाना !'

'स्वप्नभंग' में जहाँनारा के गीतों में मनोदशा के अच्छे चित्र हैं। 'प्रकाश-स्तम्भ' की पद्मा का गीत--**क्यों मृगी को बाण खाने में बहुत आनन्द आता है**—हृदय की सच्ची तस्वीर है। 'उद्धार' की कमला के तो मन की दुनिया ही वेदना का निवास-स्थल है:—

'किन्तु मेरे मन-निलय में,
वेदना का है बसेरा,
ज्योति जगमग है जगत् में,
किन्तु मेरा जग अँधेरा !'

मालती का तो प्राण-धन उसे बन्धन में बाँधकर उसके प्राण लिये लेता है। विवश हृदय का इतना मार्मिक चित्रण अन्यत्र नहीं मिलेगा।

प्रेमीजी के गीत पात्रों के चरित्रों के प्रकाशक भी हैं। 'स्वप्नभंग' की रोशनआरा में प्रतिहिंसा, षड्यंत्र और प्रलय की अग्नि है। वह इन शब्दों में अपना परिचय देती है:—

'मैं हूँ महाप्रलय की ज्वाला,
चाहा जगने मुझे दबाना,
चाहा मुझ को राख बनाना,
चाहा पैरों से ठुकराना,
उसने मुझे नहीं पहचाना,
मैंने पी प्रतिहिंसा-हाला !'

इसके विपरीत जहाँनारा का सरल और भावुक चरित्र उसके शब्दों में इस प्रकार अंकित हुआ है:—

'अरे चाँद है क्यों मुसकाता,
पहने नक्षत्रों की माला,
आता करता हुआ उजाला,
मधुर सुधा बरसानेवाला,
नहीं जानता जग की ज्वाला,
इसीलिए तू हँसता आता।'

प्रेमीजी ने अपने गीतों द्वारा अपने पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का अच्छा चित्रण किया है। 'प्रतिशोध' में प्राणनाथ प्रभु के गीत, 'शिवा-साधना' में स्वामी रामदास तथा अकाबाई के गीत, 'स्वप्न-भंग' के प्रकाश तथा वीणा के गीत, 'रक्षाबन्धन' की चारणी, श्यामा के गीत, 'आहुति' की चपला के गीत उनके हृदय में प्रज्वलित देश-प्रेम की ज्वाला का परिचय देते हैं।

'शिवसाधना' में गोपीनाथ का गीत—**सोच ज़रा मन में इन्सान**—उसके साधु चरित्र का चित्र है तो 'रक्षाबन्धन' का धनदास अपने गीत से अपनी धन-लोलुपता का परिचय देता है। 'प्रतिशोध' में ज़ेबुन्निसा का गीत उसके व्यापक चरित्र पर प्रकाश डालता है। वह विश्वप्रेम, मानवता की पुकार, कोमल हृदयता और शांति से परिपूर्ण है।

दरिद्रता की गोद में पलनेवाले दीन-दुखियों के सरल तथा सादे चरित्र को प्रकट करनेवाले गीत भी प्रेमीजी के नाटकों में हैं। 'विषपान' का कलुआ अपने गीत से अपनी सरल प्रकृति की अभिव्यक्ति करता है। 'बन्धन' के भिखारी और बालिका देश की परिस्थितियों के साथ अपनी निर्धनता से दुःखी हृदय का भी चित्रण करते हैं, सरला के गीत उसके आहत हृदय की उदारता और व्यथा को प्रकट करते हैं।

भविष्य की घटनाओं के सूचक गीत भी नाटकों में मिलते हैं। 'आहुति' में चपला का गीत दर्शकों में कुतूहल की सृष्टि करता है और उसका समाधान होता है यवनों के आक्रमण की सूचना से। गीत देखिए :—

'पगली! तू किस मद में भूली!
आज हिल उठी है गिरि माला,
आज हुआ जीवन मतवाला,
पी-पीकर विनाश की प्याली!'

'विषपान' में मेवाड़ की राजकुमारी कृष्णा प्रकृति के सुन्दर वातावरण में कोयल के गान को बन्द करवाना चाहती है, क्योंकि संसार की कुटिलता और उसमें फँले हुए विष में कोयल की मधुर अमृतरूपी पुकार कुछ न कर सकेगी :—

'जग को जीवन दे न सकेगी,
विष में अमृत मत घोल,
कोयलिया मत बोल!'

इस गीत से आगामी दुःखपूर्ण घटनाओं का पूर्वाभास होता है। अपने विवाह के समय भी कृष्णा का गीत दुःखान्त परिणति की ओर संकेत करता है।

ईश्वर अथवा अन्य देवी-देवताओं के वन्दना-सम्बन्धी गीत भी प्रेमीजी के नाटकों में देखने को मिलते हैं। प्रेमीजी के अधिकांश नाटकों का वातावरण युद्ध-प्रधान है, इसलिए युद्ध के देवता शिव और देवी दुर्गा की स्मृतियाँ नाटकों में अधिक हैं। जहाँ पीड़ा से छुटकारे का अनुरोध है, वहाँ ईश्वर की विनती है। 'रक्षाबन्धन', 'शिवा-साधना', 'प्रकाश-स्तंभ', 'उद्धार' आदि में शिव और दुर्गा की स्तुतियाँ हैं। 'शिवा-साधना' में भवानी की स्तुति प्रवाहमय, प्रभावशाली और पवित्रता की पूर्ति करती है। यह गीत प्रेरक भी हैं :—

'जयति-जयति जय जननि भवानी !
नरमुंडों की मालावाली !
क्यों है तेरा खप्पर खाली ?
मां, तेरे नयनों की लाली—
भरे राष्ट्र में नई जवानी !'

'प्रकाश-स्तंभ' के तीसरे अंक के पहले दृश्य के अन्त में शंकर की स्मृति बहुत ही प्रभावशाली है। शब्द-चयन उपयुक्त, ओजगुणपूर्ण और वातावरण के अनुकूल है। 'उद्धार' में 'कराला काली की जय हो' गीत भी अपने ढंग का अद्भुत है। काली युद्ध की देवी ही नहीं; उत्साह और प्रेरणादात्री भी है :—

'तुम्हारी आँखों का संकेत,
मिला तो, हम हो गए सचेत,
करेंगे प्राप्त मुक्ति अभिप्रेत,
लड़ेंगे हम निःसंशय हो !
कराला काली की जय हो !!'

अनेक विद्वानों की सम्मति में नाटकों की उत्पत्ति सामाजिक कृत्यों, त्योहारों आदि के अवसरों पर होनेवाले नृत्य-गान आदि के द्वारा हुई। ऐसी स्थिति में यदि नाटकों में त्योहारों का वातावरण अंकित हो तो अच्छा ही है। इससे मनोरंजन की सृष्टि में भी सुविधा रहती है। प्रेमीजी ने अपने नाटकों में सामाजिक तथा धार्मिक वातावरण के अवसर पर त्योहारों से सम्बन्धित भावनाओं को व्यक्त करने के लिए मधुर गीत रखे हैं।

'रक्षाबन्धन' में राखी के त्यौहार की मनोरम झाँकी प्रस्तुत की गई है। किन्तु राखी का त्यौहार केवल मनोरंजन का ही नहीं, देश-रक्षा का भी प्रतीक है। झाँकी देखिए :—

'तार-तार में भरकर प्यार,
लाइँ हम राखी अविकार,
इनको करो वीर स्वीकार,
फिर रिपु पर टूटो बन गाज !
प्रेम पर्व आ पहुँचा आज !!'

'आहुति' में भैया-दूज की झाँकी प्रस्तुत की गई है :—

'विमल दूज का दिन है आया ।
रण के रँग में आँखें लाल,
करके आवें मां के लाल,
हम टीका करने ले थाल,
आईं बन्धु साज दें भाल,
ऊषा ने नभ लाल बनाया ।'

दीन-दुःखियों और निर्धनता के अभिशाप की अभिव्यक्ति करनेवाले गीत भी प्रेमीजी के नाटकों में हैं। इनके नाटक में समवेदनात्मकता और भाव-प्रवणता की वृद्धि हुई है। करुणा-प्रधान होने के कारण रस-संचार में भी ये गीत सहायक हुए हैं। भारतीय निर्धनता का अच्छा चित्रण इन गीतों में हुआ है। बन्धन और 'स्वप्न-भंग' में विशेषकर इस प्रकार के गीत हैं। 'बन्धन' में मज़दूरों की दुरवस्था और उनके उत्साह के सूचक गीत हैं। सरला का गीत दुरवस्था का सूचक है :—

'जल रे दीपक जल रे जल !
अम्बर में घनमाला काली, काली निशा उठानेवाली,
अन्धकार की काली प्याली, गरज रही हिंसा अविचल !
चुकता जाता स्नेह तुम्हारा, सूख चली जीवनधारा,
मिटता जाता उजियारा, प्रलय चली आती अविरल !'

मज़दूरों के उत्साह का सूचक गीत देखिए :—

'हमी ने बाग लगाए हैं, हमी ने महल बनाए हैं।
हमी ने राज जमाए हैं, हमारी ही ख़ाली झोली।
अभी तक हम जलते आए, कटीला पथ चलते आये।
हृदय अपना दलते आए, मुक्ति की वंशी अब बोली !'

'स्वप्न-भंग' की वीणा का गीत ग़रीबों के जीवन का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करता है :—

'हमने श्रम कर बाग लगाए,
हमने श्रम कर महल बनाए,
हमने सिर दे राज्य जमाए,

बदले में पाया विष-प्याला !
कौन ग़रीबों का रखवाला !'

वातावरण को प्रस्तुत करनेवाले गीत तो प्रेमीजी की विशेषता है। प्रेमीजी के गीत युद्ध के वातावरण को विशेषरूप में चित्रित करते हैं। अनेक नाटकों में कुछ पात्र—चारणी, तांडवी आदि—ऐसे हैं, जो अपने राष्ट्रीय गीतों से ऐसे वातावरण की सृष्टि करते हैं, जो युद्ध का सन्देश और जनता को स्फूर्त्ति प्रदान करते हैं। जौहर के प्रसंग-सम्बन्धी गीत बलिदान की भावना के द्योतक तो हैं ही, साथ ही उत्साह, करुणा और समवेदना का वातावरण प्रस्तुत करते हैं :—

'सजनि ! मरण को वरण करो री !
पुलकित अम्बर और अवनि है,
आती आमंत्रण की ध्वनि है,
यह सुहाग की रात सजनि है,
चिता-सेज पर शयन करो री !'

जहाँ-जहाँ नृत्य-गान के द्वारा विलासमय वातावरण प्रस्तुत किया गया है, वहाँ गीतों ने उस वातावरण को और भी रंगीन बना दिया है। 'शिवा-साधना' में शाइस्ताखां के महल में सुरा और सुन्दरियों का मेला लगा है। बाँदियाँ सुन्दर पंखे झल रही हैं, इसी समय सितार पर जो गीत गाया जाता है, वह वासना को और भी उद्दीप्त करता है :—

'कोयल गाती गीत निराले,
भौंरे पिला रहे रस प्याले,
छवि पर हैं पतंग मतवाले,
तुम क्यों अपने अरमानों को प्यासे ही लेकर फिर जाते !
मेरे मन तुम क्यों शरमाते !'

'शपथ' में कंचनी का नृत्य और गान यौवन और विलास की मादक मदिरा बिखेर देता है। कंचनी ने जो गीत गाया है, उसमें कवि ने ऐसा संगीतमय शब्द चयन किया है कि उसकी कला देखते ही बनती है। गीत इतना संगीतात्मक है कि पाठक तक के सामने संगीतमय नृत्य का वातावरण सजीव हो उठता है :—

'रुनुन झुनुन झुन, रुनुन झुनुन झुन,
पग के पायल बोले रे !
उर-अन्तर के रंगमंच पर, छवि के पायल बोले रे !
अंग-अंग में चंचल यौवन,
भरता नवचेतन पागलपन,

नाच रही अप्सरी वासना,
तप-संयम-प्रण डोले रे ।

प्रेमीजी जीवन में और उसी प्रकार साहित्य में सरलता और स्पष्टता के पक्षपाती हैं; अतः विचारों की गहनता और अस्पष्टता में वे न तो स्वयं उलझते हैं और न ही अपने पाठकों को उलझाते हैं। यही कारण है कि दार्शनिकता, गहनता उनके गीतों में नहीं है ; जहाँ कहीं दार्शनिकता को लेकर गीत लिखे भी गये हैं, वहाँ वे एक प्रेरणा का ही काम करते हैं। 'सम्वत्-प्रवंतन' में भर्तृहरि का गीत इसी प्रकार का है:—

'चलते जाना ही जीवन है,
हो जाना गतिहीन मरण है,
जबतक प्राणों में स्पन्दन है,
पाल उसे जो ठाना प्रण है ।
तुझे नए युग को है लाना,
पंछी पथ में रुक मत जाना।'

प्रकृति-सम्बन्धी गीतों की ओर भी प्रेमीजी का झुकाव है। किन्तु उन्होंने प्रकृति का शुद्ध चित्रण नहीं किया है। मन की अभिव्यक्ति, अनुभूति की गहराई, और जीवन का सन्देशवाहक बनकर ही प्रकृति प्रेमीजी के गीतों में आई है। उदाहरण के लिए 'स्वप्नभंग' का पहला गीत है। सलीमा आत्म-विस्तार, प्रफुल्ल जीवन का चित्र अपने गीत में प्रस्तुत करती है। प्रकृति को वह अपना आदर्श मानती है। उसकी कामना है:—

'हम जग में मुसकाती आवें,
हम जग से मुसकाती जावें,
जैसे नभ में ऊषा आती,
अवनि-गगन को लाल बनाती,
कुंज-कुंज में फूल खिलाती,
हम भी जग का हृदय खिलावें।'

इसी प्रकार मालिन का गीत है, फूल के बहाने वह भी आत्म-विस्तार का ही पाठ पढ़ती है। 'उद्धार' की कमला भी प्रकृति से नवजीवन का पाठ पढ़ती है:—

'कोयल कूक उठी उपवन में,
नव-विकास है सुमन-सुमन में,
नवजीवन का निर्झर मन में,
नव उमंग भर लहराया'।

प्रेमीजी के नाटकों में बालकोपयोगी सामग्री भी जहाँ-तहाँ है। किन्तु युद्धों

का वातावरण प्रधान होने के कारण उधर उनकी दृष्टि नहीं जा पाई । 'ममता' में में एक लोरी उन्होंने लिखी है जो मा की ममता का अच्छा चित्र प्रस्तुत करती है और बालकों के हृदय में एक आनन्द की हिलोर जगाती है:—

'सो जा मेरे राजदुलारे,
तुझ को निंदिया–परी पुकारे
चिड़ियों के तू पंख लगाले,
फूलों की तू हँसी चुरा ले,
हँस ले माँ को साथ हँसा ले,
वारूँ तुझ पर चाँद-सितारे ।
चन्दा की तू नाव बना ले,
किरणों की पतवार उठाले,
मा को अपने साथ बिठा ले,
ले चल मुझ को स्वप्न किनारे।'

प्रेमीजी वास्तव में कवि पहले हैं, नाटककार बाद में । यही कारण है कि उनके नाटकों में गीतों का सुन्दरता के साथ प्रयोग हुआ है । भावुकता और कल्पना का स्वर्ण-संयोग उनके नाटकों में है । प्रेमीजी के गीतों की यही विशेषता है कि वे काव्य भी हैं और साथ ही परिस्थिति का उद्घाटन करनेवाले भाव-चित्र भी ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि "उनके गीतों के विषय विविध रहे हैं और वातावरण को गति प्रदान करने का गुण उनमें पूर्ण रूप से वर्तमान रहा है । उनके गीतों का सम्वन्ध प्रायः वीर, शान्त, शृंगार और करुण रस या फिर प्रकृति-चित्रण से रहा है । उनके कतिपय गीतों में श्रमिक-जगत् के सुख-दुःखों की भी मार्मिक अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है । उनके गीत भावना और विचार'—दोनों ही की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध बन पड़े हैं और उनमें श्रोता को प्रेरणा प्रदान करने की शक्ति पूर्णरूप से वर्तमान है । ·········सहजता, संक्षिप्तता एवम् प्रवहमानता तो उनके गीतों में है ही, गीतों में प्रवाह-सृष्टि के लिए उन्होंने लोक-गीतों की शब्दावली का भी यथास्थान प्रयोग किया गया है । ············शिल्प-सम्बन्धी अन्य आवश्यकताओं के निर्वाह की दृष्टि से उन्होंने अपने गीतों में एक ओर तो अलंकारों का स्वाभाविक रूप में प्रयोग किया है और दूसरी ओर, अपेक्षित न होने पर भी, अपने गीतों को छन्द-बन्धन में आबद्ध रखने का प्रयास किया है । उन्होंने अपने गीतों में दो, तीन, चार, अथवा पाँच पंक्तियों से युक्त पद्यों का सफल प्रयोग किया है और तुक-निर्वाह की ओर सर्वत्र उचित ध्यान दिया है । उनके गीत सम्बद्ध पात्रों की अनुभूतियों से पूर्णतः समृद्ध रहे हैं और उन्होंने उनकी रचना करते समय व्यर्थ ही अतिरिक्त शब्दों के द्वारा पंक्ति-विस्तार नहीं किया । ·········संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि 'प्रेमी'जी

ने अपने नाटकीय गीतों की रचना एक सुनिश्चित योजना के अनुसार की है और अपने नाटकों एवम् एकांकी नाटकों में उन्हें गीत-प्रयोग करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।"[1]

गीतों की दृष्टि से प्रेमीजी सफल गीतकार हैं, इसमें सन्देह नहीं ; परन्तु यह भी स्वीकार करना होगा कि उनके नाटकीय गीतों में कुछ दोष भी हैं:—

१. अनेक गीतों का आकार आवश्यकता से अधिक बड़ा है ।
२. कई गीतों में पुनरावृत्ति भी है । पहले पद के भाव को, दूसरे पद में दुहरा दिया है ।
३. गीतों की संख्या का आरम्भिक नाटकों में समुचित ध्यान नहीं रखा गया ।
४. कहीं-कहीं एक के बाद तुरन्त दूसरा गीत आरम्भ हो गया है ।
५. अनेक स्थलों पर संयुक्ताक्षरों की भरमार है ; अतः नाटकोचित प्रासादिकता और माधुर्य को आघात पहुँचा है ।

आकार की दृष्टि से 'आहुति' का चपला के नेतृत्व में गाया गया दूसरे अंक के पाँचवें दृश्य का अन्तिम गीत लिया जा सकता है । यह गीत यदि वर्तमान रूप की अपेक्षा इससे आधा होता तो अधिक उत्तम था । 'उद्धार' में पहले अंक के तीसरे दृश्य में मालती-द्वारा गाया गया गीत भी लम्बा है । 'शतरंज के खिलाड़ी' के पहले अंक के छठे दृश्य में अख्तरी का गीत भी थोड़ा लम्बा है । 'संरक्षक' में पहले अंक के दूसरे दृश्य के आरम्भ में दुर्गा का गीत भी चार पदों में पूरा हुआ है । 'संवत् प्रवर्तन' का अन्तिम गीत भी अधिक बड़ा है । 'शिवा-साधना' के चौथे अंक का चौथा दृश्य वाला गीत भी लम्बा ही है ।

अनेक गीतों में यदि कवि पुनरावृत्ति को बचा सकता तो गीत लघु आकार का होकर अधिक प्रभाव डालता और यदि दूसरा पद लिखना ही ज़रूरी होता तो किसी अन्य भावना को विकास मिलता । एक पद की बात ही जब दूसरे पद में दुहराई जाती है तो गीत अपना प्रभाव नहीं डाल पाता । कवि की शब्द और भाव-निर्धनता का भी प्रचार करता है । 'स्वप्न-भंग' का पहला गीत है **'हग जग में मुस्काती आवें ।'** इसके पहले पद में—**'जैसे नभ में ऊषा आती'** है तो अन्तिम पद में फिर—**'सखि, हम ऊषा-सी मुकसावें'** मौजूद है । पहले पद में—**'कुंज-कुंज में फूल खिलाती'**—है तो अन्तिम पद में फिर—**'फूलों-सी फूली न समावें'**—है । दूसरे पद में—**'चाँद सुधा बरसाता आता'** है तो अन्त में फिर—**'शशि सा मादक रूप दिखावें'** मौजूद है ।

अपने आरम्भिक नाटकों में प्रेमीजी ने पर्याप्त संख्या में गीत रखे हैं, किन्तु धीरे-धीरे गीत कम करने की प्रवृत्ति आती गई है । 'रक्षा-बन्धन' में ग्यारह गीत हैं ।

१. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ ; पृष्ठ ७६५-७६६.

तीन अंकों के नाटक में इतने अधिक गीत रखना अधिक उचित नहीं जान पड़ता। अकेले पहले अंक में छः गीत हैं। इस प्रकार अनुपात का भी ध्यान नहीं रखा गया है। 'शिवा-साधना' में भी ग्यारह गीत हैं जिनमें दो गीत दुबारा गाये गये हैं और इस प्रकार संख्या तेरह हो जाती है। 'प्रतिशोध' में आठ गीत हैं; किन्तु एक गीत को तीन बार और दो गीतों को दोबारा दुहराकर यहाँ भी उनकी संख्या बारह तक पहुँचा दी गई है। 'आहुति' में भी नौ गीत हैं। 'स्वप्नभंग' में बारह गीत हैं; किन्तु पुनरावृत्ति ने चौदह संख्या कर दी है। 'शतरंज के खिलाड़ी' में 'आहुति' की भाँति ही नौ गीत हैं। 'विषपान' में केवल छः गीत हैं; एक गीत दुहराया भी गया है। इसकी पुनरावृत्ति नहीं खटकती। 'उद्धार' में भी सात गीत हैं। 'शपथ' में पाँच गीत हैं। यहीं से गीत कम करने की प्रवृत्ति आरम्भ हो जाती है। 'प्रकाश-स्तंभ' में केवल दो ही गीत हैं। 'संरक्षक' में पाँच गीत हैं और 'ममता' में केवल तीन गीत हैं; जिनमें एक लोरी है। इस प्रकार उत्तरकालीन रचनाओं में प्रेमीजी ने गीत-संयोजन में बड़ी सावधानी बरती है। न तो अधिक हैं और न ही पुनरावृत्ति है।

कई स्थलों पर पात्रों से जल्दी-जल्दी गीत गवाये गये हैं। कहीं-कहीं तो पहला दृश्य गीत से समाप्त होता है तो दूसरा दृश्य भी गीत से ही आरम्भ होता है। इससे केवल दर्शकों का मन ही नहीं ऊबता बल्कि नाटकीयता में भी बाधा पड़ती है। 'रक्षा-बन्धन' में यही दोष है। 'रक्षा-बन्धन' में प्रथम अंक के पाँचवें दृश्य के अन्त में चारणी गा रही है और छठे दृश्य के आरम्भ में राखी का गीत फिर आ धमका है। इसी प्रकार एक ही छोटे दृश्य में साथ-साथ गीतों का क्रम चलता है। 'शिवा-साधना' में एक ओर रामदास का गीत चल रहा है कि कुछ ही समय बाद अकाबाई गाने लगती है। सातवें दृश्य में फिर यमुना और सईबाई गाती हुई दिखाई देती हैं। इस प्रकार कथानक की गतिशीलता में बाधा उपस्थित होती है।

कहीं-कहीं संयुक्ताक्षरों ने गीतों का माधुर्य बिगाड़ दिया है। 'रक्षा-बन्धन' में **'आओ हँस लें और हँसा लें'** गीत में पहली पंक्ति है—**'ज्योत्स्ना-ज्योतित जगमग रात।'** इसमें प्रथम दो शब्द संयुक्त हैं। इसके शुद्ध उच्चारण में गायक को कठिनाई होगी। इसी प्रकार 'संरक्षक' में समवेत गान की पहली पंक्ति है—**'मातृभूमि करती आह्वान, करो युद्ध के लिए प्रयाण'**—इसमें मातृभूमि, आह्वान और प्रयाण शब्द स्वर को कष्ट देंगे। 'प्रकाश-स्तम्भ' में तीसरे अंक के पहले दृश्य के अन्त में शंकर-स्तुति है। इसमें प्रलयंकर, सर्वनाश, अनुष्ठान, अमृतधार, त्रिपुरारि आदि शब्द उच्चारण-सम्बन्धी सुविधा नहीं देते। परन्तु रौद्रस्तुति में इस प्रकार के कर्णकटु और परुषावृत्ति वाले शब्दों को स्थान दिया भी जा सकता है।

सात

प्रेमीजी के नाटकों में प्रेम का स्वरूप

प्रेम मानव-हृदय की स्वाभाविक तथा मूल प्रवृत्ति है। अनेक विद्वानों ने साहित्य को मानवात्मा की अभिव्यक्ति मानकर प्रेम को साहित्य की भी मूल प्रवृत्ति माना है। प्रेमीजी स्वयं प्रेम को साहित्य का आधारभूत अंग मानते हैं। प्रेम के बिना जीवन उन्हें श्मशान के समान जान पड़ता है। यही कारण है कि प्रेमीजी के नाटकों में प्रेम का अजस्र स्रोत बहता है। वह प्रेम कहीं तो स्त्री-पुरुष के बीच का प्रेम है; कहीं मानवता का प्रेम और कहीं देश का प्रेम है।

स्त्री-पुरुष के प्रेम को प्रायः लोग वासनामूलक मानते हैं और उसे वासनात्मक रूप में ही चित्रित करते हैं; किन्तु प्रेमीजी के प्रेम का स्वरूप इस प्रथा से सर्वथा प्रतिकूल है। उनके नाटकों का प्रेम आदर्शमूलक है।

'रक्षाबन्धन' में प्रेम का केन्द्र है श्यामा। श्यामा प्रेम को दुःख का कारण मानती है, उसकी दृष्टि में प्रेम :—

'प्रेम उन्हीं का जीवन-धन है,
जिनकी सुख से चिर-अनबन है,
उन पगलों का पागलपन है,
जिनसे सारा विश्व विमुख है।

× ×

प्राणों में होलिका-दहन है,
आँखों में सावन प्रतिक्षण है,
यह कैसा अद्भुत जीवन है ?
जिसमें रोने में ही सुख है।'

श्यामा प्रेम का यह रूप केवल इसलिए चित्रित करती है कि वह उसे संकुचित सीमाओं में देखती है। किन्तु जब चारणी उसे प्रेम का सच्चा स्वरूप समझाती है तो वह मोह-निद्रा से जाग उठती है। चारणी प्रेम का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त करती है :—

'प्रेम हमारे स्वार्थ का सर्वनाश भले ही करे, पर यदि कर्त्तव्य के पथ पर, बलिदान के पथ पर जानेवाले को वह एक क्षण भी विलमा रखे तो उसका गला घोंटना ही पड़ेगा। वह प्रेम नहीं, वासना है, मोह है।' स्पष्ट है कि प्रेम और वासना तथा मोह में अन्तर है। जो कर्त्तव्य सुझाये वही प्रेम है।

'शिवा-साधना' की ज़ेबुन्निसा भी प्रेम की मूर्ति है। इसके लिए शिवाजी का प्रथम दर्शन ही प्रेम वन गया। परन्तु यह भी त्याग और बलिदान को प्रेम का प्रतीक मानती है। यह तड़पने में ही, विरह-ज्वाला से जलने में ही प्रेम की मूर्ति देखती है। परन्तु इसके विचार में प्रेम शब्दों की सीमा से परे की वस्तु है, किसी प्रकार के वाद-विवाद द्वारा हम प्रेम को नहीं पहचान सकते :—'कोई किसी को कैसे बताये कि दुःखी दिल के जज़्बात के मानी समझने के लिए दिल में दर्द पैदा करने की ज़रूरत होती है; लफ़्ज़ों पर बहस करके आजतक किसने किसीके दिल का हाल जाना है।'

'प्रतिशोध' में विजया और बलदीवान के बीच प्रेम है। किन्तु विजया प्रेम की बलि देती है, कर्त्तव्य के लिए। वह बलि तो दे देती है; पर उसका हृदय कराह उठा करता है। नाटककार ने यहाँ बताया है कि प्रेम का आघात तो होता ही है; भले ही हम उसे स्वीकार न करें। इसी नाटक में ज़ेबुन्निसा भी प्रेम की व्याख्या करती पाई जाती है। उसकी दृष्टि में मुहब्बत का मूल्य यह है :—

'भूल बैठे हम मुहब्बत, हँस रहे हम पर सितारे।
अश्क हो जिसमें नहीं वह,
आँख पत्थर से बुरी है।
दर्द से वाक़िफ़ न जो, वह
दिल नहीं पैनी छुरी है।'

ज़ेबुन्निसा का प्रेम मानवतावादी प्रेम है। वह इन्सान को इन्सान के प्रति प्रेम करना सिखाती है। वह औरंगज़ेब का हृदय भी इसी दृष्टि से बदलना चाहती है।

'उद्धार' में कमला का जीवन प्रेममय है। वह तो प्रकृतिमात्र को प्रेम स्वरूप जानती है :—'**फूल कलियों को पिलाते प्रेम-मधु परिपूर्ण-प्याला।**' कमला का विचार है कि प्रेम के क्षेत्र में स्वार्थ और दम्भ के लिए स्थान नहीं है। प्रेम निःस्वार्थ और निश्छल होना चाहिए। मालदेव से कमला कहती है :—'स्वार्थ और दम्भ ने प्रेम और सहानुभूति जैसी सुरभित और कोमल भावनाओं के लिए वहाँ स्थान छोड़ा ही नहीं है।' वह तो प्रेम को हृदय का प्रकाश मानती है। इस नाटक में जाल के शब्दों में—'प्रेम करना दुर्बलता नहीं है।' प्रेम वास्तव में हृदय की शक्ति है। मोह को वह प्रेम का नाम नहीं देना चाहती। वह हमीर से कहती है :—'जन्म-जन्मान्तर तक मैं आपसे नहीं ऊब सकती—किन्तु मैं विवेकहीन अन्धा प्रेम नहीं चाहती। मुझे पाकर आप दुर्दशा-ग्रस्त जन्मभूमि को भूल गए हैं—मैं शीघ्र ही आपको कर्त्तव्य-पथ पर वापस भेजना चाहती हूँ।'

कमला के शब्दों में सच्चा प्रेम वही है जो कर्त्तव्य पर आरूढ़ करता है।

विवेकहीन अन्धा प्रेम तो मोह-जाल है । इस प्रकार प्रेमीजी ने प्रेम का विशुद्ध रूप ही हमारे सामने रखा है ।

'प्रकाश-स्तम्भ' में भी प्रेम पावनतम रूप लेकर आया है । अहंकार के लिए प्रेम के क्षेत्र में स्थान नहीं है । पद्मा को अहंकार है, इसलिए वह बाप्पा की जीवन-संगिनी नहीं बन पाती । प्रेम वास्तविक जगत् की वस्तु है, कल्पना-जगत् की नहीं ।' चम्पा के शब्दों में—'प्रेम को यदि कल्पना के जगत् का मधुर स्वप्न समझते हो तो भले ही अपना राग छेड़े जाओ ।' यद्यपि पद्मा के चित्त में अहंकार था; किन्तु फिर भी वह क्षमताशाली को ही प्रेम का अधिकारी मानती है । प्रेम कायर की वस्तु नहीं; आत्म-गौरव और क्षमता प्रेम की पहली शर्त है । बाप्पा पूछता है कि क्या तुम प्रेम के हेतु राजमहल छोड़ने को प्रस्तुत नहीं हो ? तो वह कहती है :—'मैं तो राजमहल छोड़कर धूल में, मरघट की ज्वाला में भी आसन जमाने को प्रस्तुत हूँ, किन्तु मैं चाहती हूँ कि मेरा प्रेमी धूल से ऊपर उठे, प्रचण्ड मार्तण्ड की भाँति प्रकाशित हो ।'

चम्पा के शब्दों में प्रेम का प्रवाह जब बह चलता है तो फिर किसी के रोके रुकता नहीं है; इसलिए प्रेम-पंथ पर सँभलकर ही पैर बढ़ाने चाहिएँ । चम्पा पद्मा से कहती है :—'नारी हृदय का स्नेह बह चला तो बह चला, उसे रोक सकना तो सर्वथा असम्भव ही है ।'

प्रेम में ईर्ष्या या उपालम्भ के लिए स्थान नहीं होता है । प्रेमी को तो अपने प्रेमास्पद की प्रसन्नता में ही अपनी प्रसन्नता माननी चाहिए । यही आदर्श प्रेम है । चम्पा कहती है:—'तो तुम प्रसन्न नहीं हो इस विवाह से ? तो मैं कहूँगी तुम अपने वाप्पा को प्यार नहीं करतीं । करती होतीं तो उसकी प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता को निमग्न कर देतीं ।'

'शतरंज के खिलाड़ी' की अख़्तरी स्वयं प्रेमीजी की भाँति प्रेम को जगत् का जीवन मानती है । प्यार मरुस्थल में भी सुधा का स्रोत बहा देता है । प्रेम की महिमा गाती हुई अख़्तरी कहती है :—

'डर नहीं, यदि दूर तक पथ
में बिछा मरुथल भयानक !
है यहाँ भी स्नेह का सर
प्यास अपनी तू बुझा ले !

× ×

नीर है शोभा प्रकृति की,
प्रेम है जीवन जगत् का ।
प्रेम से अपने हृदय को,
तू लबालब अब बना ले !'

अख्तरी तो प्रेम के द्वारा ही विश्व पर अधिकार करने के सपने देखती है। कहती है :—'**कह रही मैं प्रेम से तुम विश्व पर अधिकार कर लो।**'

प्रेम के क्षेत्र में बड़ी वाधा होती है, समाज ! कायर प्रेमी प्रायः समाज के नियमों का भय देखते और दिखाते हैं। 'संरक्षक' की दुर्गा इस कायर प्रेमी की समर्थक नहीं है। वह माधोसिंह से कहती है—'समाज के नियमों को मिटा नहीं सकते तो फिर आदर के ऊँचे सिंहासन की बात क्यों करते हो ?'

प्रेम में एकनिष्ठा होनी चाहिए। विवाहित जीवन में प्रेम का यही महत्त्व है। जो पुरुष एक को छोड़कर अन्य नारी को जीवन-संगिनी बनाने की सोचता है, वह भला आदमी नहीं है। दुर्गा कहती है—'जो विवाहित पुरुष किसी अन्य नारी को जीवन-संगिनी बनाने की बात करता है, वह अपनी दुष्टता का परिचय देता है।'

नारी का प्रेम त्याग से परिपूर्ण है। गोवर्धन से दुर्गा कहती है :—'नारी केवल देना जानती है, लेना नहीं। मैं तुम्हारे साथ अंगारों पर चलना पसन्द करूँगी, अभावों को गले लगाऊँगी, प्रत्येक संकट में तुम्हारे साथ रहूँगी और तुम पर होनेवाले प्रहारों को अपने ऊपर ले लूँगी।'

वस्तुतः नारी प्रेम का व्यापार नहीं करती है। प्रेम आत्म-समर्पण सिखाता है, आस्था देता है। प्रेम में प्रेमास्पद की बुराइयाँ भी भलाइयाँ बन जाती हैं। सच्चे प्रेम की यही परिभाषा है। दुर्गा कहती है :—'नारी भूल से भी जिसे स्वीकार कर लेती है, उसके प्रति अपनी आस्था को अटूट रखती है। वह उसकी बुराइयों की ओर से आँखें बन्द कर लेती है। वह उसके अन्यायों को भूल जाती है।' यह है स्त्री-पुरुष का आदर्श प्रेम !

प्रेम का पावन रूप प्रस्तुत करने के लिए ही प्रेमीजी ने संगीत-रूपकों अथवा 'आपेरा' की रचना की। पंजाब की प्रसिद्ध प्रेमपूर्ण लोक-गाथाओं को लेकर तो उन्होंने संगीतरूपक लिखे ही; इससे पहले भी वे 'स्वर्ण-विहान' नामक गीतिनाट्य लिख चुके थे।

'स्वर्ण-विहान' में प्रेमीजी ने प्रेम को बहुत ऊँचा दर्जा दिया है। बिना प्रेम के जगत् का जीवन ही नीरस हो जाता है। रुग्णा कहती है :—

'स्नेह-हीन होकर जगती के शुष्क हुए हैं प्राण !
टिम-टिम जगमग से तो अच्छा हो जाना निर्वाण !'

संन्यासी प्रेम से ही पापाचार को जीतने का आदेश देता है, जैसा कि गाँधीजी का दर्शन था !—'**जीत प्रेम से पापाचार।**' और '**वत्स, प्रेम के बल से बदलो नृप के उर के कठिन विचार।**' संन्यासी की वाणी में तो प्रेम ही उदार भगवान् है, प्रेम ही अनन्त अविकार विराट् है :—

'प्रेम ही है भगवान् उदार,
प्रेम ही है अनन्त अविकार,

× ×

अपनी ही आँखों का तारा हुआ आँख की ओट।
एक क़दम पथ ही तो हमको, दिखता पारावार।
घर की दहली पर ही चढ़ने खोज फिरे संसार,
पल भर भी यदि आँखें मूँदो मिलते प्राणाधार!
प्रेम ही तो है प्राणाधार!'

लालसा के मन में जितनी भी जिज्ञासाएँ, शंकाएँ और कोलाहल है, सुवाणी उन सबका समाधान प्रेम में ही खोजती है :—

'सब के मानस में है सजनी वही प्रेम की प्यास।
सबको पागल करती रहती वही प्रेम की फाँस।
सखि, सबके उर से उड़ते हैं, वही प्रेम उच्छ्वास।'

प्रेम ही अपरिचित प्राणों को एक सूत्र में बाँध लेता है :—

'यही प्रेम का नियम चिरन्तन यही प्रेम का खेल महान्!
अनचाहे, अनजान, अपरिचित के चरणों पर चढ़ते प्राण!'

प्रेम आत्मा को अमर बना देता है, प्रेम की शक्ति के आगे शस्त्रों की शक्ति भी काम नहीं आती :—

प्रेम ही है वह शक्ति अपार,
काटती जो शस्त्रों की धार।'

प्रेम विश्वास चाहता है, अटल प्रेम ही पार पहुँचाने का साधन है:—

'अटल प्रेम ही पहुँचा सकता, तुमको तट के पास।'

प्रेम का मंत्र दुनिया को ही बदल देता है। इसलिए लालसा प्रेम का मन्त्र फूँकती है :—

'प्रेम ही हो अब सबका भूप,
प्रेम ही हो अब सबका राज,
प्रेम ही हो सबका अधिकार,
प्रेम ही हो अब सबका ताज।'

प्रेम समस्त वैभवों से ऊपर है। प्रेम ही समता का शासन क़ायम करता है, भेदभाव को भगाता और मानवता का पाठ पढ़ाता है :—

'केवल मनुष्य ही बनकर मैं सीखूँ जग में रहना।
यह राजपाट वैभव तज हो प्रेम-धार में बहना।

हो जहाँ हृदय ही राजा, हो जहाँ प्रेम का शासन,
सबकी ममता में होवे समता का पावन आसन।'

'स्वर्ण-विहान' के कवि की तो यही अभिलाषा है कि—

'प्रेम-प्रेम सबकी वाणी में गूंज उठे अनजान।'

प्रेम की यही पुकार सच्चे दिलों में पत्थर की रेखा बन जाती है; सच्चे प्रेमी प्रीति के लिए प्राणों तक का बलिदान कर देते हैं। प्रेमीजी ने संगीत-नाटिकाओं में प्रेम का यही स्वरूप प्रस्तुत किया है। 'हीर-राँझा' में जब राँझा हीर से कहता है कि—

'......है पंथ प्रीति का अंगारों पर चलना।
दो दिन का आराम सदा के लिए आग में जलना।'

तो हीर उसे यही उत्तर देती है :—

'सुन राँझा है प्रीति तिया की
ज्यों पत्थर की रेखा !
उसे प्रीति के पथ पर जाने,
प्राण चढ़ाते देखा।'

सच्ची प्रीति वही है जो ऊँच-नीच, ग़रीब-अमीर का भेद नहीं मानती। हीर के शब्दों में :—

ऊँच-नीच की जात-पाँत की, दीवारों को तोड़,
सच्ची प्रीति लिया करती है दिल का नाता जोड़।
× × ×
सच्ची प्रीति नहीं टूटती कर लो यत्न करोड़।'

प्रेमीजी प्रीति के क्षेत्र में विच्छेद को—चाहे वह किसी भी कानून का समर्थन क्यों न प्राप्त कर चुका हो—स्वीकार नहीं करते :—

एक बार जो जुड़ता नाता,
क्या फिर है वह तोड़ा जाता !'

प्रेम टूटता नहीं है, विरह की ज्वाला उसे भले ही जलाती रहे, बल्कि विरह की ज्वाला में जलकर तो सच्चा प्रेम और भी पक्का होता है। 'मिर्ज़ा साहिबां' में बीबो कहती है :

'प्रेम हुआ करता है पक्का,
विरह-अग्नि में जलकर।'

प्रीति में विष के घूंट भी पीने पड़ें तो भी प्रेमी घबराता नहीं है, उन्हीं घूंटों को अमृत मानता है, साहिनां कहती है :—

'पी लूंगी मैं विष के घूंट,
नहीं प्रीति है सकती है छूट।'

'सोहनी-महीवाल' में सोहनी भी प्रेम के लिऐ विष पीने को तैयार है, प्रेम को वह अपना खुदा और मज़हब मानती है, इसीलिए तन-मन-धन तक निछावर करने को तैयार हो जाती है :—

'तब तुम सच-सच बात सुनो माँ, महीवाल से प्यार !
मुझको सच्चा, उसके ऊपर, तन-मन जान निसार।
तू क्या आकर खुदा न उसको सकता मुझसे छीन।
वही खुदा है अम्मी मेरा, और वही है दीन।
लगी आग क्या बुझ सकती है उलफ़त की सच बोल,
अगर अलग करना है उससे, दो मुझको विष घोल।'

इस प्रकार प्रेमीजी ने अपने साहित्य में प्रेम का कहीं भी विकृत रूप चित्रित नहीं किया है। वे प्रेम की स्वाभाविकता के क़ायल हैं; वह उसे हृदय की वस्तु मानते हैं; केवल कला नहीं कि जब चाहो भुला दो और जब चाहो जिस रूप में व्यक्त कर दो। प्रेमीजी के सभी पात्र प्रेम के लिए बलिदान देते हैं; प्रवंचना, छल या कपट वहाँ नहीं है। किसी प्रकार की कृत्रिमता के लिए भी वहाँ स्थान नहीं है।

आठ

प्रेमीजी के गीतिनाट्य

संस्कृत के आचार्यों ने कविता और नाटक दोनों को काव्य की परिधि में रखा है। दोनों के रचयिता कवि कहलाते हैं। काव्य की इन दोनों विधाओं का लक्ष्य समानरूप से पाठक या सामाजिक को रसानुभूति कराना होता है। जिसमें कविता भी हो और रूपक भी, उसे काव्यरूपक या गीतिनाट्य कहेंगे। इसे पद्यरूपक, संगीतरूपक आदि नामों से भी पुकारा जा सकता है। गीतिनाट्य मुख्यतः भावनामय होते हैं, उनमें बहिर्संघर्षों की अपेक्षा अन्तर्संघर्षों की प्रधानता रहती है, लेकिन जीवन की वास्तविकताओं से भी उनका सम्बन्ध नहीं टूटता है। नाट्य होते हुए भी गीतिनाट्यों का रंगमंचीय मूल्य स्वीकार किया गया है। इनकी भाषा भी सरलतम होनी चाहिए, जिससे कि हर सामाजिक के लिए गीतिनाट्य का कथानक बोधगम्य हो सके।

गीतिनाट्य में कार्य की अपेक्षा भाव का महत्त्व अधिक होता है। भावना की प्रधानता होने के कारण ऐसी रचना में गीतितत्त्व का उपयोग किया जाता है। कथा की शृंखला मिलाने के लिए या तो पात्रों के कथोपकथन ही पर्याप्त होते हैं, अन्यथा एक और पात्र की कल्पना कर ली जाती है; जिसे सूत्रधार या उद्घोषक अथवा वाचक भी कह सकते हैं। पात्रों के कथोपकथन साधारण पद्य में और आन्तरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति गीतों में की जा सकती है। गीतिनाट्य में लेखक चाहे तो अंकों और दृश्यों का विधान रख सकता है, अन्यथा तो इनकी कथा बिना अध्याय के ही आगे बढ़ती है।

प्रेमीजी ने दो प्रकार के गीतिनाट्य लिखे हैं; एक तो अंकों का विभाजन लेकर लिखे गये; जिनमें एकमात्र 'स्वर्ण-विहान' की ही गिनती की जायेगी। दूसरे वे हैं, जिनमें दृश्य परिवर्तन तो है, किन्तु अंकों का विभाजन नहीं। कहानी को कहने और उसके अन्त की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति ही पाई जाती है। दूसरे प्रकार के गीति-रूपक रेडियो की दृष्टि से लिखे गये हैं। इसीलिए उन्हें संगीतरूपक कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। ये संगीतरूपक प्रेमीजी ने पंजाब की प्रसिद्ध लोक-गाथाओं पर प्रेम का विशुद्धरूप दिखाने के लिए लिखे हैं। हीर-रांझा, दुल्लाभट्टी, मिर्जा-साहिबाँ, सोहनी-महीवाल और सस्सी-पुन्नू उनके रेडियो संगीत-रूपक हैं। 'स्वर्णविहान' कल्पित है।

'स्वर्ण-विहान' की मूल-प्रेरणा भी प्रेम ही है, यह अलग बात है कि इसका प्रेम देश-प्रेम या ममता के नाम से पुकारा जाये । प्रेमीजी ने इसके लिए दो शब्द लिखते हुए बताया है :—'जब मैं केवल दो वर्ष का शिशु था तभी मेरी स्नेहमयी माँ मुझे, कवि बनने, अकेला छोड़कर, चली गई थीं; तब माँ के आँचल की जगह ऊपर विराट् आकाश था और गोद की जगह विस्तृत वसुन्धरा । मेरा वह करुण-विहान ही इस 'स्वर्ण-विहान' का प्रेरक है । जिस मातृभूमि ने अपने प्रेम और ममता से नवजीवन दान दिया उसे प्रेमांजलि अर्पण करने ही इस नाटिका की रचना हुई है ।'

स्पष्ट है कि इस नाटिका में देश-प्रेम का स्वर भी है और कामजन्य प्रेम का भी—'इस पुस्तक में केवल राष्ट्रीयता ढूंढ़नेवाले जगह-जगह प्रेम के उच्छृंखल गीत सुनकर बिगड़ बैठेंगे, परन्तु मैं प्रेमहीन संसार को श्मशान से भी बुरा समझता हूँ ।'

'स्वर्ण-विहान' में एक कल्पित कथा के द्वारा पिछले युग की जाग्रत भारतीय चेतना की अभिव्यक्ति है, इसमें अहिंसा के द्वारा हिंसा को जीतने का प्रयत्न है । अत्याचारी शासन ने किस प्रकार देश की दुर्दशा कर दी, इसका करुण चित्र इस प्रकार चित्रित है :—

'कभी न छेड़ी इस कुटिया में सुख ने मादक तान ।
व्यथा, कराह, अभाग्य, दुःख के ही उठते तूफ़ान ।
हम हैं कृषक, जगत को करते हैं जो जीवन-दान ।
आज उन्हीं के बालक भूखे सोये हैं अनजान ।।

किसान, रुग्णा और बाला के द्वारा किसानों की दयनाय स्थिति का चित्र उतारा गया है । मोहन और विजय अधम नृपति को मार डालने का विचार करते हैं, तभी संन्यासी प्रेम और असहयोग की बाँसुरी बजाता है :—

'नहीं-नहीं, ए पगले यौवन जीत प्रेम से पापाचार !
अरे, पाप से पाप मिटाना महा भूल है, व्यर्थ विचार !!
× × ×
असहयोग का महामंत्र ही अब कर सकता है उद्धार !
× × ×
धर्म, सत्य जिस ओर रहेंगे उसी ओर होंगे कर्तार ।'

अपने प्रेम के संदेश से संन्यासी मोहन के विचार बदल देता है । मोहन किसानों के बीच अहिंसक क्रान्ति करता है :—

'करो मत नृप-सत्ता स्वीकार,
न दो अब पापों में सहयोग ।
न दो उसको कर कौड़ी एक,
सहो पशु-बल के सकल प्रयोग !'

परिणामस्वरूप किसान प्रतिज्ञा करते हैं :—

'नहीं रखनी ज़ालिम सरकार,
भले ही ले वह शीश उतार।
न देंगे उसको कभी लगान,
भले ही जलवा दे घर-द्वार।'

लालसा मोहन को अपनी ओर खींचती है; किन्तु वह भी प्रेमपूर्ण क्रान्ति का ही सन्देश देती है। फलस्वरूप अत्याचारी राजा घुटने टेक देता है। इस प्रकार गाँधी-वादी दर्शन के द्वारा लेखक ने प्रेम, शान्ति और असहयोग का सन्देश दिया है।

प्रेमीजी ने उत्कट देश-भक्ति और व्यक्तित्व के भीतर लालसारूप में रहनेवाले प्रेम के उपकरण से 'स्वर्ण-विहान' का शृङ्गार किया है। प्रेम की परिधि को व्यक्ति-गत चाह से संकुचित न बनाकर प्रेमीजी ने पीड़ित जनता की सेवा तक उसे व्यापक बना दिया है। रचना में गति और प्रभाव होते हुए भी संघर्ष की कमी है। भाषा की सरलता और भावों की तरलता ने इसे मार्मिकता अवश्य प्रदान की है।

'स्वर्ण-विहान' में जिस प्रेम का स्वर फूटा है, वह संगीतरूपकों में आकर और भी मुखर हो गया है। इन संगीतरूपकों में कथानक का संघर्ष, पात्रों का चरित्र-चित्रण और अन्तर्द्वन्द्व सभी का संरक्षण मिलेगा। इनमें लेखक ने रंग-संकेतों द्वारा जो ध्वनि-संयोजन किया है, वह नाटक के वातावरण को और भी मुखरता प्रदान करता है।

'सोहनी महीवाल' का आरम्भ माँझी के गीत से होता है। जहाँ माँझी का गीत एक ओर अपने गीतितत्त्व से हृदय को तरंगित करता है, वहाँ दूसरी ओर कहानी के प्रति जिज्ञासा और कहानी के भविष्य की सूचना भी प्रस्तुत करता है। सोहनी ने मार्ग की बाधाओं की परवा न करते हुए महीवाल से भेंट की, इसका संकेत आरम्भ से ही मिल जाता है:—

'प्रबल वायु से होड़ लगाती सबल सुहाती बाहें,
तूफ़ानों को चीर चली हैं ये तूफ़ानी बाहें,
इनके लिए बराबर जानी या अनजानी राहें।'

प्रेमीजी ने बड़े ही नाटकीय कौशल से उत्सुकता को बढ़ाया है, राही सोहनी महीवाल का नाम सुनते ही उनका परिचय पूछता है तो माँझी इन शब्दों में उसकी उत्सुकता को और भी बढ़ा देता है :—

'इस चनाब की लहरों में ही हाय, सोगई, राही!
आन प्रेम की रखने को कुरबान होगई राही!'

कहानी धीरे-धीरे आरम्भ होती है। लेकिन जब नौकर इज्ज़तबेग से आकर सोहनी के रूप की चर्चा करता है तो संघर्ष बढ़ चलता है। इज्ज़तबेग आकर सोहनी से मिलने को आकुल हो उठता है; सोहनी से उसका जो वार्तालाप होता है, वह

संघर्ष को और भी बढ़ा देता है। इज्ज़तबेग प्रेम के लिए कंगाल हो जाता है, वह सुख ठुकराकर सोहनी के घर नौकर हो जाता है। यहाँ से प्रेम की एकांगिता नष्ट हो जाती है, सोहनी के हृदय में भी इज्ज़तबेग (महीवाल) के प्रति प्रेम जाग उठता है। वह महीवाल से कह देती है :—

'हमने तुमको जान लिया है,
अपना तुमको मान लिया है।
महीवाल ! क़दमों में हाज़िर,
अब से मेरी जान है।
जब तक कल-कल झना बहेगी,
मन में भरी उमंग रहेगी,
महीवाल की रहे सोहनी,
दुश्मन भले जहान है।'

यहाँ आकर 'प्राप्त्याशा' की अवस्था उभरती है। मार्ग में बाधाएँ आने लगती हैं। सोहनी की माँ उसके प्रतिकूल हो जाती है। किन्तु सोहनी दृढ़ रहती है। माँ उसका विवाह किसी अन्य से कर देती है। महीवाल जोगी का वेश बनाकर सोहनी की ससुराल पहुँचता है। दोनों की भेंट होती है। महीवाल उपालम्भ देता है, किन्तु सोहनी अपना प्रेम ही व्यक्त करती है, यहीं से नियताप्ति शुरू हो जाती है, सोहनी घड़े पर बैठकर नदी पार कर नित्य महीवाल से मिलने जाने लगती है। किन्तु ननद को पता चल जाता है तो वह एक दिन कच्चा घड़ा रख देती है; यहाँ संघर्ष की चरम सीमा है। सोहनी आखिर नदी में कूद पड़ती है। तूफ़ानी नदी उसे ग्रस लेती है, उधर शंकाकुल महीवाल भी नदी में कूद पड़ता है। उसके हाथ सोहनी की लाश लगती है और प्रेमकथा का दुःखद अन्त होता है। प्रेमीजी ने सोहनी की अपने पति के प्रति विरक्ति और महीवाल के प्रति आसक्ति दिखाकर, सच्चे प्रेम के लिए बलिदान दिखाकर इस संगीत-नाटिका का अन्त भी करुण-सुखान्त ही किया है।

सोहनी के चरित्र में जहाँ एक ओर दृढ़ता है, वहाँ प्रेमीजी के आदर्शवाद की स्थापना भी है। सोहनी कहती है :—

'महीवाल ! सुन हठ की पक्की है पंजाबिन बाला।
दुनिया तो क्या, रोक न सकती उसको पर्वतमाला।
धर्म जाति की और देश की दीवारों को तोड़—
जिस पर दिल आता है, उससे लेती नाता जोड़।
दिल का सौदा एक बार ही है जोगी ! हो सकता !
बिका हुआ धन और किसी का कभी नहीं हो सकता।'

भाषा की सरलता और गीतों की मधुरता ने इस गीतिनाट्य को और भी सुन्दर बना दिया है।

'सस्सी-पुन्नू' की रचना और भी उत्कृष्ट है। आरम्भ से ही कवि गीत का माधुर्य, वातावरण की रंगीनी; प्रेम का रोमांच और जीवन का दर्शन लेकर चलता है। प्रेम-कहानी के लिए इस प्रकार का आयोजन कलाकार की कुशलता का ही परिचायक है।

अत्ता और फाताँ के प्रथम गीत में शब्दसाम्य और ध्वनिसाम्य दर्शनीय हैं :—

'छपक-छपक छपछप छपछप रे !
कपड़े धो धोबिन मतवाली।'

वहाँ गीत की लय और तान भी उतनी ही मधुर है। जीवन-दर्शन की झलक इस प्रकार है :—

'दरिया तो जीवन है अपना हम हैं इसकी तरल तरंगें।'

साथ ही प्रेम का रोमांच भी विद्यमान् है :—

'जाऊँ मैं तुझ पर बलिहारी ।
मेरे मन को हाय ! डस गई,
हैं तेरी ये अलकें काली।'

अत्ता और फाताँ को नदी में संदूक बहा जाता दिखाई देता है, यहाँ कौतूहल का जन्म होता है। ये लोग संदूक पकड़ लेते हैं, और उसमें से निकली बालिका का पालन करते हैं। यही सस्सी है। यहाँ कवि ने हृदय के उल्लास का सूचक गीत रखा है। कहानी को वेग से बढ़ाने के लिए उद्घोषक की अवतारणा की गई है। सस्सी बड़ी हो जाती है। सखियों के साथ झूला झूलते हुए उसकी एक बनजारे से भेंट होती है। यहीं से कथा का आरम्भ होता है। वातों ही वातों में पुन्नू अपना प्रेम प्रकट करता है और कह देता है :—

'ससि यह हाथ न अब छूटेगा।
अब न कभी नाता टूटेगा।'

सस्सी भी अपने हृदय की स्थिति इन शब्दों में स्वीकार कर लेती है:—

'अजब खेल किस्मत का पुन्नू ! उठा हृदय भी मेरा डोल।
व्यापारी के हाथ बिक गया भोला गाहक ही बेमोल।

ऐसा पड़ता जान कि अपनी वर्षों पहले की पहचान।
युग-युग के दो बिछड़े पंछी आज मिल गए हैं अनजान।

सहसा माँ को दोनों के प्यार का पता चल जाता है, वह बाधा डालती है, लेकिन सस्सी बताती है कि वह धोबी बनकर रहने का वायदा करता है तो राजी

हो जाती है। दोनों का ब्याह हो जाता है। किसी प्रकार पुन्नू की माता को भी इस विवाह का पता चल जाता है, वह होतू को भेजती है। होतू चालाकी से पुन्नू को ले चलता है, यहाँ से प्राप्त्याशा का आरंभ होता है। सस्सी व्यथित होती है। माता-पिता के समझाने पर भी नहीं मानती और रात में घर से बाहर निकल पड़ती है। आँधी और तूफ़ान की परवाह न करती हुई बढ़ती ही चली गई। उधर पुन्नू को होश आया तो वह अपनी ऊँटनी का मुँह मोड़कर दौड़ चला। दोनों का एक-दूसरे के लिए मिलने को ललकना नियताप्ति है। सस्सी रास्ते में मर जाती है, अन्त में पुन्नू भी उसके अधर चूमकर अपने प्राण गँवाता है। इस प्रकार इस विरहभरी प्रेम-कहानी का अन्त होता है। प्रेमीजी ने सस्सी और पुन्नू के गीतों की बड़ी ही मार्मिक योजना की है। सस्सी का यह गीत प्रेम की उत्कट योजना लिये हुए है :—

'जो साँस साँस की है, क्यों बन गया पराया !
जो प्राण ज़िन्दगी का उसने मुझे भुलाया !
क्यों प्यार का समंदर अंगार बन गया है ?
जो ज़िन्दगी बना था तलवार बन गया है।
मल्लाह चल दिया है, मँझधार में बहाकर।'

'सस्सी-पुन्नू' की यह प्रेम-कहानी आदि से अन्त तक पागल गीतों से भरी हुई है। सच तो यह है कि प्रेमीजी के सभी गीत-नाट्यों में यही सच्चा गीत-नाट्य है। काव्य की मर्मस्पर्शिता, जितनी इसमें है, उतनी अन्यत्र नहीं। सस्सी की माता का गीत ममता और वात्सल्य की सुन्दर व्यंजना करता है :—

'सूने घर में दीप जलाया,
अँधियारे को दूर भगाया,
गोदी में चन्दा को पाया,
जन्नत बना हमारा धाम।
मेरा मन फूला न समाता,
ज्वार प्रेम का उठता आता,
इसकी छवि से शशि शर्माता,
ससि रक्खूंगा इसका नाम।
या रब तुमको लाख सलाम।'

वातावरण की जितनी सघनता इस नाटिका में है, उतनी दूसरी नाटिकाओं में नहीं। वातावरण और भाव के अनुकूल गीतों की रचना की गई है। काफ़िला लेकर जब होतू चलता है तो गीत की लय-तान स्वयं काफ़िले का दृश्य आँखों के आगे प्रस्तुत कर देती है :—

'चलो साथियो सँभल-सँभलकर,
इस मुश्किल मंज़िल पर।'

नर्तकी का गीत मादक वातावरण की सृष्टि करता है :—

'कैसी होती प्रीत किसी ने कब जाना ?
किसकी इसमें जीत किसी ने कब जाना ?
रहा प्रीत का गीत हमेशा अनजाना।
अनजाना अंजाम जवानी का।
पीलो-पीलो जाम जवानी का।'

'मिर्ज़ा साहिबाँ' भाव-प्रधान न होकर घटना-प्रधान अधिक है। इसलिए इसके कथानक में अधिक उतार-चढ़ाव है। अन्य गीतिनाट्य विशुद्ध प्रेम-मूलक हैं तो यह वीररस से परिपूर्ण है। शृंगार तो इसकी प्रेरणामात्र है। मिर्ज़ा साहिबाँ में प्रीति हो जाती है, किन्तु जाति के बन्धन इसमें बाधक होते हैं; साहिबाँ की माँ उसका विवाह अपनी ही पठान जाति में करना चाहती है, इस प्रकार मिर्ज़ा और साहिबाँ की प्रीति में बाधा पड़ने लगती है। साहिबाँ की बुआ किसी प्रकार प्रीति में सहायक होती है और मिर्ज़ा साहिबाँ को घोड़े पर उठाकर भगा ले जाता है। कहानी यहाँ से नया मोड़ धारण करती है। रास्ते में एक सरकारी बगीचा आता है। वहाँ पहरेदार बाधा डालता है। मिर्ज़ा का पहरेदार से युद्ध होता है। पहरेदार मर जाता है। मिर्ज़ा थककर सो जाता है, साहिबाँ जागी हुई है, वह देखती है कि एक तोते के गले में फल फँस गया है, वह मिर्ज़ा को जगाती है। मिर्ज़ा अपनी धनुर्कुशलता से फल को काट गिराता है और तोते की भी रक्षा हो जाती है। साहिबाँ उसकी वीरता से हैरान होती है, और उसके हृदय में यह भय जाग उठता है कि मिर्ज़ा से अगर मेरे भाइयों की मुठभेड़ हो गई तो मिर्ज़ा उन्हें मार डालेगा। वह मिर्ज़ा को गहरी नींद में देखकर उसके बाणों को तोड़ डालती है। लेकिन इतने ही में साहिबाँ के भाई आ जाते हैं। विषम स्थिति उत्पन्न हो जाती है। पाठक यहाँ पर अपना हृदय सँभालकर युद्ध देखते हैं। मिर्ज़ा तलवार के वार से साहिबाँ के भाई को घायल कर देता है। वह साहिबाँ को लेकर आगे बढ़ता है तो साहिबाँ का भाई और उसके साथी उसे भागने का ताना देते हैं, जिससे मिर्ज़ा फिर लौट पड़ता है। घमासान लड़ाई होती है; मिर्ज़ा मारा जाता है। इस प्रकार इस संघर्ष-प्रधान कहानी का अन्त होता है। बाहरी संघर्ष के तो कई स्थल इस कहानी में हैं ही, अन्तर्द्वन्द्व का भी स्थान कवि ने निकाल लिया है। साहिबाँ के हृदय में मिर्ज़ा के लिए भी प्यार है, किन्तु भाइयों के प्रति ममता भी। प्रेम और ममता के द्वन्द्व का चित्रण अच्छा हुआ है। साहिबाँ कहती है :—

मिर्ज़ा के हाथों में जब तक होगी तीरकमान !
लड़-मरने के लिए निरन्तर व्याकुल होंगे प्राण !

मेरे भाई भी आवेंगे और चुनौती देंगे।
मिर्ज़ा के अचूक बाणों से हाय न प्राण बचेंगे ।।
भाई भी मुझको प्यारे हैं, प्यारा है भर्तार।
मैं क्या करूँ कि अब दोनों में रहे नहीं तकरार।'

वीररस प्रधान होने के कारण प्रेमीजी ने मिर्ज़ा के चरित्र का बड़ा ही उत्कृष्ट चित्रण किया है। जब वीबो उसे ताहिर के घर जाने से रोकती है तो वह बड़े विश्वास के साथ कहता है :—

'मैं हूँ मुग़ल मुझे है अपने हाथों पर विश्वास।
छीन उसे लाऊँगा चाहे दुश्मन हो आकाश !
नदी बहा देगी लोहू की यह मेरी शमशीर !
ढेर लगा देंगे लाशों के मेरे तीखे तीर !'

अपनी वीरता के सामने वह न तो रब के हाथों की ताक़त की परवाह करता है, और न काल से ही डरता है :—

'तुमको मुझसे छीन न सकते अब रब के भी हाथ !
× × ×
तू है मेरे पास, न डरता आ जावे अब काल !'

प्रेम का अक्षय कवच पहनकर प्रेमी की वास्तव में यही स्थिति होती है। वह इस बात को भली प्रकार जानता है :—

'सुनो इश्क की गैल सदा से रहा मौत का परवाना।
वो ही इसमें क़दम रखेगा जिसने है मरना जाना।'

मिर्ज़ा को अपनी वीरता के साथ अपनी जाति का भी अभिमान है :—

'पूत मुग़ल का दान न लेता और न वह चोरी करता है।
तलवारों की ताक़त से वह इच्छाएँ पूरी करता है।'

चरित्र-चित्रण और कथा-विकास की दृष्टि से तो निस्सन्देह यह गीतिनाट्य उत्तम है, किन्तु जिस भावप्रवणता की गीतिनाट्य में अपेक्षा की जाती है, वह इसमें नहीं है। मार्मिक स्थल केवल मात्र एक ही है। अन्यत्र शादी की कार्यवाही होने के अवसर पर साहिबाँ जो दर्दभरा गीत गाती है; केवल वही हृदय को आघात पहुँचाता है, अन्यथा तो घटना-चक्र में ही मन उलझा रहता है। 'सस्सी-पुन्नू' में जो प्रेम का प्रवाह है, उसके दर्शन इस गीतिनाट्य में नहीं होते। प्रेमीजी के कविरूप की अपेक्षा नाटककार के रूप के ही विशेष दर्शन इसमें होते हैं। आरम्भ में यहाँ मिर्ज़ा औरत के व्यवहार की काव्यात्मक वर्णना करता है:—

'औरत का व्यवहार शरद् के बादल-सा चंचल।
तरह-तरह के रूप बदलता रहता है पल-पल !'

वहाँ तुरन्त वह यह भी कह देता है :—

'मुझको है विश्वास अन्त तक नहीं रहोगी मेरी।'

यहाँ कवि की काव्यकला की अपेक्षा नाट्यकला के ही दर्शन होते हैं; अन्तिम पंक्ति में लेखक ने भावी घटना की ओर संकेत कर नाटकीय कौतूहल और उत्सुकता की सृष्टि की है।

'हीर-राँझा' में प्रेम का कारण है दया। हीर की सखियाँ राँझे की मरम्मत करती और करवाती हैं। राँझा की दशा देखकर हीर को दया आ जाती है। वह राँझे को अपने यहाँ महीवाल का काम दिलवा देती है। दोनों में गाढ़ी प्रीति होने लगती है। हीर के चाचा क़ैदो को यह प्रेम अच्छा नहीं लगता। वह हीर की माँ से उसकी शिकायत कर देता है। माँ राँझे को नौकरी से निकालने की धमकियाँ देती है। हीर अपनी हठ पर अड़ी रहती है। हीर का विवाह अन्यत्र कर दिया जाता है। हीर की भाभी सहती हीर की सहायता करती है। राँझा जोगी के रूप में आता है। सहती के कथनानुसार हीर साँप काटने का वहाना करती है। राँझा उसे ले आता है। अपने गाँव आकर बड़ा बखेड़ा खड़ा हो जाता है। गाँववाले मिलकर हीर को विष दे देते हैं। हीर की लाश पानी में वहा दी जाती है। राँझा भी नदी में कूदकर प्राण दे देता है।

इस नाटिका में प्रेम की उदात्तता दिखाई गई है। हीर और राँझा दोनों ही प्रेम की महत्ता के लिए बलिदान देते हैं। हीर बताती है कि प्रेम जाति-पाँति के बंधन नहीं मानता और ऊँच-नीच की दीवारों को तोड़कर हृदयों का नाता जुड़ जाता है :—

'ऊँच-नीच की, जाति-पाँति की दीवारों को तोड़।
सच्ची प्रीति लिया करती है दिल का नाता जोड़।'

इसमें भी कहानी कहने का आग्रह ही अधिक है। हृदय की भाव-व्यंजना की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया।

'दुल्लाभट्टी' की कहानी वीरतापूर्ण कृत्य से प्रारम्भ होती है। दुल्ला को अपनी माँ से पता चलता है कि उसके पिता को अकबर ने बन्दी बनाकर मार डाला; क्योंकि वह स्वतन्त्र विचारों का व्यक्ति था। दुल्ला बदला लेने के लिए लुटेरा बन गया, उसने पंजाब का मान रखने की ठान ली। लुटेरों का गिरोह बना लिया। एक दिन शाही ख़ज़ाना लूट लिया और काफ़िले के सेनापति को मार भगाया। दुल्ला प्रायः नूरी की मटकियाँ फोड़ दिया करता था। नूरी को जब इस घटना का पता चला तो वह इसकी वीरता से प्रभावित हुई। दुल्ला नूरी से प्रणय-निवेदन करता है। नूरी अपने पिता का भय देती है। वे बातें कर ही रहे होते हैं कि गौहर नामक वीर आकर दुल्ला को सन्देश देता है कि एक किसान की आपसे पुकार है, उसकी रक्षा करो।

लड़की का विवाह रुक गया है; क्योंकि उसके पिता से भारी दहेज़ माँगा जा रहा है। दुल्ला तलवार से दहेज़ देने की बात कहकर चल देता है। नूरी रोकती रह जाती है।

उधर पंजाब प्रान्त के नवाब मिर्ज़ा के पास दिल्ली से सूचना आती है कि जिसने शाही खज़ाना लूटा है उस डाकू को पकड़कर लाया जाये। मिर्ज़ा असमंजस में पड़ जाता है, तभी उसका लड़का हैदर डाकू को पकड़ लाने के लिए कहता है। हैदर दुल्ला को पकड़ने चल पड़ता है। मार्ग में उससे नूरी की भेंट होती है। वह उससे पानी पिलाने को कहता और प्रणय-निवेदन करता है। नूरी उसे फटकारती है। वह वहाँ से चलता हुआ दुल्ला के घर पहुँचता है। वहाँ उसकी भेंट दुल्ला की माँ से होती है। इसी समय दुल्ला आ जाता है। माँ उससे कहती है कि यह तेरा दूध का भाई है। माँ उनके लिए खाना लेने जाती है। तभी हैदर अपने आने का प्रयोजन बताता है। दुल्ला कहता है कि तुम निश्चय ही उस डाकू को मार डालो। हैदर तभी दुल्ला से नूरी के प्रति अपनी आसक्ति की चर्चा करता है। उससे इस सम्बन्ध में सहायता चाहता है। जब वह नूरी को दिखाता है तो पहले तो दुल्ला को बड़ी चोट पहुँचती है; किन्तु फिर हैदर को दिये गये वचनों का ध्यान आता है।

दुल्ला नूरी से जाकर हैदर की चर्चा करती है, नूरी बहुत दुःखी होती है। दुल्ला प्यार को बहुत ऊँचा रूप देना चाहता है, वह नूरी से हैदर के साथ विवाह कर लेने का हठ करता है। रावी में डूब मरने की धमकी देता है तो नूरी मान जाती है। नूरी का हैदर से विवाह हो जाता है। हैदर के पिता को जब पता चलता है कि उनका लड़का डाकू को पकड़ने गया था और विवाह कर लाया है तो उसे बड़ा क्रोध आता है। वह दोनों को वन्दीगृह में ले जाने की आज्ञा सुना देता है। नूरी किसी प्रकार दुल्ला के पास कबूतर द्वारा सन्देश भिजवाती है। दुल्ला अपने सैनिक लेकर लाहौर पर हमला बोल देता है। मिर्ज़ा दुल्ला पर हमला करता है, नूरी बीच में आ जाती है और मारी जाती है। दुल्ला मिर्ज़ा पर हमला करता और उसे मार गिराता है। घाव अधिक लग जाने के कारण दुल्ला भी मर जाता है।

वीरता, प्रेम, कर्त्तव्यपालन की भावना को बड़े सुन्दर ढंग से निभाया गया है। पंजाब की वीरता, जात्याभिमान और टेक को भी अच्छी अभिव्यक्ति मिली है :—

'दुल्ला—यह पंजाब किसी के आगे नहीं झुकाता शीश।
परवत भी आगे आवे तो देंगे उसको पीस॥
नूरी— हम पंजाबी लाल रंग से कब होते भयभीत।
फूले नहीं समाते हैं जब छिड़ते रण के गीत॥'

प्रेमीजी की इन संगीतिकाओं में देशकाल का पूरा ध्यान रखा गया है। क्योंकि इनकी रचना पंजाब की प्रसिद्ध प्रेममूलक लोक-गाथाओं पर हुई हैं; अतः पंजाब की सभ्यता-संस्कृति की झलक इनमें साफ़तौर पर दिखाई देती है। पंजाब की लस्सी,

चर्खा कातना भारत भर में प्रसिद्ध है। मलकी चरखे का गीत गाती हुई पंजाब की लोक-संस्कृति को मुखरित करती है :—

'घनन घनन घन चल रे चरखा
कर दौलत की बरखा।
रूई चाँदनी सी है उजली किरनों जैसा सूत।
करघे पर बुन वस्त्र पहनते हैं पंजाबी पूत।
मन में फूले नहीं समाते,
तन पर पहन अँगरखा।'

इसी प्रकार हीर लस्सी रिड़कती हुई गाती है :—

'लस्सी रिड़क बनाऊँ माखन फूली नहीं समाऊँ।
यह पंजाब देश की लस्सी सबको शेर बनाती।
तन को ताक़त देती मन में नए भाव उपजाती।'

पंजाब का व्यक्ति निडर और अक्खड़ स्वभाव का होता है। इस व्यक्ति-वैशिष्ट्य को स्थान-स्थान पर व्यक्त किया गया है। हीर की सहेलियाँ कहती हैं :—

'हम हैं पंजाबिन अलबेली,
सदा मौत की बनें सहेली,
कुड़ी कुआँरी की मंजी पर,
मर्द पराया सोया आकर,
छड़ियाँ मँहदी की ले आओ,
परदेशी को मजा चखाओ।'

मंजी, कुड़ी, मँहदी की छड़ी आदि शब्दों के प्रयोग से तो पंजाब देश का चित्र ही आँखों के सामने उतर आता है।

इसी तरह 'सोहनी महीवाल' में पंजाब-निवासी का स्वभाव चित्रित किया गया है :—

'इस चनाब की धारा की आदत ही तूफ़ानी है,
सच पूछो पंजाब देश की फ़ितरत ही तूफ़ानी है।

सोहनी भी कहती है :—

'महीवाल ! सुन हठ की पक्की है पंजाबिन बाला।
दुनिया तो क्या रोक न सकती उसको पर्वतमाला।'

'मिर्ज़ा साहिबाँ' में उद्घोषक द्वारा भी पंजाबी चरित्र पर प्रकाश डाला गया है :—

'यह चनाब के तट का देश कि इसका पानी तूफ़ानी।
यह हरियाला देश जवानी इसकी हरदम मस्तानी॥

मर्द यहाँ के शेर शेरनी-सी है यहाँ की हर नारी।
यह पंजाब देश का दिल है इसको कहते हैं बारी।।'

लोक-गाथाओं की आत्मा का संरक्षण करने में जो कुशलता प्रेमीजी ने पाई है; वह सफलता भी कम ही लोगों को मिलती है। लोक-गाथाओं के अनुरूप कवि ने ग्रामीण वातावरण ही बनाये रखा है; उसमें नगर की कृत्रिमता नहीं आने दी है। नगर के कोलाहल से दूर ग्रामीण जीवन का उल्लास ही सर्वत्र दिखाई देगा। 'सोहनी महीवाल' में इज्ज़तबेग की दशा का वर्णन करते हुए ग्राम्य-जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गई है :—

गया सोहनी के अब्बा के पास नौकरी करने।
भैंस चराने, मिट्टी ढोने एवम् पानी भरने।।

ग्रामीण महिलाएँ, लड़कियाँ आदि नदियों-नहरों में स्वच्छन्द स्नान के लिए जाया करती हैं। 'हीर-राँझा' में हीर भी अपनी सखियों के साथ जाती है। पशु-चारण गाँव का नया-निराला दृश्य होता है, इसकी झाँकी चूचक के मुख से सुनिए :—

'बड़ी मुसीबत हैं ये डंगर, इनको कौन सँभाले ?
मुझ से रोज़ शिकायत करते आकर खेतों वाले।'
'भैंसें गईं उजाड़ खेत को हुआ बहुत नुक़सान।'

गाँव की गोरियाँ सावन में झूले पर झूला करती हैं, और मादक गीत गाकर अपने हार्दिक उल्लास को अभिव्यक्त किया करती हैं। सस्सी भी अपनी सखियों के साथ झूला झूल रही है :—

'हौले हिचकोले ले, रानी!
हिचकोलों से हिले जवानी!
हिले जवानी जो मस्तानी!
अंग उमंगों में भर फूले।
आओ सखियो झूला झूलें।'

व्यापारी या वनजारे आदि किस प्रकार गाँव में जाकर अपना माल बेचते हैं; इसका भी अच्छा चित्रण किया गया है। जहाँ तक बन पड़ा है, कवि ने अपने पाठकों को बराबर ग्रामीण वातावरण में ही रखा है।

लोक-गाथाओं में प्राय: प्रेम प्रथम-दर्शन पर ही हो जाता है; प्रेम को जब परिणय में बदलने की बारी आती है तो बाधाएँ पड़ती हैं। अन्त में या तो बाधाओं पर विजय पाकर प्रेमी-प्रेमिका का मिलन हो जाता है या दोनों ही की मृत्यु हो जाती है। प्रेमीजी ने अपने सभी गीति-नाट्यों में प्रथम-दर्शन पर ही प्रेम दिखाया है। यह प्रेम या तो रूप के आकर्षण से हुआ है या दया के कारण।

'सस्सी-पुन्नू' में पुन्नू ने तो केवल हुस्न का हाल ही सुना था कि चला आया और दर्शन पाकर प्यार हो गया। पुन्नू सस्सी से बताता है :—

'बस उससे ही नाम तुम्हारा जाना, सुना हुस्न का हाल।
सुनकर खिचा चला आया मैं सका न अपने होश संभाल।'

और उस पर अपना सर्वस्व निछावर करने को तैयार हो जाता है। परिणाम होता है कि सस्सी भी उससे प्रेम करने लगती है :—

'अजब खेल किस्मत का पुन्नू उठा हृदय मेरा भी डोल।
व्यापारी के हाथ बिक गया भोला गाहक ही बेमोल।'

फलस्वरूप :—

'और इस तरह ससि पुन्नू में प्यार हो गया।
दिल का दिल से अनजाने व्यापार हो गया।।
आँखों का आँखों से कुछ इक़रार हो गया।
पिया इश्क का जाम नया संसार हो गया।।'

होतू बीच में बाधक होता है। अन्त में दोनों की ही मृत्यु दिखाई गई है। 'हीर-राँझा' में प्रीत का कारण दया है। राँझे ने अपनी दुःखद कथा हीर को सुनाई। किन्तु यह कथा तो एक बहाना मात्र थी, वास्तव में तो दर्शन ही मुख्य है :—

'तुम से मिलने का था मानो यह दुर्भाग्य बहाना।
इसी तरह था हीर हूर का मुझको दर्शन पाना।'

अन्त इसका भी पूर्वकथा की भाँति होता है।

'सोहनी महीवाल' में भी इज्ज़तबेग अपने नौकर से सोहनी के रूप की प्रशंसा सुनता है, मिलने को पागल हो उठता है :—

'नौकर—मैं क्या कहूँ गगन का चन्दा है धरती पर आया।
हिरनी जैसे नैना, गोरा रंग, स्वर्ण-सी काया।
है सुडौल हर अंग देखकर दिल हो उठता पागल।
और बोलती है तो लगता मधुर बज रहे पायल।
'इज्ज़त०—बस कर पागल और न कह कुछ मुझे वहाँ पर ले चल।
हुआ बात सुन उसके दर्शन करने को दिल चंचल।'

दर्शन का जो परिणाम हुआ वह इस प्रकार है :—

'इज्ज़तबेग नाम था छोड़ा, महीवाल कहलाया।
हाय, इश्क की ख़ातिर अपने घर का सुख ठुकराया।'

सोहनी ने भी अपने मन की बात कह दी :—

'हमने तुम को जान लिया है,
अपना तुम को मान लिया है।'

परिणाम होता है बाधा। सोहनी का विवाह अन्यत्र होता है, अन्त में दोनों ही मृत्यु की गोद में मिलते हैं।

'मिर्ज़ा साहिबाँ' के प्यार का आधार तनिक इनसे कुछ भिन्न है। उसे आप चाहें तो आजकल के शिक्षित लोगों का प्यार भी कह सकते हैं :—

मिर्ज़ा था ननिहाल झंग में बचपन में रहने आया।
दो तूफ़ानी हृदय मिले क़िस्मत ने करतब दिखलाया।
मस्जिद में पढ़ते थे दोनों पढ़ते-पढ़ते प्यार हुआ।
बचपन का वह खेल जवानी में दिल का आज़ार हुआ।

मध्य और अन्त इस कथा का भी अन्य कथाओं की भाँति है। यही स्थिति 'दुल्ला-भट्टी' की है।

लोक-गाथा का आनन्द पाने के लिए और लोक-गाथा की सरलता तथा सादगी बनाये रखने के लिए यह आवश्यक था कि उसकी भाषा सरलतम हो। प्रेमीजी तो सरल भाषा लिखने में निपुण हैं। इन गीतिनाट्यों की भाषा और भी लोक-प्रचलित सर्वसाधारण की भाषा लिखी गई है। क्लिष्टता, अलंकरण या घुमाव-फिराव को कहीं भी, तनिक भी पास नहीं फटकने दिया। उद्घोषक की भाषा भी सरल है, गीतों की भाषा भी और कथोपकथनों की भी। 'सोहनी महीवाल' में राही और माँझी के वार्तालाप की भाषा देखिए —

राही:— 'कौन सोहनी महीवाल थे, माँझी कहो कहानी ?
माँझी— परी स्वर्ग की रही सोहनी, तबियत की तूफ़ानी।
सुघर सलोनी, तन सोने का, दिल जिसका माखन था।
पर चनाब की धारा-सा ही उसका पागल मन था।
इस चनाब की लहरों में ही हाय, सो गई, राही।
आन प्रेम की रखने को कुरबान हो गई, राही।'

इज्जतबेग और सोहनी के वार्तालापों की भाषा और भी सरलतम है। 'हीर राँझा' में भी इसी प्रकार की सरल भाषा का प्रयोग हुआ है। राँझा कहता है :—

'ले आई क़िस्मत, जग में नहीं ठिकाना।
तख़्त हज़ारा पिंड छोड़कर मुझे पड़ा है आना।
मात-पिता का मेरे सर से छीना रब ने हाथ।
किया ज़ुल्म भाई-भौजाई ने है मेरे साथ।
अच्छे खेत ले लिये ख़ुद ने देकर बंजर खेत।
भूख नहीं मिट सकती मेरी खाकर केवल रेत।'

प्रायः सभी गीतिनाट्यों की भाषा इसी प्रकार चलती है। गीतों की भाषा भी सरलतम ही रखी गई है। चाहे वह गीत वर्णनात्मक हो, चाहे भावात्मक। चरखे का वर्णनात्मक गीत लीजिए :—

'घनन घनन घन चल रे चरखा कर दौलत की बरखा।
रुई चाँदनी सी है उजली किरनों जैसा सूत।
करघे पर बुन वस्त्र पहनते हैं पंजाबी पूत।
मन में फूले नहीं समाते तन पर पहन अँगरखा।'

साहिबाँ की व्यथा की अभिव्यक्ति करने वाले दर्दभरे गीत की भाषा भी इतनी ही सरल है :—

सितम दुनिया में ज्यादा है, रहम कम है, रहम कम है।
मिलाता कौन दिल से दिल दिलों को सब जुदा करते।
उजड़ती हैं तमन्नाएँ किसी को भी नहीं ग़म है।'

सस्सी का व्यथा-सिक्त गीत भी इतनी ही सरल भाषा में लिखा गया है :—

'जो साँस साँस की है क्यों बन गया पराया।
जो प्राण जिन्दगी का उसने मुझे भुलाया।
क्यों प्यार का समन्दर अंगार बन गया है?
जो ज़िन्दगी बना था तलवार बन गया है।
मल्लाह चल दिया है मँझधार में बहाकर।
ऐ चाँद, तू बता दे दिलदार है कहाँ पर?'

पुन्नू की पीड़ाभरी रागिनी भी इसी सरल भाषा में बाहर आती है :—

'छोटी-सी डाल चमन की दो पंछी उसपर बसते।
थे छोड़ जगत् की दौलत अरमान हमारे हँसते।
गाते थे गीत खुशी के क्यों जग ने तीर चलाया।
बेदर्द हवाओं ने क्यों है मेरा दीप बुझाया।'

गीतों की शैली भी लोकगीतों की भाँति सर्वसाधारण के गाने योग्य ही है। शास्त्रीय विधान द्वारा जटिल रूप नहीं दिया गया है। जहाँ वर्णनात्मकता है, वहाँ भी लोक प्रचलित छन्दों—लावनी, आल्हा आदि का ही प्रयोग किया गया है। 'सस्सी-पुन्नू' में धोबियों का गीत किसी भी लोकगीत से कम नहीं है। 'छपक-छपक-छप-छप-छप रे, कपड़े धो धोबिन मतवाली' का स्वर सुनते ही देहाती धोबियों का समूह-गान सामने आ जाता है। यही स्थिति पुन्नू के गीत की है :—

'आया रे बनजारा आया,
माल अनोखे लाया।'

'हीर-राँझा' में चरखे का गीत और लस्सी का गीत देहाती महिलाओं की तस्वीर आँखों के आगे ला देते हैं, जोकि अपने मस्त भाव से प्रायः परिश्रम के समय गाया करती हैं। दोनों ही गीतों की लय लोकगीतों की धुनों पर आधारित है।

उद्घोषक और माँझी आदि के वर्णनात्मक सम्वाद भी लोक-प्रचलित छन्दों में ही रखे गये हैं। माँझी का वर्णन सुनिए :—

'यह तो सच है किन्तु इश्क में होता है यह हाल।
दौलत सभी लुटाकर इज्ज़तबेग हुआ बेहाल।

× × ×

'इज्ज़तबेग नाम था छोड़ा, महीवाल कहलाया
हाय इश्क की खातिर अपने घर का सुख ठुकराया।'

इस प्रकार गीतिनाट्यों की परम्परा में प्रेमीजी की यह देन अद्भुत है। उनके गीतिनाट्य केवल कुछ लोगों की ही सम्पत्ति नहीं हैं; उनका सम्मान उच्च-वर्गीय पढ़े-लिखे लोगों के बीच भी होगा और सर्वसाधारण के कंठ का हार भी वे बनेंगे।

'मीराबाई' के जीवन पर आधारित संगीतिका भी प्रेमीजी ने लिखी है; किन्तु उसमें वह वातावरण, वह मौलिकता और वह नाटकीयता वे नहीं ला सके जो उक्त संगीतिकाओं में। मीराबाई की ही रचनाएँ देने के कारण उसमें मौलिकता के लिए इतना स्थान था भी नहीं।

संगीतरूपक 'देवदासी' भी इसी कोटि की रचना है। इसमें एक ऐसी देव-दासी की दुःखद कहानी है जो सामान्य वैवाहिक जीवन बिताना चाहती है। नाटक के कथोपकथन और संगीतिका का काव्य दोनों ने मिलकर इस रचना को प्रभावशाली बना दिया है। प्रेम मनुष्य का स्वाभाविक गुण-धर्म है और वह किसी प्रकार की सीमाएं नहीं मानता। मनुष्य के प्रति मनुष्य की आसक्ति पाप नहीं है, जो इसे पाप कहता है वह न तो धर्म है और न ही ईश्वर-भक्ति। यही 'देवदासी' का सन्देश है।

नौ

प्रेमीजी की एकांकी कला

यद्यपि भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार एकांकी नाटक प्राचीनतम साहित्य-विधाओं में से एक विधा है, किन्तु फिर भी एकांकी नाटक आधुनिक युग की देन माना जाता है। जिन परिस्थितियों और प्रेरणाओं के कारण उपन्यास से कहानी का जन्म हुआ, उन्हीं के फलस्वरूप नाटक से एकांकी का जन्म हुआ। एकांकी नाटक का वास्तविक विकास प्रायः कुछ ही दशाब्दियों का इतिहास है।

औद्योगिक स्पर्धा के फलस्वरूप अवकाश का अभाव, रंगमंच की जटिलता तथा चित्रपट की सस्ती लोकप्रियता ने पूर्ण नाटकों के विकास के मार्ग में भली प्रकार एक बाधा उपस्थित कर दी। फिर भी नाटक अबाध-गति से आगे बढ़ता रहा। अवकाश के सीमित क्षणों में, कम-से-कम साधनों के बीच, अभिनय की अपेक्षाकृत सुलभता एवम् अपनी अभिव्यंजना की शक्ति लिए हुए इस दिशा में एकांकी का उदय हुआ। चरित्र-चित्रण का सीमित क्षेत्र होने पर भी पूर्ण नाटक की अपेक्षा एकांकी नाटक जीवन के तीखे रस में डूबे हुए सिद्ध हुए। क्योंकि इनका उदय जिन साहित्यिक परिस्थितियों में हुआ, उनमें संघर्ष की मात्रा सबसे अधिक थी। इसी संघर्ष तत्त्व से इस कला की आत्मा की भी प्रतिष्ठा हुई।

एकांकी नाटक की कला अत्यन्त सूक्ष्म और स्वतंत्र है। प्रभाव की दृष्टि से यह कला अपने आपमें पूर्ण है, क्योंकि एकांकी नाट्य-कला कल्पना से भिन्न विशेषतः यथार्थ जीवन के धरातल से विकसित होती है, एकांकी नाटक पात्रों के माध्यम से जीवन की विशिष्ट और साधारण दोनों प्रकार की समवेदनाओं को लेकर चलता है। यह समवेदना इतिहास, राष्ट्र, धर्म, समाज और व्यक्ति सभी को अपनी कलात्मक सीमा में बाँधकर चलती है और उन पर सहसा एक ऐसा विद्युत् प्रकाश छोड़ती है कि हमारा समूचा जीवन एक क्षण के लिए आलोकित हो जाता है।

आधुनिक एकांकी पश्चिम की कला से बहुत प्रभावित है, अतः एकांकी कला में अन्तर्द्वन्द्व और घटनाओं का घात-प्रतिघात सबसे प्रधान तत्त्व स्वीकार किया गया है। दो विरोधी परिस्थितियाँ अपने-अपने सत्य के साथ आपस में टकराती हैं और उनका संघर्ष समूचे एकांकी में फैल जाता है। इस तरह एकांकी में एक निश्चित समस्या की तीव्रता, उसके द्रुत विकास, आवेग और चरमसीमा पर उस समस्या की चरम अन्विति, एकांकी कला की मूल विशेषताएँ हैं। इसको एक अद्‌भुत

सूत्र में बाँधने के लिए इस कला में कौतूहल और जिज्ञासा की सबसे अधिक आवश्यकता होती है। इसी तत्त्व में एकांकी के समस्त तत्त्व आपस में इस तरह जुड़े रहते हैं, जैसे एक पूर्ण विकसित पुष्प में उसकी पंखुड़ियाँ, पराग और सुगन्ध।

उपन्यास, नाटक आदि की भाँति एकांकी के तत्त्वों को अनावश्यक विस्तार नहीं दिया जा सकता। विद्वानों ने एकांकी के तीन ही मूल तत्त्व माने हैं :— कथावस्तु, पात्र और कथोपकथन। इन्हीं के माध्यम से एकांकी की एक मूल घटना, परिस्थिति एवम् समस्या नाटकीय कौशल से कौतूहल का संचय करती हुई एक सुनिश्चित और सुकल्पित लक्ष्य तक अथवा अपनी चरमसीमा तक पहुँचती है। गौण परिस्थितियों अथवा प्रासंगिक घटनाओं के लिए एकांकी में कोई स्थान नहीं।

एकांकी की कथावस्तु में निश्चित रूप से जीवन की तीव्र अनुभूति होनी चाहिए। कथानक के पूरे इतिवृत्त के लिए यहाँ कोई गुंजाइश नहीं है। केवल व्यंजना और ध्वनि से ही काम चलाना होता है। यही कारण है कि एकांकी में वही मूल घटना ली जाती है, जिसकी व्यंजना में एक ओर नाटकीय परिस्थिति हो और दूसरी ओर उसमें जीवन की अधिक-से-अधिक समग्रता और व्यापकता हो।

जीवन की तीव्र अनुभूति में कुशल एकांकीकार यथार्थ और अपने लक्ष्य को संजोये रहता है तथा उनकी निष्पत्ति एकांकी की चरमसीमा पर प्रकट होती है। कथा-विधान की दृष्टि से एकांकी नाटक में कथारूप का निश्चित रूप तब हमारे सामने आता है, जब नाटक में आधी से अधिक घटना बीत चुकी होती है। इसलिए नाटक के आरम्भ में ही कौतूहल और जिज्ञासा की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। उसीके सहारे नाटक में आगे आनेवाली घटनाएँ, उनका विकास-क्रम एकसूत्रता में बाँधा जा सकता है, नहीं तो सम्पूर्ण नाटक फीका और जी उबानेवाला हो जाता है। घटनाओं के तारतम्य में नीरसता आ जाती है और एकांकी की मूल अनुभूति अस्पष्ट और अव्यक्त ही रह जाती है। वास्तव में कौतूहल के कारण ही एकांकी की कथावस्तु घटनाओं एवं कार्य-व्यापारों के माध्यम से चरितार्थ होती हुई चरमसीमा तक खिंची रहती है। चरमसीमा के उपरान्त ही एकांकी नाटक की समाप्ति हो जानी चाहिए। कथानक में वास्तविकता, उत्तेजना, कौतूहल, जिज्ञासा की जाग्रति, पग-पग पर विस्मय अर्थात् फल का अन्त तक दुविधा में छिपे रहना और रोचकता ही उसका प्राण है।

एकांकी के कथानक में एकरूपता रहनी चाहिए। असल में एकांकी एक प्रकार का गीत है। जिस प्रकार गीत का प्राण एक ही विशेष भाव में रहता है, उसी प्रकार एकांकी का प्राण भी केवल एक ही भावना-विशेष में छिपा है। अनेकरूपता एकांकी को अपने आदर्श से गिरा देती है।

पात्र या चरित्र-चित्रण एकांकी का दूसरा तत्त्व है। पात्रों के द्वारा नाटक की मूल घटनाएँ और अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है, पात्रों के चरित्र-चित्रण,

इन्हीं के मानसिक संघर्ष और इन्हीं की गतिशीलता-द्वारा एकांकी में स्वाभाविक रूप से नाटकीय आरोह-अवरोह उपस्थित होता है। एकांकी में पात्र भी कम-से-कम होने चाहिएँ। एकांकी में पात्रों की कल्पना दो कोटियों में होती है—मूल पात्र तथा गौण पात्र। मूल पात्र एकांकी के चरम लक्ष्य का नायक होता है। यही वह शक्ति होती है, जिससे नाटक की मूल समवेदना चरमसीमा पर पहुँचती है और नाटक की अनुभूति साकार हो उठती है। गौण पात्र मुख्यतः नाटक के मूल पात्र की सहायता के लिए होते हैं। ये पात्र कभी-कभी नाटक की मूल समवेदना को उत्तेजित करते हैं। दूसरी ओर ये पात्र मूल पात्र की आत्माभिव्यक्ति में, माध्यम का कार्य करते हैं। इन पात्रों के द्वारा प्रायः नाटक के कार्य-व्यापार और विविध प्रकार की घटनाओं की किसी-न-किसी प्रकार से सूचना मिला करती हैं।

एकांकी में सब प्रकार के, सब स्तर के पात्र आ सकते हैं, लेकिन सफल एकांकी में वही पात्र अत्यन्त शक्तिशाली सिद्ध होता है, जो अपने बाह्य-कार्य-व्यापारों के साथ-साथ अपने चारित्रिक स्तर में अन्तर्मुखी होते हैं। पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से नाटकीय परिस्थिति भी पैदा होती है और उचित संघर्ष को भी स्थान मिलता है।

एकांकी का अन्तिम तत्त्व है, कथोपकथन। यही संभाषण, वार्तालाप या बात-चीत कहलाता है। कथोपकथन के सहारे ही पात्र नाटक की सम्पूर्ण वेदना लिये हुए अपने चरम लक्ष्य तक पहुँचता है। इसी तत्त्व के द्वारा एकांकी की समूची गति निश्चित होती है। नाटक की पूर्ण सफलता और असफलता तो इसके अधीन होती है। कथोपकथन प्रौढ़ और स्वाभाविक होंगे तो पात्रों को मूर्त रूप मिल सकेगा अन्यथा नहीं, निर्बल कथोपकथन सारा खेल बिगाड़ देते हैं। संतुलित कथोपकथन नाटकीय परिस्थितियों के अभाव में भी एकांकी को सफल करते हैं। ऐसे ही सम्वाद दर्शकों में रस का उद्रेक कर पाते हैं। पात्रों के सम्बन्ध में जो स्थान चरित्र के मनोविज्ञान का होता है, वही स्थान कथोपकथन में वाक्चतुराई और उसकी स्वाभाविकता का है। स्थिति और भावों के अनुसार ही सम्वाद होने चाहिएँ।

कथोपकथन न तो वाद-विवाद का रूप धारण करें और न ही उपदेश या भाषण का। वे संक्षिप्त और वाक्पटुता से पूर्ण होने चहिए। कथोपकथन में एकांकी की अनुभूति और भावविन्दु की मर्मस्पर्शिता हो तथा इसके प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक शब्द, प्रत्येक संकेत में चरित्र की आन्तरिकता तथा उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व का संगीत हो।

तत्त्वों के बाद एकांकी के शिल्प-विधान पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। विद्वानों का विचार है कि चरमसीमा ही एकांकी की शिल्प-विधि का मूलाधार है। इसकी कला में चरमसीमा ही वह लक्ष्य-बिन्दु है, जहाँ एकांकी का समूचा

संविधान उसमें केन्द्रित होता है। शिल्प-विधान के प्रारम्भ, विकास और चरम-सीमा इसकी मूल गतियाँ हैं। इन तीनों को ही एकांकी का गुण अथवा विशेषता माना गया है।

एकांकी का आरम्भ रंग-संकेत से शुरू होता है। इससे नाटक की समवेदना या देशकाल और परिस्थिति स्पष्ट होती है। नाटक की भावभूमि एवं कार्यभूमि क्या है, किस रूप में है, इसका उल्लेख होता है। दर्शक या पाठक के मन में उत्पन्न एकांकी से सम्बन्धित पूरी पृष्ठभूमि स्पष्ट की जाती है तथा नाटक में सम्पूर्ण रूप से नाटकत्त्व स्थापित करके नाटक की मूल भावना को प्रथम उद्दीप्ति देने तथा अभिनय के सहायतार्थ पात्रों की रूप-कल्पना के लिए इसकी अवतारणा नितान्त आवश्यक है। यह रंग-संकेत पूरे एकांकी भर में फैला रहता है और सर्वत्र इससे नाटकत्त्व की प्रतिष्ठा होती रहती है।

नाटक के आरम्भिक अंश में कौतूहल और जिज्ञासा तत्त्व का सन्निवेश इस कला की चरम सफलता है। इस आरम्भ अंश में एकांकी के लक्ष्य के बीज का प्रस्तुत होना सफल एकांकी के लिए आवश्यक है। इस बीज अंश में एक ओर नाटक की मूल समवेदना गुंथी रहती है और दूसरी ओर इसमें एकांकी के मुख्य पात्र स्थान पाते हैं।

एकांकी के विकास को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

१. प्रथम मुख्य घटना या कार्य-व्यापार, जिसमें एकांकी के मूल भाव की सूचना होती है।

२. द्वितीय मुख्य घटना या कार्य-व्यापार, जिसमें कौतूहल का अंश बहुत ही तीव्र होता है और जिसके द्वारा एकांकी के भाव पर प्रकाश पड़ता है।

३. तृतीय मुख्य घटना या कार्य-व्यापार, जिसमें एकांकी की समवेदना अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचती है और उसके भावों में असीम तीव्रता प्रस्तुत होती है।

चरमसीमा में आकर एकांकी का कार्य समाप्त हो जाता है। चरमसीमा की प्रेरणा समूचे एकांकी के विस्तार में इस तरह छिपकर नाटकीय तीव्रता को बढ़ाती रहती है, जैसे बादलों की गति को पवन का आवेग। चरमसीमा में कथा का सत्य-दर्शन होता है।

उक्त तीनों गुणों के अतिरिक्त संकलनत्रय का भी एकांकी शिल्प-विधान में विशेष महत्त्व है। संकलनत्रय का अर्थ है—देश, काल और कार्य की एकता। तात्पर्य यह है कि एकांकी में जो कथा ली गई हो वह एक ही स्थान, एक ही समय से सम्बन्धित हो और उसका कार्य भी एक ही हो।

वास्तव में रचना-विधान की दृष्टि से एकांकी के संविधान में प्रभाव और वस्तु की एकता अनिवार्य है। शेष देश और काल की एकता या विभिन्नता एक ओर

एकांकी की समवेदना पर निर्भर है, दूसरी ओर लेखक की प्रतिभा पर। विशुद्ध शिल्प-विधि की दृष्टि से परम शिल्पी लेखक वही है जो जीवन का एक पक्ष, एक घटना, एक परिस्थिति को उतनी ही स्वाभाविकता से अपनी कला में सँवार ले, सजाले, जैसी स्वाभाविकता हमें अपने जीवन में मिलती है। फिर चाहे संकलनत्रय की ओर ध्यान दिया गया हो, चाहे न दिया गया हो।

सफल एकांकी में प्रभाव, वस्तु और कार्य-व्यापार की एकता आवश्यक है, देश काल की नहीं। उस तरह एकांकी में एक ही अंक के अन्तर्गत उसकी समवेदना के अनुसार, उसे पूर्ण नाटकीय अभिव्यक्ति देने में दो-तीन दृश्यों की भी अवतारणा हो सकती है और अन्य प्रकार की समवेदना के लिए एक अंक तथा एक ही दृश्य में उसका सम्पूर्ण कार्य समाप्त हो सकता है।

एकांकी की कला और कसौटी पर इतना कुछ लिख देने के बाद प्रेमीजी के एकांकी-सम्बन्धी बिचार भी जान लेने चाहिएँ। 'बादलों के पार' की भूमिका में उन्होंने लिखा है —'···आज आत्मा तक अन्तर्दृष्टि डालकर 'साहित्य' की उपयोगिता की परख करने का अवकाश थोड़े व्यक्तियों को है। भौतिकवादी युग में आँखें काया में ही उलझकर रह जाती हैं। लेखक के दृष्टिकोण पर ध्यान कम जाता है और टेकनीक की चर्चा अधिक होती है। सन्तोष मुझे इस बात का है कि इन लघु नाटकों में मैंने तरुण हृदयों के सम्मुख राजनीति, समाजनीति और मानवता से सम्बन्ध रखने-वाले कुछ संघर्षों के चित्र रखे हैं।

टेकनीक को प्रमुख स्थान देने वालों के विवाद से दूर रहने के लिए ही मैंने नाटकों को एकांकी नाटक नहीं कहा।'

इससे स्पष्ट है कि प्रेमीजी ने शास्त्रीय पक्ष की ओर उतना आग्रह नहीं रखा है, जितना उद्देश्य के प्रति। एकांकी के शिल्प-विधान की जटिलता में उलझने की उनकी इच्छा ही नहीं दिखाई देती। चाहे शास्त्रीय कसौटी पर आपके एकांकी खरे न उतरें किन्तु भाषा की सरलता, भावों की सरसता और सोद्देश्यता के कारण वे आकर्षण का विषय हैं। अपने पूर्ण नाटकों की भाँति एकांकी-रचना के लिए भी आपने इतिहास और समाज दोनों से प्रेरणा ली है। मुख्य विषय हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य, अछूत-प्रथा और साम्प्रदायिकता का विरोध है। अपने एकांकी नाटकों में जीवन के सत्य का उपयुक्त प्रतिपादन करने की चेष्टा की है। यही कारण है कि आपने जीवन की यथार्थता और विषमताओं का चित्रण करने पर भी अन्ततः किसी उपयुक्त समाधान के खोज करने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से उनकी रचनाओं में आदर्श जीवन-सत्यों के कल्याणकारी स्वरूप की स्थापना का स्पष्ट आग्रह वर्तमान रहा है। यथार्थ का चित्रण करने पर भी उनके नाटक अन्ततः आदर्श से प्रेरित रहे हैं। यह

स्वाभाविक है।......वर्तमान युग में आदर्शों के प्रति मानव-आग्रह क्रमशः समाप्त होता जा रहा है। प्रेमीजी ने इस नवीन जीवन-दृष्टि से प्रेरणा लेते हुए अपनी रचनाओं में आदर्श और यथार्थ को समन्वित रूप में उपस्थित किया है।[1]

प्रेमीजी के एकांकी नाटकों का पहला संग्रह 'मन्दिर' नाम से सन् १९४१ में प्रकाशित हुआ था। दूसरा संग्रह सन् १९५२ में 'बादलों के पार' नाम से प्रकाशित हुआ। 'बादलों के पार' में 'मन्दिर' के सात एकांकी भी नाम परिवर्तन करके रख लिए गये और चार नए एकांकी भी शामिल कर लिए गए। अलग से भी एकाध एकांकी उपलब्ध होता है। इस प्रकार आपके एकांकी निम्नलिखित नामों से प्रसिद्ध रहे हैं:—

बादलों के पार (सेवामंदिर), यह भी एक खेल है, घर या होटल (गृह-मंदिर), प्रेम अन्धा है, वाणी-मंदिर, रूप-शिखा, नया समाज (मातृ-मंदिर), मातृभूमि का मान (मान-मंदिर), यह मेरी जन्मभूमि है (राष्ट्र-मंदिर), निष्ठुर न्याय (न्याय मंदिर), पश्चात्ताप और बेड़ियाँ।

'बादलों के पार' या 'सेवा मंदिर' का कथानक राधा नामक सुन्दर युवती से सम्बन्धित है। राधा माधव से प्रेम करती है, पर समाज का कठिन शासन राधा का सम्बन्ध जोड़ देता है एक रोगी ब्राह्मण से। तपेदिक का मरीज़ ब्राह्मण शीघ्र ही मर जाता है। राधा विधवा हो जाती है। युवती राधा की अतृप्त भावनाएँ समाज के प्रति, अपने प्रति विद्रोही हो उठती हैं, वह माधव से प्रणय की भिक्षा माँगती है। माधव इस याचना को पाप मानता है। राधा में कठोर प्रतिक्रिया जागती है और वह यहाँ तक कह देती है—'मैं गन्दे नाले का पानी पिऊँगी, मैं पिशाचिनी हो जाऊँगी' माधव राधा को कर्त्तव्य-मार्ग पर ले जाना चाहता है। वह राधा से विदा लेकर दूर चला जाता है। तभी आ जाता है, उसका देवर कमल। देवर की वासना भड़कती है। राधा उसे फटकारती है। अब राधा को आदर्श का ध्यान आता है। किन्तु राधा का दुर्भाग्य कुछ और ही कांड रच देता है। राधा की सास राधा को कमल के साथ अकेले देखकर उसे घर से निकाल देती है, राधा गंगा में डूबने जाती है, तभी संन्यासी माधव उसे बचा लेता है। राधा-माधव के आदर्श-प्रेम की स्वीकृति देकर कथा समाप्त हो जाती है।

'सेवा-मंदिर' व्यक्ति और समाज के जीवन की यथार्थ कहानी है। प्रेम और विवाह की समस्या वर्तमान भारतीय समाज की प्रमुख समस्या रही है। समस्या का समाधान न मिलने से आत्म-हत्या, व्यभिचार, पलायन आदि बुराइयाँ समाज में बढ़ती जाती हैं। राधा के चरित्र द्वारा लेखक ने हमारे वर्तमान यथार्थ जीवन का अंकन किया है, राधा की ये स्वीकारोक्तियाँ व्यक्ति के यथार्थ मन का उद्घाटन करती हैं:—

---

१. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ : पृष्ठ ७६८-७६९.

'तुम मेरे हृदय की भूख मिटाओ माधव। तुम मेरे प्राणों की प्यास मिटाओ··· मैं अपनी ही वासना के वेग से टुकड़े-टुकड़े हो जाऊँगी।' और 'मैं गन्दे नाले का पानी पिऊँगी। मैं पिशाचिनी हो जाऊँगी।' माधव का चरित्र भी इसी यथार्थ की भूमि पर है:—'जब तक तुम मुझे अप्राप्य थीं, मैं अपने पशु को पराजित कर सकता था, लेकिन अब, मैं तुमसे भी अधिक दुर्बल हूँ। मैं चला जाऊँगा, ताकि दुर्बल क्षणों में कहीं, मुझे तुम्हारी मिट्टी का मोह न हो जाय।'

यथार्थ जीवन को इस नाटक में बडे ही कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। नाटक में राधा की वासना और माधव के कर्त्तव्य का, पाप और पुण्य का द्वन्द्व अंकित किया गया है। इस द्वन्द्व में ही नाटक का विकास हुआ है। राधा एक ओर तो वासना की ज्वाला में जलती है:—'मैं अपनी ही वासना के वेग से टुकड़े-टुकड़े हो जाऊँगी।' दूसरी ओर नारीत्व की दीपशिखा भी उसे झकझोरती है—'फिर भी आँधी-तूफान के भीतर मैं नारीत्व की दीपशिखा को बुझने न दूँगी।

कुतूहल और जिज्ञासा तो इस नाटक में आरम्भ से ही है। राधा आरम्भ में ही जब कह उठती है—'मेरा भविष्य एक भयानक अन्धकार है, उसमें इस बिजली-से रूप-यौवन को छिपाकर मैं कैसे चलूँगी।' तो पाठक राधा के अतीत के प्रति कौतूहल से भर उठता है तो भविष्य के प्रति सजग भी हो जाती है। माधव का यह कथन तो और भी अधिक जिज्ञासा जगाता है:—'तुम्हें याद हैं अपने बचपन के दिन। इन नदी-किनारे के कुंजों में हम आँख-मिचौनी खेला करते थे, तुम मुझसे छिपती फिरती थीं, मैं तुमसे।'

जिज्ञासा की धीरे-धीरे शान्ति होती जाती है और घटना-क्रम खुलता-मुंदता चरमसीमा की ओर अग्रसर होता है। कमल की घटना से नाटक में एक बार फिर उबाल आता है और माधव पुनर्मिलन से चरमसीमा उभरकर कथानक को धैर्य के साथ समाप्त कर देती है। चरमसीमा के बाद किसी प्रकार की घटना न देकर एकांकी-कला की रक्षा की गई है। राधा और माधव के यथार्थ को यहाँ आकर आदर्श का यह लोक मिलता है—'मेरे आगे न कभी दिन है, न कभी रात, न कहीं शून्य, न कहीं भीड़, न कोई कुरूप है, न कोई सुन्दर। सब मेरी ही आत्मा के अंश हैं। अपना ही हाथ पकड़ने में मुझे भय किस बात का?'

'बादलों के पार' का कथानक जितना सजीव और सुसंगठित है, उतना ही चरित्र-चित्रण भी उत्कृष्ट है। इस नाटक में चार पात्र हैं—माधव, राधा, कमल और दुर्गा। कथावस्तु और घटना-चक्र के अनुसार ही इनका चरित्र सँजोया गया है। कमल और दुर्गा का उपयोग सामाजिक अनाचार और अत्याचार को दर्शाने के लिए किया गया है। कमल का चरित्र परिवार के भीतर रहनेवाले दुष्ट और मक्कार तत्त्वों का चरित्र है। कमल यथार्थ और सहानुभूति का ढोंग रचकर राधा को ठगता

है। वह राधा से कहता है :—'मैं ऐसा नहीं कहता कि मनुष्य भी ऐसा ही करे। लेकिन मनुष्य भी जानवर है। वह अपनी वासना को छिपाना चाहता है और जानवर नंगा है। वास्तव में देखा जाय तो प्राणिमात्र का स्वभाव एक है। प्रत्येक ऋतु अपने उपहार और अपनी आवश्यकताएँ लेकर आती है और मनुष्य के जीवन की भी ऋतुएँ होती हैं। उन ऋतुओं के उपहार और आवश्यकताएँ होती हैं। उन उपहारों को ग्रहण करना और आवश्यकताओं को पूरा करना मानव-हृदय का स्वाभाविक धर्म है।'

इस यथार्थ से वह राधा की वासना को उत्तेजित करता है; किन्तु जब परास्त होता है तो पासा बदल जाता है, कहता है—'मैं तो समाज की निर्दय रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह करना चाहता हूँ।'

दुर्गा का चरित्र ग़लतफ़हमी का शिकार दकियानूसी सास का चरित्र है, जो परिवार के विनाश का कारण है। दुर्गा ने केवल दो वाक्य ही कहे हैं, किन्तु ये दो वाक्य ही उसके चरित्र की पूरी व्यंजना करते हैं :—

'बहू तुममें ऐसे लक्षण भरे हैं, यह मैं न जानती थी। आज सूर्योदय के पहले तुम्हारी छाया भी इस घर में न दिखाई दे। समझी।' और 'अपराध ! कलमुँही ! अपनी आँखों से जो कुछ मैंने देखा है, उसके बाद मैं कुछ नहीं सुनना चाहती।'

राधा और माधव के चरित्र प्रमुख हैं। दोनों ही स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। दोनों के चित्रण में मनोविज्ञान से काम लिया गया है। युवती के हृदय की आकांक्षाओं-कापनाओं को, उसकी भूख को प्रेमीजी ने भाँपा है, और इसीलिए उनकी राधा का चरित्र अधिक सजीव हो पाया है। माधव प्रेम को पाप मानता है तो राधा स्वाभाविकता। वह कहती है :—'नहीं, मैं एक दुर्बल नारी हूँ, मुझे भूख लगती है। मुझे प्यास लगती है। मुझे भोजन चाहिए, मुझे पानी चाहिए। तुम मेरे हृदय की भूख मिटाओ माधव ! तुम मेरे प्राणों की प्यास मिटाओ नहीं तो···नहीं तो मैं गन्दे नाले का पानी पिऊँगी।' और 'मेरी साँसों की धड़कन में भूकम्प का आह्वान है, मैं अपनी ही वासना के वेग से टुकड़े-टुकड़े हो जाऊँगी।'

आगे लेखक ने गीत के द्वारा राधा का अन्तर्द्वन्द्व चित्रित किया है। राधा दुर्बल ही नहीं है। वह कर्त्तव्य को भी पहचानती है। कमल की घटना उसकी आँखें खोल देती है। माधव के मिलन से उन आँखों में आदर्श का प्रकाश जगमगा उठता है।

माधव का चरित्र एक आदर्शवादी का चरित्र है। वह बचपन के प्रेम को बचपन तक ही सीमित रहने देता है। वह एक आध्यात्मिक मिलन पर जीवन को ले चलता है, सभी के जीवन को ले जाना चाहता है। परन्तु उसका यह रूप सामाजिक अवस्था की दृष्टि से है। वह समाज-भीरु है। उससे विद्रोह करके वह नहीं चल

सकता। चलना चाहता भी है तो आदर्श आकर उसे रोक लेता है। इस प्रकार उसमें मानव-सुलभ दुर्बलता भी है तो मानव-सुलभ शक्ति भी है जो उसे गिरने से रोकती है। माधव के ये उद्गार उसके स्वाभाविक चरित्र पर प्रकाश डालते हैं :—'दिन के प्रकाश में समाज से विद्रोह करना चाहती हो। इतना वल तुममें हो सकता है, मुझ में तो नहीं है। मुझे तुम्हारा लोभ वचपन से ही रहा है। मैं तुम्हारे अस्तित्त्व को अपने प्राणों में भरे हुए संसार में विक्षिप्त-सा घूम रहा हूँ। किसी कार्य में मेरा मन नहीं लग रहा। मैंने समझा था तुम दूर हो। स्मृति के आकाश में तुम्हारी मूर्ति को स्थापित करके उसके चरणों पर आँसुओं का अर्घ्य चढ़ाना ही मैं अपना धर्म समझता था। आज वह मूर्ति प्रकट होकर कह रही है, तुम मुझे ले लो। मैं संसार की आँखों में पापी बनने से नहीं डरता, लेकिन मेरी इष्टदेवि, तुम क्यों अपने आसन से नीचे उतरती हो? भारतीय नारी की ऋषियों ने जो कल्पना की है, वह सांसारिक वासना से बहुत ऊँची है। तुम वहीं बैठो राधा!'

इस चरित्र की सृष्टि कर प्रेमीजी ने स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी है कि यदि वासनाओं का जन्म यथार्थवाद है तो उनका दमन भी तो यथार्थ है; भले ही वह आदर्शवाद के नाम से पुकारा जाता हो। इस प्रकार उन्होंने अपने पात्रों के स्वाभाविक रूप की रक्षा की है। एकांगिता रखकर उसे अस्वाभाविक और अग्राह्य नहीं बनाया है।

प्रेमीजी कथोपकथन लिखने में कुशल हैं। 'बादलों के पार' के कथोपकथन सरल, स्वाभाविक, संक्षिप्त, पात्रानुकूल तो हैं ही, नाटकीयता की सुरक्षा भी करते हैं। कुछ उदाहरण लीलिए:—

"[घड़े में पानी भरकर सिर पर रखती है।]

अब मेरे सिर पर बोझ बढ़ गया है। रास्ते में रपटन है। मुझे डर है कहीं मैं गिर न पड़ूं।" यह श्लेषात्मक प्रतीक योजना बड़ी ही व्यंजक है। एक उदाहरण और—

'**राधा**—जब हमारे कपड़े मैले हो जाते हैं, हम दूसरे पहन लेते हैं, मैले उतार देते हैं। (संन्यासी के वेश में माधव का प्रवेश)

माधव—लेकिन हमें नंगे होने का अधिकार तो नहीं है।"

स्थल और समय की एकता की ओर यद्यपि ध्यान नहीं दिया गया हैं, किन्तु घटना-चक्र इस ढँग से सँजोया गया है कि कार्य की एकता बराबर बनी रहती है। माधव नाटक का नायक है, वह आरम्भ से अन्त तक नाटक में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विद्यमान रहता है और अपने आदर्श से समस्त कथा पर छाया रहता है।

यह भी एक खेल है—ऐतिहासिक नाटक है। मालवगण के सेनापति जयकेतु की बहिन विजया से श्रीपाल युवक किसान प्रेम करता है। जयकेतु को यह बात

पसन्द नहीं। वह वर्गवाद की दीवारें खड़ी करता है। श्रीपाल इस बात से चिढ़ जाता है। वह विजया को पाने के सभी संभव-असंभव उपाय रचता है। मालवा पर आक्रमण करने के लिए वह शकों को आमंत्रित करता है, इस बात का पता जयकेतु को चल जाता है। वह विजया से सारी बातें कह देता है। विजया पहले तो भाई से बहस करती है; किन्तु फिर देश को सर्वोपरि मानकर श्रीपाल को बन्दी बनाकर जयकेतु को सौंप देती है।

यह कर्तव्य और प्रेम के द्वन्द्व की कहानी है। इस द्वन्द्व में ही नाटक का विकास होता है, कर्त्तव्य की विजय पर नाटक समाप्त हो जाता है। यह दस मिनट में समाप्त हो जानेवाला नाटक घटनाओं की तीव्रता लिए हुए है। जादू की तीव्रता से घटनाएँ घटती हैं; और शीघ्र ही आदर्श की स्थापना हो जाती है। पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व के लिए जैसे अवकाश ही नहीं। जैसे नाटक केवल इसी आदर्श की स्थापना के लिए लिखा गया हो—

'**जयदेव**—विजया, कर्त्तव्य और प्रेम के द्वन्द्व में जो कर्त्तव्य को विजयी बना सकता है वही सच्चा मानव है। तुम देश के महत्त्व को समझो। तुम्हारे पिता, तुम्हारे दादा और तुम्हारी न जाने कितनी पीढ़ियों ने इस भूमि की रक्षा में अपना रक्त सींचा है बहन! कितनी बहनों ने अपने भाइयों को रण-भूमि में विसर्जित किया है—कितनी सुन्दरियों ने यौवन के प्रभातकाल में पतियों को स्वर्ग का मार्ग दिखाया है! यह एक विजया या एक श्रीपाल का प्रश्न नहीं है—यह देश का प्रश्न है।'

स्थल, समय और कार्य की एकता की दृष्टि से 'यह भी एक खेल है' अत्यन्त सफल रचना है। कथोपकथन तो इसके बहुत ही चुस्त, सरल और संक्षिप्त हैं। शायद यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। पात्रों के चरित्र, उनके इरादों और दृढ़ता के प्रतीक ये कथोपकथन दर्शनीय हैं:—

'**श्रीपाल**—आकाश की तारिका की ओर पृथ्वी पर पैर रखकर चलनेवाला प्राणी कैसे हाथ बढ़ा सकता है ?

विजया—यदि वह तारिका आकाश से उतरकर तुम्हारी गोद में आ गिरे तो ?

श्रीपाल—मैं उसे स्वीकार नहीं करूँगा।

विजया—क्यों ?

श्रीपाल—मैं कृपा या दान नहीं चाहता।

वियजा—तो चोरी करना चाहते हो, डाका डालना चाहते हो। डाका डालना तो कायरता नहीं है।

श्रीपाल—मैं इतना छोटा नहीं बनना चाहता कि मुझे अपनी ही चीज की चोरी करनी पड़े।

विजया—तब तुम क्या चाहते हो ?

श्रीपाल—बदला !

विजया—किससे ?

श्रीपाल—जयदेव से !

विजया—अच्छा, तो इसीलिए तुमने हल छोड़कर शस्त्र पकड़े हैं ?

श्रीपाल—जो हल पकड़ना जानता है, वह शस्त्र पकड़ना भी जान सकता है।'

जयदेव और विजया के बीच कथोपकथनों की भी यही ओजस्विता है। अन्तिम दो पृष्ठों में लेखक ने जो नाटकीय परिस्थिति पैदा की है, वही इस संक्षिप्त से नाटक का गुण है।

घर या होटल—एक सामाजिक नाटक है। सुरेन्द्र इसका नायक है। वासना इसका जीवन है और गम्भीर चर्चा शत्रु। मदिरापान इसकी जीवनचर्या है। यह कुमुद को अपनी वासना का शिकार बनाता है, वह गर्भवती हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में वह इससे प्रणय की भिक्षा माँगती है, परन्तु सुरेन्द्र स्वीकार नहीं करता। समाज इसके विरुद्ध कुछ फैसला दे इससे पहले ही वह घर छोड़कर चली जाती है। सुरेन्द्र पछताता है, परन्तु व्यर्थ। सुरेन्द्र का विवाह एक आधुनिका कला से हो जाता है। कला स्वच्छन्द है और अविनाश से मिलती-जुलती है। सुरेन्द्र को यह पसन्द नहीं। वह निराश होकर मदिरा को गले लगा लेता है। एक दिन मोटर-दुर्घटना हो जाती है और उसे अस्पताल आना पड़ता है। यहाँ नर्स के रूप में कुमुद उसकी परिचर्या करती है। वह कुमुद से क्षमा माँगता है। इसी समय कला आ जाती है। यहीं सुरेन्द्र कुमुद के पुत्र से कला का परिचय कराता है। कला भी कुमुद से क्षमा माँगती हैं। कुमुद के पुत्र को अपना पुत्र मानती है और सुरेन्द्र को कुमुद को सौंपती है।

पश्चिमी देशों के अनुकरण से स्त्री-पुरुषों का आपसी सहयोग रूढ़िवादी समाज में कितनी विषम समस्याएँ पैदा कर सकता है, यह दिखाना ही इस नाटक का उद्देश्य है। समाज व्यक्ति पर किस प्रकार विजय पाता है, सुरेन्द्र के उदाहरण से यह स्पष्ट है। गर्भवती कला को सुरेन्द्र इसलिए ग्रहण करने से हिचकता है कि समाज इसका विरोध करेगा। यह नाटक एक प्रकार से समस्यामूलक है। प्रेमीजी ने गृह को मन्दिर का रूप देकर यह बताने की भले ही चेष्टा की हो कि यदि पति-पत्नी मानें तो घर में एक अन्य स्त्री पत्नी की भाँति रह सकती है; परन्तु व्यवहार में शायद ही ऐसा सम्भव हो। प्रेमीजी की यह अपनी कल्पना है और शायद वे इस प्रकार एकाधिक पत्नियों की सुविधा देना चाहते हैं; परन्तु क्या यह स्वाभाविक होगा ? या कहीं ऐसा होता भी है ?

पश्चिमी और पूर्वीय सभ्यता का द्वन्द्व ही इस नाटक की विशेषता है। पश्चिमी सभ्यता होटल की सभ्यता है, जहाँ सौदेबाजी है और भारतीय सभ्यता घर की सभ्यता है, जहाँ प्रेम और सेवा का, अपनेपन का भाव है। कुमुद घर की प्रतिनिधि है, और अविनाश होटल का। सुरेन्द्र भटका हुआ है; जिसे कुमुद का आदर्श मार्ग सुझाता है। यही घटना-क्रम का आधारविन्दु है।

चरित्र-चित्रण में प्रेमीजी का अपना कौशल यहाँ भी है। कुमुद एक आदर्श नारी है। सुरेन्द्र के चरित्र में उतार-चढ़ाव है, यही कला की स्थिति है। कला का चरित्र यद्यपि अस्वाभाविक कल्पना है।

कुमुद के द्वारा लेखक ने जीवन को जीने के लिए माना है। वह कहती है—'संसार से भागने में आदमी सफल नहीं हो सकता। यह स्वाभाविक जीवन नहीं है।'

इस नाटक की एक भारी विशेषता यह है कि कुमुद के माध्यम से उसके लेखक ने व्यक्ति को एक नई दृष्टि और एक नया सन्देश दिया है; और वह यह है:—

'समाज की कट्टरता मानव की गति को रोकती है। मैं कहती हूँ समाज से खुलकर विद्रोह करने का साहस करो। छिपकर पाप करने की कायरता से हम समाज को जीत नहीं सकते।'

नारी स्वातन्त्र्य का राग अलापनेवाले वर्ग को लेखक का सन्देश है—'उसे आकाश में स्वच्छन्द उड़नेवाली तितली न बनने दो। पुरुष को कभी-कभी नारी पर शासन करना आवश्यक है। इसी तरह नारी को पुरुष पर अपना अधिकार स्थापित करना भी। आज जो पुरुष नारी-स्वातन्त्र्य की आवाज उठा रहे हैं, वह केवल इसलिए कि दूसरे की नारियों से मिलने में उन्हें सुविधा हो। यह उनकी मनुष्यता की नहीं पशुता की आवाज़ है। तुम पुरुष बनो और पुरुष की कठोरता ग्रहण करो।'

'प्रेम अन्धा है' ऐतिहासिक घटना-क्रम को साथ लेकर कल्पना पर खड़ा किया गया नाटक है। औरंगज़ेब ने अपने भाइयों का वध किया, अब वह अपने छोटे भाई मुराद को भी मरवाना चाहता है; इसके लिए वह अपनी दासी रोशन की सहायता लेता है। रोशन एक हिन्दू नारी है; जिसका सतीत्व मुराद ने नष्ट किया था, वह पहले प्रकाश थी, बाद में रोशन हो गई। मुराद ने फिर बासंती से प्रेम-लीला आरंभ की। रोशन में प्रतिशोध की भावना जाग उठी। उसने मुराद को अपने प्रेमजाल में फँसाकर गिरफ़्तार करवा दिया। मुराद को इसकी इच्छानुसार बासंती के साथ ग्वालियर के क़िले में क़ैद कर दिया गया। रोशन ने एकबार फिर मुराद से बदला लेने की चाल चली। वह क़िले में आकर मुराद से मिली और उसे बादशाह बन जाने का प्रलोभन दिया। मुराद बासंती को छोड़कर जाने के लिए तैयार हो

गया। वासंती मार्ग में आई तो उसे धक्के से गिरा दिया। वासंती ने शोर मचाया और पहरेदारों ने मुराद को बन्दी बना लिया।

नाटक में प्रेम को प्रमुख मानकर कथाचक्र चलाया गया है; किन्तु प्रेम का जो रूप इसमें दिखाया गया है, वह तो वासनाजन्य है; क्योंकि रोशन और वासंती दोनों के मुख से मुराद की रामकहानी इस प्रकार कहलाई गई है:—

'**रोशन**—अचानक इस वन-कुसुम पर लालची भौंरे की नज़र पड़ गई।··· मुराद प्रारंभ से ही रंगीली तबीअत का आदमी है, उसकी अभिलाषा पर मुझे अपना सर्वस्व समर्पित करना पड़ा—लेकिन मधु के दो घूंट पीकर भ्रमर उड़ गया।'

'**वासन्ती**—जिसने मुझसे मेरी जन्मभूमि छुड़ाई, मेरे माँ-बाप छुड़ाये, मेरा सतीत्व नष्ट किया—वह बादशाहत के लोभ में मुझे ठुकरा सकता है।'

फिर भी वासन्ती को तो प्रेम हो ही गया। और वह भी इतना अन्धा प्रेम कि उसने अपना हित-अनहित नहीं पहचाना। अपने प्रेमी के सुख में अपना सुख नहीं माना। केवल इस लालसा के लिए कि अपने प्रेमी के चरणों में प्राण विसर्जित कर सके, उसे बन्दी बनवा लिया। मिला क्या? ज़हर खाकर मर गई। पता नहीं लेखक ने इस नाटक द्वारा किस आदर्श की स्थापना की है?

न तो लेखक कोई आदर्श ही दे पाया और न ही एकांकी के अनुकूल कथा-सूत्र को सुसंगठित कर पाया। जिस कथा को लेकर चला उसमें दूसरे दृश्य की क्या आवश्यकता थी? वासंती का अन्तर्द्वन्द्व तो चलो ठीक हुआ। सरला, मोहम्मद और हसन से क्या सिद्धि हुई? व्यर्थ के पात्र और व्यर्थ का घटनाक्रम। तीसरे दृश्य के अन्त में घटनाक्रम सँभला ही नहीं। रोशन ने इतना बड़ा षड्यंत्र तो रचा किन्तु वह गिरती हुई वासंती का मुँह नहीं बन्द कर सकी, वहीं खड़े-खड़े मुराद को गिरफ़्तार करवा दिया। घटनाएँ घट गईं और रोशन वहीं जमी खड़ी रही, शायद यह प्रेम के अन्धेपन के प्रभाव की किंकर्त्तव्यविमूढ़ता हो! कार्य, स्थल और समय सभी दृष्टि से एकदम असफल रचना। चरित्र भी दुर्बल। वासन्ती का आदर्श प्रेम भी अन्धा निकला, अतः ग्राह्य नहीं। पूरे नाटक की सामग्री को एकांकी के संक्षिप्त कलेवर में भरने का यही फल होता है।

'वाणी-मन्दिर' एक सामाजिक नाटक है। इसका कथानक तीन परिवारों से सम्बद्ध है। कवि कुमार कविता का धनी है, परन्तु परिवार की आर्थिक दशा अच्छी नहीं। कवि की पत्नी सरला पति के गौरव में अपना गौरव मानती है और भूख को भी सहन करती है। वह सुन्दरी भी है। कामुक घनश्याम उसके प्रति आकृष्ट होता है। दरिद्रता के प्रति सहानुभूति दिखाता और वासनात्मक प्रेम का प्रदर्शन करता है। सरला व्यंग्य करती है, पर वह नहीं समझ पाता। सरला के कथनानुसार विष भिजवा देता है, उसे ग़लतफ़हमी हो जाती है कि सरला कुमार को मारकर मेरे साथ रहना

चाहती है। सरला विष खाकर मरने की तैयारी करती है ; किन्तु चन्द्रिका के प्रयत्न उसकी रक्षा के लिए होते हैं।

चन्द्रिका एक धनी युवती है, वह मालती के जीवन से पाठ लेती है और अपना धन ग़रीबों के हित में लगाती है। यह मालती की सखी है। मालती 'आनन्द' पत्रिका के सम्पादक चन्द्रप्रकाश वर्मा की पत्नी है। वर्मा धन को ही अपना सर्वस्व मानता है। मालती को भी मार-पीटकर उसी रास्ते पर ले जाना चाहता है। मालती विद्रोह करती है और इस नरक-तुल्य जीवन से मृत्यु को कहीं अच्छा मानती है। सम्पूर्ण कथा को बड़े कौशल से एक सूत्र में पिरोया गया है।

यह नाटक समाज की घोर दरिद्रता और वैभव-विलास के द्वन्द्व को लेकर चला है। किन्तु लेखक ने पैसे का सदुपयोग ग़रीबों की सहायता है ; आदर्श प्रस्तुत किया है। यह आदर्श व्यक्तिवादी हुआ ; सामूहिक रूप से समस्या का समाधान नहीं है। फिर कवि को लेकर जो निर्धनता दिखाई गई है, वह भी गरीबी के कारणों पर यथेष्ट प्रकाश नहीं डालती। कवि की निर्धनता कवि की अकर्मण्यता का प्रमाण मात्र है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह नाटक अवश्य ही सफल है। कवि-पत्नी सरला का दरिद्रता-ग्रस्त चरित्र स्वाभाविक रूप में चित्रित हुआ है। वह घनश्याम से जब ज़हर लाने के लिए कहती है तो उसकी सम्पूर्ण कथा जैसे साकार हो उठती है:— 'तुम ठीक कहते हो जीजाजी ; मैं उनके सिर पर बोझ ही हूँ। मुझे दुःख है कि मैंने आपकी कृपा की अवहेलना की। इस समय आप जायें, कल इसी समय आयें और साथ में थोड़ा ज़हर भी लेते आयें। मैं बहुत हल्की बनकर आपकी सेवा में उपस्थित हो जाऊँगी। जो मुझे बोझा समझता है, वह स्वयं भी मेरे ऊपर बोझा है। मैं सब तरह के बोझे उतारकर आपके पास उपस्थित हूँगी।'

सरला आदर्श पतिव्रता है। इसीलिए वह कहती है—'उनकी कला, जिसके चरणों पर संसार सिर झुकाता है, क्या साधारण वस्तु है!' सरला का आदर्श चरित्र ही कवि कुमार के मुख से यह कहला लेता है:—'कवि को जीवित रखने के लिए तुम मर रही हो, शायद नहीं जानतीं कि मेरी स्फूर्त्ति तुम हो। मेरी प्रेरणा तुम हो। मेरी ग़रीबी तुमसे धन्य है। मेरी वेदना तुमसे धन्य है। तुम्हारी मूक सेवा, तुम्हारा नीरव प्यार और तुम्हारी कठिन तपस्या ही तो मेरी वीणा के तार हैं! मैं वाणी के मंदिर का पुजारी हूँ। तुम तो साक्षात् वाणी हो। मेरे गीत में तुम्हारा ही स्वर है, सरला।' ऐसा है सरला का चरित्र।

मालती और चन्द्रिका भी इसी साँचे में ढली हैं। मालती तो अपने अन्यायी पति को भी नहीं छोड़ना चाहती। वह कुमार से कहती है—'मैं उन्हें बहुत प्यार करती

हूँ। वे आये दिन मुझे हंटर से मारते हैं, फिर भी मैं उन्हें नहीं छोड़ सकती। वे मेरे टुकड़े-टुकड़े कर डालें फिर भी मैं उन्हें नहीं छोड़ सकती।'

आज समाज में ऊँचा स्थान पाने के लिए जो आर्थिक स्पर्धा बढ़ती जाती है; मनुष्य जिन दुर्गुणों का शिकार होता जाता है, वर्मा साहब उसके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। वह मालती से कहते हैं:—'ये लोग शराब पीते हैं, उनके साथ बैठने योग्य बनने के लिए मुझे भी पीनी पड़ती है। ये लोग वेश्याओं से जी बहलाते हैं, मुझे भी ऐसा करना आवश्यक है। ऐसा न करूँ तो वे मुझे पूछें ही क्यों?'

वास्तव में निर्धनता और अर्थलोलुपता के संघर्ष में ही इस नाटक का कथानक स्पृहणीय बन सका है। सरला ने इस द्वन्द्व के लिए जो टिप्पणी दी है, वह सम्पूर्ण नाटक के कथानक की भावधारा की ओर संकेत करती है। वह कहती है—'ग़रीबी, तू मनुष्य की क़ीमत इतनी कम कर देती है। और रुपया, तू मनुष्य को राक्षस बना देता है।' इस विषमता के चित्रित होने के लिए जो घटनाएँ सँजोई गई हैं, कथानक उनसे ही नाटकीय बन सका है। दरिद्रता में पले हुए दो परिवारों से एक का आन के पीछे मरना, दूसरे का मर्यादा की सीमा को लाँघकर धन की कामना करना विषमता को नंगा करना है, और इसी नंगेपन में नाटक का प्रभाव सुरक्षित है।

'रूपशिखा' ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित एकांकी है। रूपमती नामक एक नृत्य-संगीत प्रवीण राजपूत रमणी मालव के सुलतान को देखकर उस पर मुग्ध हो जाती है, वह भी रूपमती के प्रति श्रद्धा और आसक्ति से भर जाता है। रूपमती का पिता उसे उसके बराबर तौल का सोना लेकर मालव के सुल्तान बाजबहादुर के राजमहलों में पहुँचा देता है। रूपमती की कलाप्रियता बढ़ती जाती है; वह अपने नृत्य-गान के साथ मदिरा के प्यालों में बाजबहादुर का जीवन डुबा देती है। समय पाकर सम्राट् अकबर का एक सेनापति आदमखान रूपमती को उड़ाने का षड्यंत्र रचता है। मालवा पर चढ़ाई होती है, बाजबहादुर भाग खड़ा होता है। अब रूपमती पर आदमख़ान अकबर के प्रभाव को डालकर उसे ले जाना चाहता है। रूपमती तैयार नहीं होती। फिर आदमख़ान अपनी बेगम बनाने का प्रस्ताव रखता है, उधर बाज-बहादुर की सेना का सेनापति वीरसिंह भी रूपमती पर अपनी आसक्ति प्रकट कर देता है। रूपमती वीरसिंह को फटकारती है और आदमख़ान सम्बन्धी बात को प्रकट कर देती है। वीरसिंह को आश्चर्य होता है। किन्तु रूपमती ज़हर पी लेती है। तभी आदमख़ान आता है। इसी समय बाजबहादुर भी आ जाता है। आदमख़ान उसके देहान्त का समाचार सुनता है। बाजबहादुर अपनी गोली का स्वयं शिकार होता है।

इस कहानी को लेकर लेखक ने मुग़लों की विलासिता, उनके अनाचार का चित्रण तो किया ही है, साथ ही राजपूती शान की तसवीर भी अंकित की है, रूपमती का

जीवन आदर्श क्षत्राणी का जीवन दिखाया गया है। अपने ऐतिहासिक कथानकों के उद्देश्य की भाँति इसके कथानक द्वारा साम्प्रदायिक एकता का प्रयत्न भी किया है। रूपमती के मुख से लेखक ने कहलाया है :—'प्रीत के संसार में जाति और धर्म के दायरे नहीं हैं। वहाँ मनुष्य जाति एक है। हम दोनों इन्सान थे, हमने अपने प्राण एक कर लिये। न वह मुसलमान रहा, न मैं हिन्दू।'

इस नाटक का कलेवर बहुत बड़ा है, संग्रह के सब नाटकों में बड़ा है यह। सात दृश्य। पूरे नाटक की सामग्री। किन्तु कोई भी घटना, कोई भी दृश्य और कोई भी व्यक्ति फ़ालतू नहीं। सबका केन्द्र है रूपशिखा रूपमती। सब कोई उसके लिए क्रियाशील, उसके लिए आकुल। नाटक की कथा-वस्तु सुसंगठित और सबल।

जिज्ञासा और कौतूहल इसका विशेष गुण है, जिसे लेखक अन्त तक बनाये रखता है। रूपमती के चरित्र ने इस कौतूहल को और भी रहस्यमय बना दिया है। प्रेम जिस प्रकार रहस्यमय है, वैसे ही रूपमती का जीवन भी। इसी रहस्य में नाटक का प्राण है। रूपमती और बाजबहादुर की मृत्यु के साथ नाटक एक समवेदनात्मक प्रभाव छोड़कर समाप्त हो जाता है, यही इस नाटक का गुण है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी यह नाटक सुन्दर बन पड़ा है। यों इस नाटक में कई पात्र हैं; किन्तु रूपमती का चरित्र सबको आच्छादित किए हुए है। रूपशिखा जो ठहरी। उसके रूपज्वाल के पतंगे सभी बनते हैं, किन्तु वह अपने आदर्श से नहीं डिगती। राजपूत रमणी का यही तो चरित्र है। रूपमती प्रेम और कला की पुजारिन है। दोनों ही वस्तुएँ उसके जीवन की अक्षयनिधि हैं। इनके लिए ही वह जीवन की बलि देती है। वह कहती है—'मेरे लिए जीवन से बड़ी वस्तु है कला और कला से भी बड़ी वस्तु है प्रेम। प्रेम पर मैं कला को भी निछावर करने को प्रस्तुत थी और हूँ।' कला और प्रेम को वह मनुष्यता की नींव मानती हुई कहती है—'अपने मनुष्यत्व ने मुझे हरा दिया है, मैं एक की होकर अनेक की नहीं हो सकती। मैं कला की साधना करना चाहती थी, वेश्या बनना नहीं।'

नाटकीय कला की दृष्टि से नाटक का छठा दृश्य बहुत उत्तम है। कथोपकथन, राजपूती चरित्र का अंकन, कथा की पूर्वापर शृंखला की निबद्धता सभी दृष्टियों से इसका अपना महत्त्व है।

'नया समाज' हिन्दू-मुस्लिम-एकता का आदर्श प्रस्तुत करता है। यह एक सामाजिक नाटक है। हिन्दू-मुस्लिम दंगे में नव-विवाहिता महिला मालती विधवा हो जाती है। मिर्ज़ा अजीमबेग का पुत्र मुहम्मद उसे अपने घर लाता है। अजीमबेग एक सहृदय मुसलमान है, अतः मालती को वहाँ आदर का भाव मिलता है। हिन्दू लोग मिर्ज़ा पर आक्रमण करते हैं, मिर्ज़ा की पोती रोशन और उनकी बेटी बेघर-

बार हो जाती हैं। भूख से व्याकुल रोशन की माँ इससे पहले कि उसके प्राण निकलें रोशन को मालती की माँ के हवाले कर देती है। मालती और मुहम्मद साथ रहकर हिन्दू-मुस्लिम-एकता का प्रचार करते हैं। अन्त में मुहम्मद को अपनी बेटी रोशन और मालती को अपनी माँ मिल जाती है।

नाटक की कहानी हिन्दू-मुस्लिम-दंगे के कारणों, दुष्परिणामों का उद्घाटन तो करती ही है, साथ ही एकता का सीधा मार्ग भी प्रस्तुत करती है। नाटक का कथानक आरंभ से ही जिज्ञासा और कौतूहल जाग्रत करता चलता है। चरमसीमा पर ही नाटक समाप्त नहीं हो जाता। मालती की माँ के उपदेश के साथ नाटक का अन्त होता है जोकि प्रेमीजी का उद्देश्य होता है।

सामाजिक और राजनैतिक समस्या पर विचार करनेवाला यह नाटक गाँधीवादी युग की राष्ट्रीय चेतना का इतिहास भी कहा जा सकता है। गाँधीवाद के व्यवहार-पक्ष का उद्घाटन करना ही उसका लक्ष्य है। कल्पनालोक नहीं; बल्कि व्यावहारिक जगत् का आदर्शवाद ही इस नाटक द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

नाटकीय संकेतों से पूर्ण इस नाटक में उपदेशात्मकता ने शिथिलता भी ला दी है। इसी कारण से इसके कथोपकथन भी लम्बे हो गये हैं। उद्देश्य के प्रति इतनी जागरूकता भी समुचित नहीं है। वास्तव में कला के प्रति इस नाटक में इतना आग्रह नहीं है; जितना समकालीन राजनैतिक इतिहास के तथ्यों का वर्णन करने के प्रति रुचि। तथ्यों पर जिस सजगता से लेखक ने कलम चलाई है उससे विवेकशील पाठक का मन-मस्तिष्क उत्तेजना से भर उठता है और हृदय कुछ करने के लिए मचलता है। नाटक की कहानी को हम भूल जाते हैं और याद रह जाते हैं, ये वाक्य :—

'मिर्ज़ा—अंग्रेज़ समझते थे कि हिन्दुस्तान को उन्होंने जीता है इसलिए उनका है—मुसलमान कहते हैं हिन्दुस्तान उनका है, क्योंकि अंग्रेज़ों के पहले उनका था। हिन्दू कहते हैं हिन्दुस्तान सिर्फ़ उनका है, क्योंकि वे इसमें बहुत पहले से रहते आये हैं। अंग्रेज़ों को हिन्दू और मुसलमानों ने मिलकर निकाल दिया—लेकिन साथ ही अपने घर का बँटवारा भी कर लिया।'

'मालती—गत दंगों ने पाकिस्तानी और भारतीय दोनों सीमाओं में लाखों आदमियों को मौत के घाट उतार दिया—लाखों ही हिन्दू और लाखों ही मुसलमानों के रक्त से धरती लाल हो गई। लाखों महिलाएँ विधवा हो गईं—लाखों बहनों को नंगी करके जुलूस निकाले गये—क्या नहीं हुआ—जिसका वर्णन करने में भी वाणी को संकोच होता है। ऐसे काम मानव कैसे कर सका, यही आश्चर्य की बात है!'

'मुहम्मद—लाखों की तादाद में अनाथ, अपाहिज, विधवाएँ आज बेसहारा

घूम रहे हैं। हिन्दू हिन्दुओं की बरबादी याद करके मुसलमान को राक्षस समझता है और उन्हें दुनिया के पर्दे से मिटा देना चाहता है और मुसलमान अपनी बरबादी को याद करके सारे हिन्दुओं से उसका बदला चाहते हैं। एक-दूसरी क़ौम के लिए नफ़रत का ज़हर नसों में भर लिया गया है।'

इस सबसे उत्पन्न समस्याओं का हल खोजता है, लेखक मालती के शब्दों में। मालती कहती है :—'लेकिन अब साम्राज्य स्थापित करने के दिन तो हैं नहीं, आज जनता अपने अधिकारों को समझने लगी है। अंग्रेज़ों को भारत से हटाने का अर्थ न तो हिन्दूराज स्थापित करना है, न मुसलमान राज।'

'बल ! धन! वह महात्मा गाँधी ने हमें दिया है। हमारा बल है चरखा—धन है चरखा। इसी ने हमें अंग्रेज़ों से स्वतंत्र कराया है—यही हमें कुसंस्कारों से मुक्त करेगा। यह हमें स्वावलम्बन और आत्म-विश्वास का गीत सुनाता है। हम अपना पेट इसकी सहायता से भरकर अपने-जैसे दुःखी और सर्वस्वहीनों को इस मन्दिर में लायेंगे, उन्हें भी चरखा रोटी देगा। यहाँ न कोई हिन्दू होगा, न कोई मुसलमान। हम किसी से भीख माँगने नहीं जायेंगे।'

लेखक का अपना एक कर्त्तव्य होता है, उसके आगे वह कला की चिन्ता नहीं करता। कर्त्तव्य का निभाना ही बड़ी कला है। प्रेमीजी इस कला के धनी हैं। कहानियाँ तो सभी देते हैं; परन्तु विचार कितने देते हैं ! प्रेमीजी का यह नाटक कहानी चाहे न देता हो, विचार अवश्य देता है। क्या कला का यह काम नहीं ?

'मातृभूमि का मान' ऐतिहासिक नाटक है। चित्तौड़ के प्रतिभासम्पन्न महाराजा महाराणा लाखा सेनापति अभयसिंह को बूँदी के महाराव हेमू के निकट मेवाड़ की अधीनता स्वीकार करने की आज्ञा देकर भेजते हैं। बूँदी को यह बात पसन्द नहीं। किसी की अधीनता की अपेक्षा वह मृत्यु को श्रेयस्कर समझता है। फलतः मेवाड़ और बूँदी में युद्ध होता है। मुठ्ठी-भर हाड़ा सिसौदिया वंश को हरा देते हैं। महाराणा प्रण करते हैं कि बूँदी के दुर्ग पर अपना अधिकार करके ही अन्न-जल ग्रहण करेंगे। चारणी इस कलह को रोकना चाहती है; किन्तु राजपूती हठ को कौन टाले ? चारणी उपाय निकालती है कि बूँदी का नकली दुर्ग बनाकर जीत लिया जाये, प्रतिज्ञा पूरी होगी। नकली दुर्ग बनता है तो मेवाड़वासी एक हाड़ा वीरसिंह बूँदी के सैनिकों को उत्तेजित करता है। मेवाड़ की सेना में ही बूँदी के सैनिक भी हैं। अपनी जन्मभूमि बूँदी के गौरव की रक्षा के लिए मेवाड़ की सेना आपस में टकराती है। खेल रूप में भी मातृभूमि का अपमान क्यों हो ? वीरसिंह देश की मर्यादा के लिए लड़ता हुआ मारा जाता है। मेवाड़ का झंडा नकली दुर्ग पर फहराया जाता है। किन्तु महाराणा को अपनी यह जीत पराजय से भी अधिक भयानक लगती

हैं। उन्हें अपने व्यर्थ अहंकार और अविवेक के लिए पश्चात्ताप होता है। वे अपने अपराध की क्षमा माँगते हैं। दोनों राज्यों में फिर एकता हो जाती है।

राजपूतों की वीरता, शक्ति किन्तु अविवेक का उद्घाटन करना ही नाटक का उद्देश्य है। साथ ही यह भी वता दिया गया है कि प्रेम का ही अनुशासन स्वीकार किया जा सकता है, शक्ति का नहीं। जन्मभूमि का मान और पारस्परिक एकता ही इस नाटक का प्रतिपाद्य है। अपनी चरमसीमा पर समाप्त होता हुआ यह नाटक एक सन्देश छोड़ जाता है :—'हम युग-युग से एक हैं और एक रहेंगे।...सब देश, जाति और वंश की मान-रक्षा के लिए प्राण देनेवाले सैनिक हैं। हमारी तलवार अपने ही स्वजनों पर न उठनी चाहिए।'

'यह मेरी जन्म-भूमि है' नाटक देश की राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक है। देश की स्वतन्त्रता के लिए उद्योग ही इसमें दिखाया गया है। गांधीजी की गिरफ़्तारी के विरोध में कॉलिज के विद्यार्थी जुलूस निकालते हैं। एक अंग्रेज सैनिक अफ़सर कर्नल होम्स जुलूस को रोकने के लिए नियुक्त है। उधर अंग्रेज़ों के खुशामदी रायसाहब सीताराम और अंग्रेज़-भक्त देशद्रोही ग़ुलाममुहम्मद षड्यन्त्र रचकर स्वतन्त्रता-आन्दोलन को असफल बनाने का प्रयत्न करते हैं। हिन्दू-मुसलमानों के इस संयुक्त जुलूस में वे साम्प्रदायिक दंगा करवाना चाहते हैं। मिस होम्स इस षड्यन्त्र को विफल करना चाहती है। इसके लिए वह रायसाहब के पुत्र मनोहरलाल और गुलाम मुहम्मद के पुत्र वलीमुहम्मद की सहायता लेती है। षड्यन्त्र असफल हो जाता है और स्वतन्त्रता आन्दोलन का जुलूस गांधीजी की गिरफ़्तारी का विरोध करता हुआ आगे बढ़ जाता है। कर्नल होम्स जब देखते हैं कि उनकी पुत्री सत्याग्रह में सक्रिय भाग ले रही है तो वे मशीनगन चलाने का आदेश देते हैं; किन्तु कलक्टर इस कठोर पग को उठाने की राय नहीं देता। जुलूस निकलता है।

इस नाटक से कई राजनैतिक तत्त्वों पर प्रकाश पड़ता है। पहली बात तो यह है कि भारत पर विदेशी शासन का कारण अंग्रेज़ों की मनोवृत्ति नहीं, बल्कि स्वार्थ-बुद्धि थी। अंग्रेज़ों में भी मानवता है; जैसाकि मिस होम्स के चरित्र द्वारा दिखाया गया है। दूसरी बात यह है कि बुराई किसी एक देश या जाति विशेष तक ही सीमित नहीं है, वह कहीं भी हो सकती है। हिन्दू और मुसलमानों में भी देश-द्रोही मिल सकते हैं। लेखक ने बड़े ही सुन्दर ढंग से राष्ट्रीय चेतना के युग की मानसिक हलचल का चित्र अंकित किया है। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान और क्या अंग्रेज—सभी के मन यह अनुभव करते थे कि भारत पर विदेशी शासन अनुचित है। संगठन की भावना अन्य नाटकों की भाँति इस नाटक का भी प्राण है। हिन्दू-मुस्लिम एकता में विघ्न डालनेवाली अंग्रेज़ों की नीति ने अनेक स्वार्थी, धन-लोलुप प्राणियों को अपने ही देश

का विरोधी वना दिया था। इस नाटक में संगठन द्वारा इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया गया है।

इस नाटक में जहाँ एक ओर स्थल और समय की एकता का ध्यान न रखकर रंगमंचीयता की ओर ध्यान नहीं रखा गया, वहाँ मिस जेम्स की बेचैनी दिखाकर, उसका पुस्तकों को फेंकना और आरामकुर्सी पर पड़े रहना व्यक्त करके नाटकीय सामग्री भी प्रस्तुत की गई है। मानसिक स्थिति का यह चित्रण नाटकीय वस्तु है।

चरमसीमा पर समाप्ति इस नाटक का गुण है। इस नाटक की चरमसीमा वहाँ होती है जहाँ स्वयं कर्नल होम्स, वलीमुहम्मद और सीताराम की सन्तान उनकी आज्ञा के विपरीत जुलूस का नेतृत्व करते हैं। इसी चरमसीमा पर नाटक समाप्त हो जाता है।

स्वार्थ और आदर्श का, राज-भक्ति और देश-भक्ति का द्वन्द्व भली प्रकार से उभारा गया है। मानवता की स्थापना भी इस नाटक का उद्देश्य है।

'निष्ठुर न्याय' की कथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। मेवाड़ के राजकुमार अजयसिंह भील कन्या श्यामा के प्रेम में फँस जाते हैं। फलतः वे समय पर सेना के अग्रभाग का संचालन नहीं कर पाते। मेवाड़ के महाराणा रत्नसिंह को मेवाड़ के भावी शासक की यह विलास-वासना पसन्द नहीं। उनका न्याय-दण्ड अजयसिंह पर भी चला। महाराणा के सामने जब अजय और श्यामा को प्रस्तुत किया गया तो दोनों को प्राण-दण्ड की आज्ञा सुना दी गई। परन्तु चारणी बीच में पड़ती है। उसके कथनानुसार पहले दोनों का विवाह हो जाता है। अब राणा का न्याय श्यामा को निर्दोष और अजय को देश-द्रोही मानता है। प्राण-दण्ड की आज्ञा दी जाती है। काली की मूर्ति के समक्ष राजकुमार अजयसिंह को खड़ा किया जाता है। सेनापति तलवार उठाते हैं। श्यामा चीत्कार करके चारणी के चरणों में गिर जाती है।

नाटक में वध का दृश्य न दिखाकर भारतीय नाट्य-शास्त्र की परम्परा दिखाई गई है। राजपूतों के शौर्य, आन और बलिदान का चित्र भी प्रस्तुत किया गया है। नाटक का अन्त चरमसीमा में होता है। यह चरमसीमा जहाँ एक आदर्श को लिये है, वहाँ एक करुण प्रभाव भी छोड़ती है। प्रेम को कर्त्तव्य से अधिक मानने वाला कुमार स्वयं अपने पिता की आज्ञा से मृत्यु-दण्ड पाता है। कला और भाव-शैली की दृष्टि से यह नाटक अच्छा वन पड़ा है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी यह नाटक सुन्दर कहा जा सकता है। महाराणा का चरित्र आदर्श न्यायप्रिय राजपूत का चरित्र है। न्याय के आगे वात्सल्य कुछ नहीं होता। हृदय के कोमल अंश को ही सब कुछ माननेवाले इस चरित्र को अस्वाभाविक भले ही कहें, परन्तु राजपूती दृढ़ता का यह सही प्रतिनिधित्व करता है।

श्यामा का चरित्र बहुत ही सफलता के साथ अंकित किया गया है। उसमें आत्म-गौरव है। भीलकन्या होने पर भी वह अपने को हीन नहीं समझती। वह अजयसिंह से कहती है :—'आत्म-गौरव को ऐश्वर्य और शक्ति की तराजू पर नहीं तोला जा सकता··· भीलसमाज अपनी मर्यादा को किसी प्रकार राजपूतों के उच्चतम वंश के आगे झुकाने को प्रस्तुत नहीं।' वह प्रेम को चोरी की वस्तु नहीं बनाना चाहती। कुमार का चोरी-चोरी मिलना उसे पसन्द नहीं है। वह कहती है :—'अपनी लालसा को अँधेरी गुफा में रखकर चोर न बनाओ, प्रकाश में लाकर विद्रोही भले ही बनाओ।' चरित्र की यह उदात्तता ही इस नाटक का प्राण है।

प्रेम, वर्गहीन समाज और न्याय के सम्बन्ध में नाटक की यह स्पष्ट घोषणा है। चारणी कहती है :—

'न्याय-आसन पर बैठते समय आप न महाराणा हैं, न आपका उच्चकुल में जन्म हुआ है। न्याय-मन्दिर का देवता एक निष्पक्ष, निर्विकार, जाति-कुल-हीन, ममता-माया के आवरण से मुक्त, यश-अपयश के परे रहनेवाला मनुष्य है। महाराणा यदि आप इस समय इन दोनों को दण्ड देंगे तो संसार यही समझेगा कि मनुष्य का मनुष्य से प्रेम करना पाप है।···हमने नीच और ऊँच की भावनाएँ प्राणों में पालकर अपने देश को सैकड़ों टुकड़ों में बाँट लिया है।'

'पश्चात्ताप' संग्रह का अन्तिम नाटक है। यह सामाजिक है। वर्तमान भारत की अछूत-समस्या ही इसका विषय है। रधिया एक अछूत-कन्या है। कन्हैया अछूतोद्धार में लगा हुआ एक कुलीन युवक है। रधिया इससे प्रभावित होकर क्रान्तिवादी विचार रखती है। किन्तु न तो मन्दिर में उसका आदर होता है और न ही वैद्य पंचकौड़ीदास उसकी चिन्ता करते हैं। वह बीमार पड़ जाती है, तो वैद्यजी उसे देखने नहीं आते। तभी वैद्यजी का लड़का बीमार पड़ जाता है, वे उसका इलाज नहीं कर पाते तो ईसाई डाक्टर बुलाया जाता है। डाक्टर किसी समय भंगी था। वैद्यजी को मालूम होता है तो उन्हें दुःख होता है। इसी समय वैद्यजी के पास रधिया की माँ आती है तो वे उसे फटकारते हैं। डाक्टर को इससे घृणा होती है। वह रधिया को देखने जाते हैं। इधर वैद्यजी के लड़के की दशा बहुत खराब हो जाती है, उन्हें डाक्टर को लेने रधिया के घर जाना पड़ता है। डाक्टर इन्कार करता है। रधिया सिफ़ारिश करती है; अब वैद्यजी को अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप होता है।

लेखक ने अछूत-समस्या पर समुचित प्रकाश डाला है। पंचकौड़ीदास के इस वाक्य-द्वारा कि 'वह चुड़ैल रधिया की माँ सब जान गई है। वह गाँवभर में फूंक देगी।' लेखक ने यह बताने की चेष्टा की है कि मनुष्य भीतर से तो चाहता है कि

अछूत-भावना का अन्त हो, किन्तु समाज-भीरुता वैसा नहीं करने देती। रूढ़ियों की जकड़न ही बाधा है।

कन्हैया ने जो तथ्य प्रस्तुत किये हैं, वे इस प्रकार हैं :—

'मनुष्य ही तो सच्चा देवता है। जो मनुष्य की पूजा नहीं करता वह भगवान् की पूजा कैसे कर सकता है ?'

'संसार में न कोई बड़ा है, न छोटा। विद्या प्राप्त करने का सबको अधिकार है। सबके साथ एक-सा वर्ताव होना चाहिए।'

'हमें तो ऊँची जातिवालों के हृदय को बदलने की ओर अछूत कही जाने वाली जातियों का रहन-सहन बदलने की ज़रूरत है।'

पहले, चौथे और अन्तिम दृश्य में जो नाटकीय स्थिति पैदा की गई है, उससे यह नाटक और भी सुन्दर हो उठा है। रंग-संकेत इसको और भी सजीवता प्रदान करते हैं। पहले दृश्य में जो दृश्य-विधान प्रस्तुत किया गया है वह समस्त वातावरण को आँखों के आगे सजीव कर देता है। वैद्यराज पंचकौड़ीदास की झाँकी देखिए—'वे एक मैली धोती पहने हैं जो आधी पहन रखी है, आधी कन्धे पर है। बदन उघड़ा है। एक मैला और मोटा जनेऊ पहने हुए हैं।' अछूतों से घृणा करनेवाले ब्राह्मण का यह चित्र एक अच्छा व्यंग्य-चित्र प्रस्तुत करता है।

यों कविता किसी की बपौती नहीं है किन्तु रधिया की कविता के लिए नाटक में शायद ही गुंजाइश थी। नाटक में गीत रखने का लोभ संवरण नहीं हुआ तो रधिया की कविता ही सही। रधिया की माँ के पैरों में पंचकौड़ी का गिराना भी व्यर्थ था। इसके बिना भी अछूतोद्धार हो सकता था। रधिया का आग्रह ही डाक्टर के लिए पर्याप्त था।

'बेड़ियाँ' प्रेमीजी का फुटकर नाटक है। यह विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत कहा जा सकता है। किसी व्यापक समस्या की ओर इसमें संकेत नहीं है। कर्त्तव्य, प्रेम और आदर्श की संघर्षमय कथा को लेकर लिखा गया है।

कवि चातक के जीवन में सहसा एक दिन आ जाती है नीता। उन दिनों चातक की पत्नी अपने मायके गई हुई थी। नीता ने समझा यह घर अब मेरा ही है, और मैं चातक से अलग नहीं हूँगी; किन्तु एक दिन आ जाती है चातक की पत्नी कमला। कमला नहीं चाहती कि नीता घर में रहे। दोनों में परस्पर वैमनस्य हो जाता है। नीता चाहती है कि कवि कमला को परिवारसहित छोड़ दे और उसे ही अपना ले। कवि अपनी विवशता उसे समझाता है। वह उसके आँसू पोंछता है कि कमला देख लेती है। कमला से कवि का झगड़ा होता है। नीता चली जाती है। कवि कमला को समझाता है, नीता के प्रति अपने व्यवहार के औचित्य पर प्रकाश

डालता है कि नीता फिर लौट आती है। कमला और नीता में विवाद बढ़ जाता है, दोनों के झगड़े से तंग आकर कवि घर से निकल चलता है। दोनों उसका रास्ता रोक लेती हैं। कवि अपने हृदय के उद्गार व्यक्त करता है। नीता और कमला दोनों को अपनी ग़लती का अनुभव होता है और वे कवि से क्षमा माँगती हैं।

इस नाटक में दो समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है; एक तो पति-पत्नी के बीच नासमझी के कारण उत्पन्न होनेवाली ग़लतफ़हमी से सम्बन्धित घर की अशान्ति से सम्बन्ध रखती है। दूसरी समस्या कर्त्तव्य-पालन की जिम्मेदारी को निभाने की है। कवि चातक की पत्नी कमला अशिक्षित है, अतः ग़लतफ़हमियाँ उसे शीघ्र जकड़ लेती हैं, फलस्वरूप वह अपने गृहस्थ जीवन को अशान्त कर लेती है। वह न तो स्वयं को समझ पाती है, न ही अपने कवि पति की उदारता को। नीता के प्रति सद्व्यवहार को वह उसकी प्रेमलीला मानती है। जब उसे असलियत का पता चलता है तो कहती है :—

'मैं तो अनपढ़ हूँ, इसलिए इन्हें समझ न पाई और तुम पढ़ी-लिखी हो, फिर भी तुमने इन्हें ग़लत समझा। मैंने तुम्हें भी ग़लत समझा, लेकिन तुम मेरे स्थान पर होतीं तो समझतीं कि मेरा ग़लत समझना स्वाभाविक है। एक बात तुमसे कहती हूँ कि पति की सेवा में ही मेरा सुख है। तुमको दूर फेंककर यदि वह सुखी नहीं रह सकते तो आज से तुम मेरी बहन हुईं।'

कर्त्तव्य का पालन करता है चातक। नीता को सहारा देकर उसे मिलती है बदनामी। वह नीता और कमला दोनों की ग़लतफ़हमियों का शिकार होता है; किन्तु ज़िम्मेदारी से भागना नहीं चाहता। वह उदार दृष्टि और भावुक हृदय का व्यक्ति है। नीता को उसने इसीलिए अपनाया भी :—'दुःखों ने तुम्हारे सम्पूर्ण तन और मन को झुलस डाला था। फिर भी दुःखों से खाए हुए तुम्हारे चेहरे पर कुछ ऐसा था जो हृदय की सहानुभूति छीन लेता था। सहसा मैंने भी तुम्हारे जीवन की सम्पूर्ण ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले ली।'

चातक हर प्रकार से नीता की सहायता करना चाहता है, किन्तु अपने बीवी-बच्चों के प्रति निर्दय होकर नहीं। वह अपने परिवार के प्रति भी अपनी ज़िम्मेदारी अनुभव करता है :—

'अनेक सुख-दुःखों की स्मृतियाँ लिए हुए वह भी मेरे जीवन का अंग है। तुम भी नारी हो, वह भी नारी है। मुझे किसी नारी के प्रति अत्याचार करने को बाध्य मत करो।...मेरी पत्नी और बच्चों का कोई अपराध नहीं। कम-से-कम उनका जीवन तो बर्बाद तुम न करो।'

एक समस्या और भी उठाई गई है। बेमेल विवाह की। कवि को जो पत्नी मिली वह उसकी अनिच्छा से। मिल भी गई तो वह उसके विचारों से मेल नहीं

खाती। चातक ने कमला से बातें करते हुए कहा :—'मेरे पिताजी ने धनी घर में सम्बन्ध जोड़ने के प्रलोभन में बचपन में ही मारपीटकर यह विवाह कर डाला।'

'तुम्हारे संस्कार दूसरे थे—मेरे दूसरे।···तुमने कहा था, मैं कायस्थ के हाथ का पान नहीं खा सकती। मैं तो सब तरह की छूतछात और ऊँच-नीच को मनुष्यता के लिए कलंक समझता रहा हूँ।······तुम अपने अन्धविश्वासों और रूढ़िवाद के कुसंस्कारों से छुटकारा न पा सकीं, जितना ही तुम्हें उनसे दूर करने का मैंने यत्न किया, उतनी ही तुम उनसे चिपट गईं।'

इतना होने पर भी कवि कमला के प्रति ईमानदार रहा है। लेखक यही कहना चाहता है कि बेमेल विवाह अभिशाप है; किन्तु समझदारी यही है कि पुरुष फिर भी ईमानदारी बरते। लेखक ने बड़े अच्छे ढंग से वैवाहिक जीवन, प्रेम-सम्बन्ध और कर्त्तव्यपालन की टीका प्रस्तुत की है।

संकलनत्रय की दृष्टि से भी यह नाटक सुन्दर बन पड़ा है। प्रेमीजी का यह एकमात्र नाटक है जिसे हम एक सैट का कह सकते हैं। रंग-संकेतों की भी पूरी सहायता ली गई है। दृश्य-विधान समुचित ढंग से वर्णित है। कवि चातक, नीता और कमला के चित्र इस प्रकार प्रस्तुत हैं :—

कवि चातक की आयु लगभग ४५ वर्ष की है। वह केवल खादी का कुर्ता और धोती पहने है। सिर नंगा है। सिर के बाल आधे काले और आधे सफ़ेद हैं।

नीता लगभग पच्चीस वर्ष की युवती है। देखने में सुन्दर भी नहीं है, असुन्दर भी नहीं है। उसकी आंखों, चेहरे और अन्य अवयवों से ऐसा जान पड़ता है जैसे मुसीबतों ने उसे पर्याप्त सताया है। वह सलवार, कमीज़ और चुन्नी पहने हुए है, जो काफ़ी पुरानी जान पड़ती है। उसके हाथ में एक कापी है, जिसे वह झटके के साथ बीच की गोल टेबल पर पटकती है।

कमला की आयु अड़तीस वर्ष के लगभग है। शरीर से कुछ मोटी है। रंग सांवला है। साधारण कपड़े पहने हुए है।

पहला चित्र जीवन की सादगी और अनुभवशीलता का है। दूसरा चित्र परिस्थितियों की चोट खाई किन्तु तेज़ तर्रार लड़की का है और तीसरा चित्र एक अविवेकी तथा फूहड़ महिला का। तीनों के कथोपकथनों में इसी विशेषता की अभिव्यक्ति है। यही प्रेमीजी का कौशल है।

कथोपकथन सरल, भावानुकूल, मनोभावों के उद्घाटनकर्त्ता और चुभते हुए। सभी गुणों से युक्त यह एकांकी प्रेमीजी के सभी एकांकियों का सिरमौर है।

दस

प्रेमीजी के नाटकों की भाषा-शैली

भाषा-शैली भावों का वाहन है। यह वाहन जितना परिचित, सरल, सीधा और उपयुक्त होगा उतना ही भावों की अभिव्यक्ति प्रभावशाली होगी और लेखक को अपने कार्य में सफलता मिलेगी। नाटक एक सामाजिक वस्तु है; अतः नाटककार को भाषा-शैली के सम्बन्ध में सामाजिक दृष्टि से ही विचार करना पड़ता है। प्रेमीजी ने अपने नाटकों की भूमिकाओं में भाषा-शैली के सम्बन्ध में जो अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है; वह इस प्रकार है :—

'…सारे हिन्दुओं से हिन्दी ही बुलवाई गई है, किन्तु मुसलमान पात्रों के मुख से उनकी स्वाभाविक भाषा बुलवाई गई है। अभीतक हिन्दी-लेखकों की यही परिपाटी रही है।' ('शिवा-साधना')

'मैंने अपने अन्य नाटकों में यह नियम रखा है कि हिन्दू-पात्रों की भाषा हिन्दी तथा मुस्लिम-पात्रों की उर्दू रखी जाय। यह नाटक इसका अपवाद है। इसके लगभग सभी पात्र मुसलमान हैं, उनकी भाषा उर्दू रखने से नाटक हिन्दी-भाषियों के काम का न रहता।' ('स्वप्न-भंग')

'…मैंने अपने 'रक्षा-बन्धन', 'शिवा-साधना', 'प्रतिशोध', 'आहुति' आदि नाटकों में मुसलमान पात्र से उर्दू भाषा बुलवाई है, किन्तु 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'स्वप्न-भंग' में ऐसा नहीं किया। 'स्वप्न-भंग' के पात्रों में मुसलमानों की बहुसंख्या है और यदि उनसे उर्दू भाषा बुलवाता तो नाटक उर्दू भाषा का ही बन जाता। बस, मैंने उर्दू का मोह छोड़ दिया। पात्रों के धर्म या देश के अनुसार भाषा में परिवर्तन करने का नियम रखा जाता तो 'रक्षाबन्धन' में पोर्चुगीज़ पात्र से पोर्चुगीज़ भाषा बुलवानी पड़ती। किसी से हिन्दी, किसी से उर्दू, किसी से पोर्चुगीज़, किसी से राजस्थानी—एक अच्छा-खासा मज़ाक़ बन जाता। अतः अब मैं हिन्दी भाषा के नाटकों में हिन्दी भाषा का ही प्रयोग प्रत्येक पात्र के कथोपकथन में करने लगा हूँ। ('शतरंज के खिलाड़ी')

यही सफ़ाई उन्होंने 'विदा' नाटक की भूमिका में दी है। इन स्पष्टीकरणों से यह बात प्रकट होती है कि प्रेमीजी बराबर लोकसामान्य भाषा की खोज में रहे हैं। ऐसी भाषा की खोज में जो स्वाभाविक भी लगे और जिसे सब समझ भी सकें। दुरूहता या अपरिचितता के पक्ष में प्रेमीजी कभी नहीं रहे। वास्तव में उनके नाटकों की भाषा सरल, सुबोध और प्रवाहपूर्ण है। आपने प्रसादजी की भाँति संस्कृत की तत्सम पदावली से युक्त दुरूह भाषा नहीं लिखी।

"प्रेमीजी के नाटकों की भाषा प्रायः सरल रही है। उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग द्वारा अपनी भाषा को केवल उसी स्थिति में क्लिष्ट होने दिया है, जब उन्होंने गहन विचारों की अभिव्यक्ति की है। उनकी भाषा भावानुरूप परिवर्तित होती रही है। यही कारण है कि जहाँ श्रृंगार, करुणा और शांत आदि कोमल रसों के प्रयोग में उनकी भाषा माधुर्य-गुण सम्पन्न रही है, वहाँ वीररस के प्रकरणों में वह ओजगुणमयी हो गई है। तद्भव शब्दों के साथ-साथ उन्होंने देशज शब्दों का भी प्रयोग किया है। लोक-साहित्य में उपलब्ध शब्दावली भी उनके नाटकों में प्रचुरता से प्राप्त होती है। इसी प्रकार उन्होंने अपने ऐतिहासिक नाटकों में तत्कालीन देश-काल को सुरक्षित रखने के लिए कुछ विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग किया है।......सत्य तो यह है कि अभिनेय नाटक के लिए सरल और संक्षिप्त वाक्यों से युक्त जिस प्रवाहमयी भाषा की आवश्यकता होती है, उस पर उनका पूर्ण अधिकार रहा है।"[1]

प्रेमीजी ने पात्रानुसार भाषा का प्रयोग किया है। पात्रानुसार का अर्थ भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी पात्रों की भाषा नहीं, बल्कि पात्रों की मानसिक अवस्था, उनके बौद्धिकस्तर और पदानुसार ही भाषा का प्रयोग। मुग़लों के मुख से शुद्ध हिन्दी बुलवाने के पक्ष में वे नहीं रहे। उसे उर्दू के प्रचलित शब्दों की पुट देकर सरल बनाया गया। सरलता ही प्रेमीजी का गुण है। प्रसादजी की भाँति सभी पात्र किसी दार्शनिक गुत्थी को सुलझाने में संलग्न नहीं दिखाई देते।

'रक्षाबन्धन' की श्यामा आरम्भ में आत्मपीड़ा से तड़पती दिखाई देती है, उस पीड़ा का कारण वह मेवाड़ के राजवंश को मानती है; इस प्रकार के व्यक्ति का हृदय स्वाभाविक घृणा और व्यंग्य से भर उठता है। श्यामा के मुख से निकली भाषा उसके पीड़ित और प्रतिशोध को व्यग्र हृदय का पता देती है :—'आह ! चारण और चारणी ! ये मनुष्यता के लिए अभिशाप हैं, शान्ति को भस्मसात कर देनेवाले दावानल हैं। प्रेम के कुसुम को कुचल डालनेवाले उन्मत्त पशु हैं, देशाभिमान, राष्ट्रीयता, वंश-गौरव और न जाने किस-किस कृत्रिम भावना का नशा पिलाकर मनुष्य को रणोन्मत्त कर रक्त की नदियाँ प्रवाहित करानेवाले पिशाच हैं। चारणी ! तुम मेरी आँखों के आगे से हट जाओ !'

जब प्रेमीजी श्यामा के भावावेश का चित्रण करते हैं तो शब्दों की झड़ी इस प्रकार लगती चलती है, जैसे टकसाल में सिक्के गढ़े जा रहे हैं। एक के बाद एक स्वतः आते चले जाते हैं। भाषा का ऐसा स्वाभाविक उद्दाम प्रवाह कम ही देखने को मिलेगा। चारणी को अपना परिचय देती हुई श्यामा कहती है :—'मैं हूँ डाली से तोड़ी हुई, पैरों से रौंदी हुई कलिका। मैं हूँ मूर्च्छित हाहाकार। मैं हूँ

१. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रंथ; पृष्ठ ७६६-७६७.

ऊपर से बन्द, किन्तु भीतर चिर प्रज्वलित ज्वालामुखी। मेरा जीवन है सूखी हुई सरिता, उजड़ा हुआ उपवन, ऊसर खेत, पतझड़ का पेड़। मेरे जीवन में भी एक दिन वसन्त आया था……।'

श्यामा जहाँ भी भावावेश में आती है, वहाँ इसी प्रकार वाक्य कहती चली जाती है। इस प्रकार भाषा प्रभावशाली होकर अधिक नाटकोचित हो उठती है। विजय को समझाती हुई वह कहती है :—

'मैं चाहती हूँ ठंडे दिमाग से अपने सर्वस्व को कण-कण करके पीड़ितों की सेवा में क्षय करना, मैं चाहती हूँ अपने हाथों अपने प्राण-प्रिय पति और पुत्र को मरण की ज्वाला में झोंककर जीवित रहना और उनके वियोग के एक-एक क्षण की दारुण कसक को आजीवन सहना; सहते-सहते हँसना, खेलना और काम करना; कलेजे पर पत्थर रखकर दुखियों की सेवा करना; अपने कलेजे को ऐसा बनाना कि वह पत्थर के नीचे दबा रहने ही को वीरता न समझे बल्कि उसे उठाकर दुनिया की उलझनें सुलझाता हुआ जीवन के कंटकमय पथ पर हँसता-खेलता, उछलता-कूदता चले।'

'शिवा-साधना' की ज़ेबुन्निसा का हृदय भी चोट खाया हुआ है। वह शाहज़ादी है, किन्तु इन्सान बनना चाहती है, शाहज़ादी नहीं। उसके बातों से भी उसके दिल की पीड़ा झाँक रही है।—'चुप रहो सलीमा! अगर बोलना है तो उसी तरह बोलो जिस तरह एक इन्सान दूसरे इन्सान से बोलता है। ऐसा डरावना नाम लेकर एक मुलायम दिल रखनेवाली लड़की को न पुकारो। तुम मुझे शाहज़ादी कहती हो; मगर मैं यह महसूस करती हूँ कि इस दुनिया में मुझसे बढ़कर कंगाल कोई इन्सान का जाया न होगा।'

'आहुति' के नायक हमीर के हृदय के असन्तोष का, अशान्ति का और हृदय के भीतर तरंगें मारती उद्दाम लालसा का चित्र भी भाषा की सफलता का द्योतक है। हमीर कहता है :—'मेरी तलवार प्यासी है चाचाजी! उसे नर-रक्त चाहिए! नर-रक्त! यह फागुन का महीना है, होली आनेवाली है। मेरा जी चाहता है कि एक बार जी भरकर रक्त की होली खेली जाय……लेकिन मेरा तो हृदय फटा पड़ता है। मेरे पैर ज़मीन पर नहीं पड़ते, प्राणों में ज्वालामुखी जल रहा है। हमीर विनाश की भैरव मूर्ति बनकर अपनी हुंकार से भारत का प्रत्येक कोना कँपा देगा।' हमीर की महत्त्वाकांक्षा को चित्रित करनेवाली यह भाषा ओजगुण से पूर्ण है।

वीर हमीर का हृदय उत्साह और दृढ़ता से परिपूर्ण है। वीरोल्लासमयी वाणी को मुखरित करनेवाली वेगवती भाषा देखिए :—'जो अग्नि-पुत्र है, जिनकी माताएँ, पत्नियाँ और बहिनें हँसते-हँसते आग में जीवनाहुति चढ़ा देती हैं, वे क्या आफ़तों से डरते हैं……डरो मत! मीर! मेरे दिल में जगह है और रणथंभौर

के क़िले में भी······तुम्हें गले लगाना फूलों का हार पहनना नहीं, काँटों पर सेज बिछाना है। देखता हूँ कौन रणथंभौर की चट्टानों से अपना सर टकराने आता है।'

इस ओजमयी भाषा से केवल हमीर के वीर हृदय का ही पता नहीं चलता, बल्कि उसकी दृढ़ता, उदाराशयता और शरणागत-वत्सलता तथा शौर्य का भी पता चलता है। ऐसी व्यंजक भाषा प्रेमीजी ही लिख सकते हैं।

भावावेश की इस शैली में प्रेमीजी काव्य की मधुर पुट देकर पात्रों के मन-मस्तिष्क का साक्षात्कार करा देते हैं। पात्रों की हृदय-मन्दाकिनी में नीरस हृदय व्यक्ति भी स्नान कर सहज सुख का अनुभव करते हैं। 'उद्धार' में हमीर की मा सुधीरा के भावुक हृदय का कवित्वपूर्ण चित्र देखिए :—'प्रकृति तो मानव का दर्पण है। मानव अपनी मनोभावनाओं को प्रकृति में चित्रित पाता है। आज प्रभात की स्वर्ण-रश्मियों ने मुझे नवजागरण के लोक में पहुँचा दिया है। जिस सत्य को मैं रहस्य की घटाओं में छिपाये रही हूँ वह आज प्रकट होने पर आतुर हो उठा है।' इसी प्रकार 'विषपान' की राजकुमारी कृष्णा भी रहस्मय भावुकतापूर्ण हृदय लिये कहती है :—'हाँ, कृष्णा पागल हो गई है। वह मनुष्य से घृणा करती है। वह निर्जीव फूलों से बातें करती है। वह कोयल के अर्थहीन गीतों को सुनती है। वह आकाश के तारों से प्रेम करती है। वह ताल में चन्द्र-किरणों का नृत्य देखती है।

तीखे व्यंग्य और सहृदय कवित्त्व का स्वर्ण संयोग करने में प्रेमीजी कुशल हैं। 'शपथ' की कंचनी का कथोपकथन लीजिए :—

'······यह तो वृहन्नला की भाँति नृत्य करता है, तुंबुरु की भाँति वीणा बजाता है, वाल्मीकि की भाँति छन्द-रचना करता है और पपीहे की तरह प्राणों की पुकार को गीतों में भरता है। अत्यन्त कोमल प्राणी है यह, क्या वीर पुरुषों की तलवार चन्द्र-किरणों पर उठती है, कोमल कमलों को काटती है। अपने हाथों में शक्ति है तो उस चट्टान का वक्षस्थल विदीर्ण करो जिसे मेरे गान की कोकिला, मेरे नृत्य के मयूर और मेरे रूप-यौवन के राजहंस अनुरागरंजित नहीं कर सके।'

चुभती भाषा-शैली की छटा जितनी सामाजिक नाटकों में विकीर्ण हुई है, उतनी ऐतिहासिक नाटकों में नहीं। जहाँ भी इस प्रकार की भाषा-शैली का प्रयोग हुआ है, वहाँ कथोपकथन बड़े ही चुस्त, तीखे और चुटीले हैं। 'संरक्षक' में माधोसिंह और दुर्गा के बीच वार्तालाप की भाषा का आनन्द लीजिए—

माधोसिंह—राजकुमारी दुर्गा?

दुर्गा—कौन माधोसिंह?

माधोसिंह—केवल माधोसिंह।

दुर्गा—नहीं तो क्या तुम्हें जंगली जानवर कहकर पुकारूँ?

माधोसिंह—राजकुमारी!

दुर्गा—क्यों दर्पण में अपना भयानक मुँह देखकर क्रोधित हो उठे !'

चाहे ऐतिहासिक नाटक हो, चाहे सांस्कृतिक और चाहे सामाजिक कहीं भी आलंकारिक भाषा-शैली का आश्रय प्रेमीजी ने नहीं लिया। बात को घुमा-फिराकर गूढ़ बनाकर कहना उन्हें रुचिकर नहीं, जो कुछ भी कहा है, स्पष्टतः और सादगी के साथ। असल में प्रेमीजी के पात्र किसी कल्पना-लोक में भटकनेवाले व्यक्ति नहीं हैं; वे प्रेम की दुनिया में भी प्रवेश करते हैं तो भी यथार्थ की भूमि पर पैर रखकर चलते हैं। ऐसी स्थिति में अलंकरण के लिए स्थान ही नहीं है। यदि कहीं आलंकारिक भाषा के प्रयोग का अवसर आया भी तो छोटे-छोटे वाक्यों और सरलतम शब्द-योजना द्वारा ही भावाभिव्यक्ति का आश्रय लिया गया है। 'भग्न प्राचीर' में भोजराज—तुम्हारी मधुर मुसकान में 'तुम्हारी स्नेह भरी चितवन में, तुम्हारे पास अमृत का अनन्त भंडार है। मैं नित्य ही इस अमृत के सरोवर के किनारे बैठा-बैठा लौट जाता हूँ, मेरे भिखारी और प्यासे हृदय को तुम्हारी करुणा का एक कण भी कभी प्राप्त नहीं हुआ।'

यद्यपि प्रेमीजी के नाटकों की भाषा में ओज, प्रसाद, माधुर्य तीनों ही गुण वर्तमान हैं, किन्तु ओज की सत्ता सर्वोपरि है। उसका कारण है नाटकों का युद्धप्रिय वातावरण। युद्ध का वातावरण प्रस्तुत करने के लिए और उसको अनुरंजित करने के लिए लेखक ने प्रायः सभी स्थानों पर ओजस्वी भाषा का प्रयोग किया है। प्रलयकारी स्रोतस्विनी की भाँति भाषा उमड़ती चली जाती है। ऐसी स्थिति में जैसा कि स्वाभाविक था, कथोपकथन भाषण या वक्तृता का रूप धारण कर गये हैं। 'रक्षा-बन्धन' में कर्मवती की ओजमयी वाणी इस प्रकार सुन पड़ती है—'छिः ! ऐसा कहना मेवाड़ के दिवंगत बलि-पंथियों की अन्तिम रक्त-बूँदों का अपमान करना है, कभी किसी ने सुना कि मेवाड़ ने किसी के आगे झुककर सन्धि की प्रार्थना की थी ? तुम्हींने क्यों आज मेवाड़ के गौरव को मिट्टी में मिलाने का निश्चय कर लिया है···'उठो, भूखे सिंह की तरह शत्रुओं पर टूट पड़ो, लड़ो और लड़ते-लड़ते मेवाड़ की मान-रक्षा करो, विजय और वीरगति दोनों श्रेयस्कर हैं। जो हाथ आ जाये उसीको गले लगाने के सिवा तुम्हें क्या करना है ? तुम राजपूत हो। क्षत्रिय हो, अग्निपुत्र हो, प्रलय और भूकम्प की भाँति अजेय हो, अनिवार्य हो। तुम्हारी हुंकार से शत्रुओं की छाती टूक-टूक हो जायगी। उठो अब देर किस लिए ?'

जैसाकि पहले संकेत कर आये हैं व्यंग्यात्मक शैली में प्रेमीजी की लेखनी बहुत कुशल है। जहाँ भी प्रेमीजी व्यंग्यपूर्ण भाषा-शैली का प्रयोग करते हैं, दिल चीर कर रख देते हैं। जहाँ-जहाँ भी सामाजिक रूढ़ियों के प्रति जाति की कुप्रथाओं के प्रति, रोष का अवसर आया है, वहाँ उनकी लेखनी ने व्यंग्य का ही आश्रय लिया है। 'छाया' और 'बन्धन' की भाषा-शैली तो प्रायः व्यंग्यात्मक ही कही जायगी। वैसे

'उद्धार', 'शपथ', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'प्रकाश-स्तम्भ' आदि में भी व्यंग्य के अच्छे तीखे छींटे देखने को मिलते हैं।

'बन्धन' में लेखक ने वर्तमानकालीन शोषण के प्रति रोष प्रकट किया है। पूँजीपतियों की धन-लिप्सा के नग्न चित्र उतारे हैं। धन के लिए वे कितने घृणित हथियारों पर उतर आते हैं, यह सब भी बताया गया है। मानवता का किस प्रकार अपमान इन पूंजीपतियों के हाथ होता है, इस पर करारी चोट की गई है। इस सबके लिए 'बन्धन' में प्रकाश को माध्यम बनाया गया है। उसके मुख से निकला प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक शब्द एक तीखा व्यंग्य-शर है।

मानव की सत्ता पूँजीपतियों के आगे कीट-पंतग की भाँति है; इस मानवता का प्रचार प्रकाश मालती के आगे इस प्रकार करता है—

'आज बड़ा अच्छा जलसा हुआ बहन ! पशुओं का शिकार तो मैं नित्य करता था, पर आज आदमियों का शिकार देखा।......आदमी ? हः हः हः आदमी ! आदमी बनने से क्या लाभ ? और यह बताओ, आदमी पशु नहीं तो क्या है ? हमारे पिता ! वह शरीफ़ों के सिर मौर ! वे कितने बड़े पशु हैं ?'

पूँजीपतियों ने विलास के साधन किस प्रकार के कार्य करके जुटाये हैं, नगरों का जीवन किस स्थिति में व्यस्त माना जाता है आदि पर प्रकाश की करारी चोटें इस प्रकार हैं—

'काम तो बहुत हुआ। कई मज़दूरों के सिर फटे। बहुत-सा कोलाहल हुआ। पुलिस आई, डाक्टर आये। शहर के नेता आये, सरकार के मैजिस्ट्रेट आये। इतना काम तो मिल में पहले कभी नहीं देखा।' और भी—'हिंसा करना ही मनुष्य की विजय है, देखती नहीं हो यह अपने विलास के साधन। सोने-चाँदी के बर्तन, सोफ़े-कौच, मोटर-बग्घी ! ये सब क्या हैं ? ये इन्सान की लाशें हैं। न जाने किस-किसको मारकर उनकी खालें हम जमा किये बैठे हैं।'

आज के कृत्रिम, आडम्बरयुक्त, स्वार्थी और अन्धकार में दौड़ लगानेवाले मनुष्य के वास्तविक चित्र का उद्घाटन करते हुए प्रेमीजी बहुत ही कठोर हो उठते हैं। भाषा में बहुत ही तीखापन आ जाता है। प्रकाश मालती से कहता है—'मालती' अन्धकार तो यह हमारी आँखों में चमकनेवाला अभिमान है। अन्धकार तो हमारे प्राणों में बोलनेवाली स्वार्थ की धड़कन है, अन्धकार तो हमारे खून में प्रवाहित होनेवाला लालच है।......अरी पगली, हमारा घर तो उस जंगल का एक पेड़ है, जिसमें सभी ओर से आग लगी हुई है। हमें चाहे दिखाई न देता हो, लेकिन हमारा अस्तित्व जलकर राख हुआ जा रहा है।......मानव की पशुता ने शराब पी ली है। मनुष्य अपने ही शरीर के अंगों को काट रहा है। पागल कुत्ते की तरह मनुष्य जीभ खोले घूम रहा है। जानवर बनकर आदमी खूबसूरत जान पड़ता है। यही

ठीक है, बहन ! मनुष्य का यही रूप वास्तविक है। मनुष्य जानवर था और उसे जानवर ही रहना चाहिए। वह कपड़े फेंककर नंगा हो रहा है। ठीक रास्ते पर आ रहा है।'

'छाया' में रजनीकान्त और माया की भाषा व्यंग्यपूर्ण है। समाज के ठेकेदारों पर माया का व्यंग्य देखिए—'पुण्य कमानेवाले रावी-स्नान को आते होंगे, वे शहर के प्रतिष्ठित कवि के साथ एक बुरकेवाली को देखकर पाप की छाया देखेंगे।'

आडम्बर के आवरण से लिपटे व्यक्ति पर व्यंग्य कसता हुआ रजनीकन्त कहता है—······आदमी रूपी जानवर जब अपनी वासना को कपड़े पहनाता है तो मुझे हँसी आती है। उपकार, दया, सहानुभूति, प्रेम और ममता ऐसे न जाने कितने नाम इस वासना के आप लोग रखते हैं। किसी की याद आपको सोने नहीं देती, किसी की आँखें आपको दिनभर काम नहीं करने देतीं, लेकिन आप लोगों में इतना साहस भी नहीं कि अपनी इष्ट देवी से भी अपने हृदय की बात कह सकें।'

क्योंकि प्रेमीजी अपने नाटकों में आदर्शवाद को लेकर चले हैं, इसलिए कहीं-कहीं भावावेश में आकर उनकी भाषा-शैली उपदेश का रूप धारण कर लेती है। साम्प्रदायिक एकता, राष्ट्र-प्रेम, वलिदान की भावना और सामाजिक आलोचना के प्रसंगों में उपदेशात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। 'प्रकाश-स्तम्भ' में हारीत की भाषा उपदेश का रूप धारण कर लेती है। दूसरे अंक के प्रथम दृश्य में ज्वाला से बातें करते हुए हारीत के कथोपकथन किसी मंच पर जनसम्प्रदाय के सामने खड़े भाषण करते नेता के उपदेश जान पड़ते हैं। 'छाया' नाटक में तो स्पष्ट ही उपदेश की भाषा अपनाई गई है। प्रकाश की पत्नी छाया का उपदेश सुनिए—'अन्धकार का चश्मा लगाए हुए सभ्य पुरुषो, ज़रा अपनी आँखों का इलाज कराओ। जिन्हें आप पाप का पेड़ कहते हैं, उनमें भी पुण्य के फल लगते हैं।···पापी को हाथ पकड़कर उठाना सीखो, उसके मुँह पर अपयश की कालिमा पोतकर नीचे गिराना नहीं।'

प्रेमीजी ने क्योंकि ऐतिहासिक नाटक ही अधिक लिखे हैं; और ऐसे नाटकों में इतिहास की घटनाओं का, पात्रों के चरित्र और जीवन से सम्बन्धित तथ्यों का उल्लेख भी करना होता है; अतः शैली में वर्णनात्मकता का आ जाना स्वाभाविक होता है। भाषा में किसी गहन विचार की अभिव्यक्ति के लिए विशिष्ट साहित्यिक शब्द-योजना के स्थान पर सीधी सरल शब्दावली का सहारा लेना होता है। अतः प्रेमीजी के नाटकों में वर्णनात्मक भाषा-शैली का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं तो उनके पात्र इतिहासकारों की भाँति घटनाओं का, ऐतिहासिक भूलों का वर्णन करने ही बैठ जाते हैं।

'रक्षा-बंधन' में विक्रम चाँदखाँ से इतिहास का वर्णन इस प्रकार करता है—'इतिहास के कुछ ही वर्ष पहले के पृष्ठ उलटिये। महाराणा संग्रामसिंहजी ने दिल्ली के बादशाह इब्राहीम लोधी को कितनी बार युद्ध में पराजित किया था, पर जब वंश पर संकट आया तो उन्हीं राणा साँगा ने उसी इब्राहीम लोधी को कितनी बार

युद्ध में पराजित किया था। पर जब लोधी वंश पर संकट आया तो उन्हीं राणा साँगा ने उसी इब्राहीम लोधी के पुत्र महमूद लोधी का साथ दिया; उसकी तरफ़ से बाबर से लड़ाई ली। मेवात के बादशाह हसनखाँ भी बयाना और सीकरी की लड़ाई में उनके सहायक थे।' इत्यादि

'प्रकाश-स्तम्भ' में हारीत के कथोपकथन भी वर्णनात्मक ही हैं। ज्वाला से राष्ट्र-भावना के लिए तर्क करता हुआ हारीत कहता है—"...धर्म के नाम पर मगध के जैन धर्मावलम्बी राजा शालिशुक मौर्य ने, अहिंसा के पुजारी शालिशुक ने जैन धर्म के नाम पर अपने साम्राज्य को लहूलुहान कर दिया। गुर्जर प्रदेश में उसने अन्य मतावलम्बियों को बलात जैन धर्म ग्रहण करने को विवश किया, जिससे सम्पूर्ण प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी। इसी का परिणाम था कि जब दिमित ने भारत पर आक्रमण किया तो जनता किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो बहुत समय तक निष्क्रिय एवं निश्चेष्ट रही। कुछ धर्मान्धों ने विदेशी दिमित को 'धर्ममीत' कहकर पुकारा। शताब्दियों से भारत में ये घटनाएँ दोहराई जा रही हैं। मगध के अशोक और उसके पश्चात् के सम्राट् बौद्ध या जैन हुए और अन्तिम सम्राट् विशेषरूप से ब्राह्मण-विरोधी हुए, तब ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने स्वामी का वधकर स्वयं राजसत्ता हथिया ली। चक्र यहीं नहीं रुका। बौद्ध संघाराम षड्यंत्र के केन्द्र बने और ब्राह्मण-राज्य को समाप्त करने के लिए विदेशी मिलिन्द को पुष्यमित्र पर आक्रमण करने के लिए बौद्धों ने उकसाया।"

'विदा', 'कीर्त्ति-स्तंभ' और 'संवत्-प्रवर्तन' में भी यही प्रवृत्ति पाई जाती है। 'विदा' में औरंगज़ेव और दुर्गादास के कथोपकथनों में वर्णनात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। परन्तु इसके लिए लेखक को दोष नहीं दिया जा सकता। ऐतिहासिक तथ्यों का उद्घाटन करना उसके लिए आवश्यक था; क्योंकि लेखक के सामने एक निश्चित उद्देश्य है। यदि बिना घटनाओं का वर्णन किये, बिना राजनैतिक ऐतिहासिक भूलों का चित्र प्रस्तुत किये अपने उद्देश्य तक पहुँचा जाता तो शैली अधिक उपदेशात्मक बन जाती। वर्णनात्मक शैली से एक ओर जहाँ उपदेशात्मकता का दोष बच गया, वहाँ लेखक की रचनाओं को ऐतिहासिक प्रामाणिकता भी मिल गई। एक बात और; नाटकीय विधान की दृष्टि से भी वर्णनात्मकता अपेक्षित है। यदि समस्त कथा-वस्तु को दृश्य-वस्तु के रूप में ही प्रस्तुत किया जाये तो नाटक का कलेवर बढ़ जाता है, रंगमंचीयता पर भी आघात आता है; अतः सूच्य-वस्तु का उपयोग करना होता है। सूच्य-वस्तु के उपयोग से भी वर्णनात्मकता आती है। कथानक की शृंखला बनाये रखने के लिए, घटनाओं का पूर्वापर सम्बन्ध बनाए रखने के लिए वर्णनात्मकता का सहारा लेना ही पड़ता है।

सेना की विशालता, युद्ध की विभीषिका, हताहतों की संख्या, मोर्चेबंदी की आयोजना आदि को प्रस्तुत करने के लिए वर्णनात्मक शैली का आश्रय लेने के अतिरिक्त

और कोई चारा भी नहीं है। 'भग्न प्राचीर' में उस्ताद अलीकुलीखाँ मोर्चा-बंदी का वर्णन इस प्रकार करता है:—'आप एक बार मोर्चेबन्दी देख लीजिए। सब अपनी आज्ञा के अनुसार हो गया या नहीं। सात सौ तोप एक पंक्ति में सामने की तरफ़ रख दी गई हैं। उन्हें चमड़े के रस्से से आपस में बाँध दिया गया है। एक-एक बड़ी ढाल हर तोप के साथ तोपचियों के लिए लगा दी गई है। तोपों के बीच में जो जगह है, उसमें चार-चार बड़ी ढालें रखी गई हैं, जिनके पीछे हमारे तीरन्दाज़ खड़े होंगे।' इससे युद्ध का पूरा वातावरण भी आँखों के आगे नाचने लगता है।

'ममता' नाटक में भी सूच्य-वस्तु का आधार लेकर वर्णनात्मक शैली रखी गई है। यशपाल खून के मामले में किस प्रकार फँसा, इसे वह अपने मुँह से बतलाता है। घटना घटती दिखाने में नाटक के विस्तार का भय था। घटना-चक्र की उलझन भी बढ़ जाती। यही स्थिति लता की है; वह भी, किस प्रकार चाची और विनोद के चँगुल में फंसती गई; सभी घटनाएँ रजनीकान्त को अपने मुख से सुनाती है। अन्त में मुंशीजी से रजनीकान्त भी लता के अपहरण की घटना का वर्णन ही करता है। रंगमंचोपयोगी नाटक के संक्षिप्त कलेवर में वर्णनात्मकता का आश्रय लेखक को लेना ही पड़ता है।

जो भी हो। चाहे लेखक ने भावावेश की शैली का प्रयोग किया है, चाहे समास-शैली का और चाहे व्यास-शैली का, चाहे व्यंग्यात्मक शैली अपनाई है, चाहे वर्णनात्मक; एक बात तो स्पष्ट ही है कि भाषा को अधिकाधिक लोकसामान्य बनाने के प्रयत्न किये हैं। सरलता ही प्रेमीजी की भाषा का गुण है। वे अपने पात्रों की भाँति ही भाषा को भी जनसाधारण से परिचित रखना चाहते हैं। अतः अपरिचित शब्दावली का प्रयोग करते ही नहीं। भाषा को मुहावरों और लोकोक्तियों से सजाकर और भी लोक-सामान्य बना देते हैं। स्वयं ही वे ऐसे सरल और छोटे वाक्य लिखते हैं कि वे वाक्य लोकोक्ति या मुहावरा बन सकते हैं। 'रक्षाबन्धन' में धनदास और मौजीराम के वार्तालाप के बीच लोकोक्ति और मुहावरे का प्रयोग जान डाल देता है :—

'**धनदास**:—बूड़ा वंश कबीर का उपजा पूत कमाल। तू मेरी और वंश की लुटिया ज़रूर डुबायेगा।''''''इस सज्जनता की हवा लगते ही तिजोरियों का सारा धन हवा हो जाता है।' इत्यादि 'भग्न-प्राचीर' और 'कीर्त्ति-स्तंभ' में तो मुहावरों का खुला प्रयोग हुआ है। 'लोहे से लोहा बजना,' 'मेंढकी को जुकाम होना', 'सावन के अन्धे को हरा ही हरा दीखना', 'आ बैल मुझे मार', 'आग बबूला हो जाना', 'दाता दान दे और भंडारी का पेट फटे', 'चमड़ी जाये पर दमड़ी न जाये' आदि प्रयोग पग-पग पर मिल जाते हैं।

सरलता के साथ साहित्यिक स्तर को बनाये रखना प्रेमीजी का भाषा पर अधिकार सिद्ध करता है। जहाँ उर्दू की शब्दावली है, वहाँ उर्दू भाषा का सुन्दर

स्तर क़ायम रखा गया है और जहाँ हिन्दी भाषा है, वहाँ शुद्ध साहित्यिक वाक्य-योजना है। 'रक्षाबन्धन' में शाहशेख औलिया कहते हैं :—

'······मेवाड़ की ग़रीब रियाया का क्या कसूर है? खुदा की इस बेगुनाह खलकत ने क्या बिगाड़ा है? यह भी परवरदिगार अल्ला-ताला की लाड़ली औलाद है। तू इसे तंग करेगा तो ख़ुदा तुझ पर क़हर की बिजली गिरायेगा।' हुमायूँ, बहादुरशाह, आदि इसी भाषा का प्रयोग करते हैं। 'शिवा-साधना' में औरंगज़ेब, अफ़ज़लखाँ, मीर जुमला, शाइस्ताखाँ, ज़ेबुन्निसा आदि की भाषा भी ऐसी ही उर्दू है। ज़ेबुन्निसा की भाषा का एक उदाहरण लीजिए—'······तड़प-तड़पकर और घुल-घुलकर जान देने के सिवा चारा ही क्या है? ज़िन्दगी बेवसी ही का दूसरा नाम बन गई है। दिल धीरे-धीरे बुझ रहा है। तमन्नाएँ फ़ना होने जा रही हैं। एक छोटी-सी ख्वाहिश रह गई है कि उनकी कुर्बानियाँ उन्हें जंगे आज़ादी में कामयाब बनावें और मेरी हसरतों का खून एक दिन इस मुल्क में इत्तफ़ाक का ऐसा जज़्बा पैदा करे कि जिससे सैकड़ों बरसों से एक-दूसरी को अपना दुश्मन समझनेवाली क़ौमें तहेदिल से गले मिलकर एक हो जायँ।'

हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की योजना दिखाई देती है। 'उद्धार' में सुधीरा साहित्यिक हिन्दी का प्रयोग करती है:—'प्रकृति तो मन का दर्पण है। मानव अपनी मनोभावनाओं को प्रकृति में चित्रित पाता है। आज प्रभात की स्वर्ण-रश्मियों ने मुझे नव-जागरण के लोक में पहुँचा दिया है। जिस सत्य को मैं रहस्य की सघन घटनाओं में छिपाये रही हूँ, वह आज प्रकट होने को आतुर हो उठा है।'

'शपथ' की मालती की भाषा भी उच्च स्तर की हिन्दी है। वह कहती है—"कलाकार की आँखों से ओझल रहने पर भी दूरागत वीणा की तान से तरंगित होने वाले कला-प्रेमी संसार में हैं कहाँ? देवताओं के राजा इन्द्र भी कला की वासना को उत्तेजित करनेवाली मदिरा बनाने में नहीं लजाए, तो मानवों को नारद मुनि बनाने की कल्पना हमें क्यों करनी चाहिए? विधाता ने तुम्हें कला भी प्रदान की है और कंचन-काया भी; तब क्यों दोनों गुणों के जादू से मानव-मन को नचाने में संकोच करती हो? भूपालों के राजमुकुट भी तुम्हारी चरण-धूलि की कामना करते हैं, विश्व का वैभव तुम्हारे चरणों पर निछावर होने को तरस रहा है।'

'शपथ' में सर्वत्र इसी प्रकार की भाषा देखने को मिलेगी। किन्तु यहाँ तक के भाषा के नमूने देखने से एक बात पकड़ में आती है और वह यह कि प्रेमीजी हिन्दी और उर्दू को एक करने का प्रयत्न करते हुए भी एक नहीं कर पाये। स्वयं उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा हिन्दी और उर्दू दो अलग-अलग रूपों में रही। राष्ट्रीय एकता के प्रचारक प्रेमीजी का मन बराबर इस दुविधा का अनुभव करता रहा। फलतः पिछले

दो-चार वर्षों में जो नाटक उन्होंने लिखे उनमें भाषा की दुविधा मिटा दी और सर्वत्र, सब पात्रों के द्वारा, एक रस भाषा का ही प्रयोग किया कराया। 'विदा' नाटक की भाषा को प्रेमीजी के मन की स्टैंडर्ड भाषा कहा जा सकता है।

'विदा' का औरंगज़ेब पहले नाटकों के औरंगज़ेब से सर्वथा भिन्न भाषा बोलता है—'तुम पशु-पक्षी और बेजान चीजों से मनुष्य के स्वभाव की तुलना करती हो। पशु-पक्षी बुद्धिहीन हैं। उनका स्वभाव सदा एकसा रहता है। वे सारे काम नियम के अनुसार एक ही ढर्रे पर करते रहते हैं। पाप और पुण्य, स्वर्ग और नरक आदि से उनका कोई परिचय नहीं। वह यह नहीं जानते कि ख़ुदा कौन है और उसके पाक पैगम्बर ने क्या आज्ञाएँ दी हैं, लेकिन इन्सान तो इन्सान है और वह मस्तिष्क रखता है। वह ख़ुदाई हिदायतों को समझता है, उसके अपने धर्म और समाज के प्रति कुछ उत्तरदायित्व हैं, उसका प्रत्येक कार्य अनुशासन से बँधा होना चाहिए।' इस नाटक की ज़ेबुन्निसा भी अन्य नाटकों की ज़ेबुन्निसा से भिन्न किन्तु उक्त उदाहरण से मिलती भाषा बोलती है। अकबर, कासिमखाँ, दिलेरखाँ, उदयपुरी बेगम आदि भी इसी भाषा से परिचित हैं? यह तो रही मुस्लिम पात्रों की बात, हिन्दू पात्र दुर्गादास, समरदास, रघुनाथ भट्टी आदि भी इसी भाषा को अपनाते हैं।

दुर्गादास की भाषा का नमूना देखिए—'डूबते-डूबते भी सूर्य अपना विकराल रूप प्रदर्शित करता है। औरंगज़ेब का भी वही हाल है, शाहज़ादा हुज़ूर! अस्तंगत सूर्य ने आकाश में छाई हुई बादलों की टुकड़ियों को रक्त के रंग में रंग दिया है। इन रक्तवर्णी मेघ-मालाओं की छाया पड़ने से ताप्ती की धारा भी लाल हो उठी है। औरंगज़ेब के दुराग्रह ने हिन्दुस्तान की धरती को भी रक्त से भर रखा है। आज भले ही वह समझते हों कि उन्हें प्रत्येक दिशा में विजय प्राप्त हुई है, किन्तु प्रत्येक दूरदर्शी व्यक्ति समझ सकता है कि उनकी यह विजय अस्थायी है, दीपक की अन्तिम चमक है। जिस दिन से उन्होंने जज़िया का दंड हिन्दुओं पर लगाया है, उसी दिन से देश के प्रत्येक कोने में विद्रोह की भावनाएँ प्रज्वलित हो उठी हैं।'

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमीजी भाषा के सम्बन्ध में भी अपने विचारों की भाँति ही सीधी रेखा में चलना पसन्द करते हैं। उनका यह सिद्धान्त ही उनकी भाषा को अधिक नाटकोचित और सर्वजन सुलभ तथा लोकप्रिय बना सका है। वास्तव में प्रेमीजी के नाटकों की भाषा अधिक नाटकोचित, भावमयी, स्पष्ट, चुस्त, प्रभावशाली और स्वच्छ है। ऐसी निर्दोष और भली भाषा कम लेखक लिख पाते हैं। ऐतिहासिक नाटक-लेखक अपनी भाषा में स्थानीय पुट देकर उसे सर्वजन सुलभ नहीं रहने देते। प्रेमीजी स्थानीय बोलियों, विभाषाओं आदि के शब्दों के मिश्रण से भाषा का रूप नहीं बिगाड़ते। देश-काल के नाम पर जो ऐसा करते हैं, वे समस्त

राष्ट्र की रूपरेखा सामने रखकर नहीं चलते। भाषा की एकरूपता का निर्वाह भी वे नहीं कर पाते। प्रेमीजी ने अपनी भाषा को राष्ट्रभाषा का रूप दिया है, राष्ट्र के लिए जैसे उनके नाटकों की उपयोगिता है, वैसे ही उनकी भाषा भी उपयोगी सिद्ध होगी।

भाषा की व्यापकता पर उनका आग्रह बराबर बना रहता है। व्यापकता के कारण ही वे लोक-प्रिय भाषा के सफल लेखक हैं। 'साँपों की सृष्टि' की भूमिका में वे लिखते हैं:—

'मैं समझता हूँ—राष्ट्र-भाषा के पद पर आरूढ़ हिन्दी न केवल उर्दू के शब्दों को ग्रहण करेगी, बल्कि प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों को भी। इस प्रकार हिन्दी का भंडार भी बढ़ेगा, उसमें प्रवाह भी आयेगा और वह लोक-प्रिय भी होगी।'

ग्यारह

प्रेमीजी के नाटक में शास्त्रीय पक्ष

काव्य ग्रानन्दमय है। ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ही काव्य के रस का हम पान करते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के समस्त व्यापार-द्वारा ही ग्रानन्द की प्राप्ति होती है; किन्तु व्यापार-क्षेत्र में ग्रपनी-ग्रपनी प्रधानता के कारण काव्य का नाम दृश्यकाव्य, श्रव्य-काव्य ग्रादि रखा जाता है। न दृश्यकाव्य केवल ग्राँखों का विषय है ग्रौर न श्रव्य-काव्य केवल कानों का। श्रव्यकाव्य को पढ़ने या सुनने के समय प्रत्यक्ष रूप से दिखाई नहीं पड़ता कि ग्रन्य ज्ञानेन्द्रियाँ किस भाँति वहाँ ग्रपना कार्य करती हैं, किन्तु हम ग्रनुभव करते हैं कि जब किसी काव्य को कानों से सुन लेते हैं तब उसके साथ ही या उसके बाद कल्पना-जगत् में काव्यगत भाव-चित्र का एक बिंब उपस्थित हो जाता है जिसे सूक्ष्म ग्राँखों से ही देखा जाता है, ग्रन्य सूक्ष्म इन्द्रियों का व्यापार ग्रौर भी सूक्ष्म रूप से उसके साथ होने लगता है, जिसके फलस्वरूप वास्तविक ग्रानन्द की प्राप्ति होती है। किन्तु दृश्यकाव्य स्थूल इन्द्रियों के द्वारा भी रस-स्निग्ध करता है।

इस प्रकार दृश्यकाव्य ग्रौर श्रव्यकाव्य विशेष इन्द्रियों के भिन्न व्यापार-प्रधान विषय हैं। श्रव्यकाव्य में जीवन के सम्पूर्ण विधानात्मक व्यापारों को केवल शब्द-द्वारा ग्रौर दृश्यकाव्य में शब्द के साथ-साथ व्यापार, क्रिया-द्वारा जीवन को ग्रभिव्यक्त किया जाता है। दृश्यकाव्य में श्रव्यकाव्य की विशेषता बराबर बनी रहती है, किन्तु श्रव्यकाव्य में दृश्यकाव्य की नहीं। इससे स्पष्ट है कि दृश्यकाव्य में श्रव्यकाव्य के भी गुण-धर्म वर्तमान हैं ग्रौर ग्रपने भी। दोनों प्रकार के काव्य-गुणों का ध्यान रखते हुए ही दृश्यकाव्य के तत्त्वों का विवेचन होना चाहिए।

काव्यत्व ग्रौर रंगमंच के निरूपण ग्रौर निर्वाह के लिए नाटकीय तत्त्व के विभिन्न ग्रंग निर्धारित किये गये हैं। भारतीय ग्राचार्यों ने नाटक के तीन तत्त्व माने हैं—वस्तु, नायक ग्रौर रस। केवल इन तीन को लेकर नाटकीय तत्त्वों की समग्रता प्रतिपादित नहीं होती। नाटक का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं है। नाटकीय व्यापार से यदि जीवनोपयोगी कोई महत्त्वपूर्ण शिक्षा नहीं मिलती तो उसका सम्पूर्ण प्रयत्न व्यर्थ समझना चाहिए। किसी वास्तविक या काल्पनिक कथानक के ग्राधार पर ग्रभिनेता पात्रों के ग्राचरण ग्रौर वार्तालाप द्वारा निश्चित समय ग्रौर स्थान के ग्रनुसार निर्धारित ढंग से जो किसी निर्दिष्ट कार्य की परिणति दिखलाई जाती है, वही नाटक का मुख्य व्यापार है। इसके लिए वस्तु, नायक ग्रौर रस का संयोग तब तक ग्रसंभव है जब तक विषय-प्रतिपादन की निर्धारित प्रणाली न हो, न यह तब तक भी संभव है, जब

तक घटनाओं और कथावस्तु के विस्तार में देशकाल का संयोजन न हो। इन बातों का ध्यान रखकर पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक के छः तत्त्व माने हैं—कथा-वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, उद्देश्य और शैली। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के मतों का समन्वय करें तो नाटक के तत्त्व इस प्रकार स्वीकार किये जाने चाहिएँ—१. कथा-वस्तु, २. पात्र और चरित्रचित्रण, ३. कथोपकथन, ४. देशकाल, ५. उद्देश्य, ६. रस, ७. शैली। प्रेमीजी के नाटकों के शास्त्रीय पक्ष की पड़ताल इन्हीं तत्त्वों की दृष्टि से की जानी चाहिए।

१. **कथावस्तुः—**जिस कथानक के आधार पर कलात्मक ढंग से घटनाओं की योजना की जाती है, जिनको अभिनेता प्रत्यक्ष में दिखाते हुए किसी विशेष अभिप्राय की ओर निर्देश करते हैं, वही नाटक की वस्तु है। रसोत्पत्ति के लिए घटना का आधार सत्य होना चाहिए। ऐतिहासिक सत्य न भी हो तो भी काव्यगत सत्य अनिवार्य है। यदि सम्पूर्ण कलात्मकता के क्षेत्र में भी दर्शक का ऐसा भाव बना रहा कि घटनाओं का प्रदर्शन काल्पनिक आधार पर होने के कारण उनकी निश्चयात्मकता में संदेह है, तो रसोत्पत्ति में बाधा उपस्थित होगी। वस्तु-निर्वाचन और उसके निरूपण में इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि लोक-रक्षा और लोक-मंगल का मार्ग प्रशस्त हो। प्रेमी जी ने कथानक के चुनाव में बराबर इन बातों का ध्यान रखा है। उनके अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं। अतः सत्य पर आधारित हैं और लेखक की कला द्वारा सत्य का उद्घाटन भी करते हैं। घटनाक्रम में भी निश्चयात्मकत्व है; असंभावित या अस्वाभाविकता के लिए वहाँ स्थान ही नहीं है। लोक-रक्षा और लोकमंगल की भावना से प्रेरित होकर ही प्रेमीजी ने ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं। सामाजिक नाटकों में भी वर्तमान जीवन का चित्रण कर उक्त भावना की रक्षा की गई है। आपके नाटकों की कथा-वस्तु में अतीत के प्रति अनुराग, देश-प्रेम की भावना, हिन्दू-मुस्लिम एकता या साम्प्रदायिक एकता की आवश्यकता आदि पर बल दिया गया है।

प्रेमीजी एक जागरूक साहित्यकार हैं। जागरूक साहित्यकार सत्य की अभिव्यक्ति के लिए इतिहास का आश्रय लेता है, क्योंकि ऐतिहासिक कथानक इस लोक के पात्रों-द्वारा, सत्य की अभिव्यक्ति दिखाकर उसके सजीव, स्वाभाविक, विश्वसनीय एवं व्यावहारिक रूप को सिद्ध करता है। इतिहास के सम्मिश्रण से साहित्य की कल्पना और अनुभूति इसी लोक की बन जाती है। ऐतिहासिक कथानक एवम् पात्र साहित्य-सिद्ध आदर्शों को सजीवता प्रदान करते हैं, साहित्यिक कल्पनाओं में यथार्थ की चेतना भर देते हैं। प्रेमीजी के कथानकों में ऐतिहासिक तथ्य भी है और काव्यगत सत्य भी; आरंम्भिक अध्यायों में विस्तार से हम इस विषय पर प्रकाश डाल चुके हैं।

प्रेमीजी के दर्जनों ऐतिहासिक नाटक सत्य का उद्घाटन करते हुए अपनी नैतिकता और आदर्शवादिता के द्वारा लोकरक्षा और लोकमंगल की भावना को पूरा

करते हैं। विषपान की भूमिका में आपने लिखा हैः—'यथार्थवाद के नाम पर समाज के गन्दे अंगों का चित्र खींच देना मेरे साहित्य का उद्देश्य नहीं है...मैं यह चाहता हूँ कि मेरे देशवासी स्वस्थ विचारवाले, स्वाभिमानी, स्वाधीन-चेत्ता, वीर, पराक्रमी, संयमी, सदय और ईमानदार हों।'

प्रेमीजी ने अपनी कथावस्तु को केवल मनोरंजन का साधन नहीं बनाया है, समाज-संस्कार को वे साहित्य का उद्देश्य मानते हैंः—'यदि साहित्य श्रेष्ठ विचार नहीं देता, केवल मनोरंजन की भूख मिटाता है, तो उसकी सेवाओं का अधिक मूल्य नहीं है। साहित्यिक की लेखनी की रेखाओं से युग का निर्माण होता है। साहित्य द्वारा समाज के संस्कार बनते हैं।'

वस्तुतः 'प्रेमीजी के नाटकों में आदर्शवाद को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। युग के नैतिकतामय जीवन का चित्रण उन्होंने अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया है। उनके प्रत्येक नाटक में आदर्शवाद के स्वर प्रमुख रहे हैं और प्रायः उनके किसी-न-किसी पात्र ने घटनाओं को आदर्श-प्रेरित रखने में मुख्य योग प्रदान किया है। इस आदर्शवादिता की योजना के लिए उन्होंने मनोविज्ञान और आचार-शास्त्र का व्यापक आधार लिया है। उनके नाटकों के कथानकों में साधारणीकरण के गुण की भी उपयुक्त व्याप्ति हुई है। अतः उनका अध्ययन करने पर अध्येता का चित्र स्वभावतः आदर्श ग्रहण की प्रेरणा का अनुभव करने लगता है। अपनी आदर्शवादी मनोवृत्ति के कारण ही उन्होंने आधुनिक युग में समाज-साम्य की स्थापना करने से सम्बन्धित विविध विचार-प्रणालियों को ग्रहण करने पर भी अतीतकाल के भारतवर्ष की उपलब्धियों की उपेक्षा न करने का संदेश दिया है। वह आधुनिक युग में भौतिकता के प्राधान्य के कारण उभरनेवाली समस्याओं के निदान के लिए प्राचीन आदर्शों से सहयोग लेने का परामर्श देते हैं।'[1]

साम्प्रदायिक एकता राष्ट्रभावना, संगठन, त्याग और बलिदान, मानवता का संरक्षण आदि भावनाएँ लेखक की लोकमंगल की ही भावनाएँ हैं; जिनका प्रतिपादन प्रेमीजी के नाटकों की कथावस्तु द्वारा किया गया है। 'रक्षा-बन्धन', 'शिवा-साधना', 'विषपान', 'स्वप्नभंग', 'प्रतिशोध', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'आहुति', 'कीर्ति-स्तंभ' आदि नाटकों में एकता, संगठन आदि का ही जयघोष सुनाई पड़ता है। 'उद्धार' की भूमिका में आपने बताया है कि नाटक की कथावस्तु राष्ट्रीयता की भावनाओं को बल देती हैः—उद्धार की घटनाएँ ऐतिहासिक हैं, किन्तु वर्तमान राजनीति और समाजनीति की अनेक उलझनों का समाधान इसमें है। मेरा देश स्वतंत्र हो गया, किन्तु देशवासियों ने अपनी राष्ट्रीयता के महत्त्व को समझा नहीं, इसलिए राष्ट्रीयता की भावनाओं को उत्साहित करनेवाले साहित्य की आज आवश्यकता है।'

---

१. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ; पृष्ठ ७५५

'स्वप्न-भंग' के द्वारा लेखक मनुष्य का संस्कार कर उसकी नैतिकता को ऊँचा उठाना चाहता है। भूमिका में अपनी भावना इस प्रकार व्यक्त की है:—'···धर्म जाति, सम्प्रदाय, देश और सामाजिक एवं राजनैतिक विचारधाराएँ और इसी प्रकार की अनेक बातें मानव को मानव का शत्रु बनाए हुए हैं। सबकी जड़ में व्यक्ति का स्वार्थ है। जब व्यक्तियों के संस्कार सुधरेंगे, वह स्वार्थ से छुटकारा पाकर दूसरे के हित के लिए त्याग करने में आनन्द पाएँगे, तब संसार स्वर्ग बन जायेगा।' 'संरक्षक', 'संवत्-प्रवर्तन' आदि की रचना भी इसी उद्देश्य से हुई है।

कथावस्तु को रोचक, प्रभावशाली और स्वाभाविक बनाने के लिए पाश्चात्य विद्वान् विरोध और संघर्ष को कथावस्तु का प्राण मानते हैं। किन्तु भारतीय दृष्टि उद्योग और सफलता के महत्त्व को प्रतिपादित करती है। प्रेमीजी की कथावस्तु दोनों का ऋण स्वीकार करके चली है। प्रेमीजी इस बात को मानते हैं कि दो विरोधी शक्तियों के पारस्परिक विग्रह ही में नाटकीय कथावस्तु की उत्पत्ति होती है। आपके नाटक दो विरोधी भाव, पक्ष, सिद्धान्त या दल लेकर चले हैं और इन्हीं दोनों के विरोध के साथ कथावस्तु का विकास हुआ है।

'पाताल-विजय' आपका पौराणिक नाटक है। इसमें पुण्य और पाप का संघर्ष दिखाया गया है। पाताल के दुरात्मा राजा, पातालकेतु और महात्माप्रकृति के अयोध्या के राजकुमार के रूप में सच्चे वीर और दुष्ट बलवान का विरोध है। ऐतिहासिक नाटक 'रक्षा-बन्धन' में मेवाड़ का महाराणा विक्रमादित्य आप ही अपने तामस भावों का दमन करता है। 'स्वप्न-भंग' का वीर दारा मानवता की चरमसीमा का पालन करता हुआ भी दुर्भाग्य अथवा विकट परिस्थितियों का सामना करता है। इस नाटक के प्रथम दृश्य में नाटककार ने बड़े कौशल से औरंगज़ेब की क्रूरता, असंयम और विद्रोह का चित्रण, रोशनआरा की षड्यन्त्रप्रियता और दुष्टता का चित्रण इस प्रकार किया है:—'उसमें आकर्षण है, जलन है, तेज़ है, वेग है और है ओज। वह निर्माण की कल्याणमयी मूर्ति नहीं, विध्वंस की तड़ित् रेखा है।' औरंगज़ेब की क्रूरता और विद्रोह, रोशनआरा के षड्यंत्र और दारा, शाहजहाँ और जहाँनारा की शांतिप्रियता और सरलता के बीच जो सघर्ष चल रहा है, वही 'स्वप्नभंग' की कथावस्तु में व्यक्त हुआ है।

'शिवा-साधना' में भी द्वन्द्व और संघर्ष का अद्भुत चित्रण है। शिवाजी के भीतर स्वातंत्र्य-साधन का द्वन्द्व चल रहा है। शिवाजी के पिता का वीजापुर सुल्तान आदिलशाह द्वारा बन्दी होना, शिवाजी की यवनों से लोहा लेने की दुर्बलता और उनकी माता जीजाबाई का संकल्प आदि बातें इस द्वन्द्व को और भी बढ़ा देती हैं। नाटक की कथा-वस्तु विकसित ही इस प्रकार होती है कि यह संघर्ष और द्वन्द्व बढ़ता चला जाता है। संघर्ष की क्रिया प्रतिक्रियाएँ विविध-घटनाओं और प्रसंगों के रूप में दिखाई पड़ती हैं।

'विषपान' में भी ईर्ष्या, द्वेष और षड्यन्त्रों का द्वन्द्व चित्रित है। 'कीर्ति-स्तम्भ' में मेवाड़ की अन्तःकलह का चित्रण है, 'उद्धार' में लम्पटता और स्वार्थ का संघर्ष, राजनीति और समाजनीति से उत्पन्न मानव हृदय का द्वन्द्व दिखाया गया है। प्रेमीजी के सभी नाटक इसी प्रकार के द्वन्द्वों को लेकर चले हैं।

जहाँ एक ओर उनकी कथावस्तु इस प्रकार पाश्चात्य विचारधारा का ऋण लेती है, वहाँ भारतीय उद्योग और सफलता के सिद्धान्त से भी अनुप्राणित है। 'शिवा-साधना' में शिवाजी उद्योग और सफलता के प्रतीक हैं। वे अपनी सफलता के लिए भवानी से आशीर्वाद माँगते हैं:—'माँ भवानी, इस उज्ज्वल आकाश की आग को अपने आशीर्वाद से तीव्र करदो। बल दो, साहस दो और वह अदम्य पागलपन दो, जिससे स्वातन्त्र्य-साधना में केवल सांसारिक सुखों की ही नहीं, बल्कि प्राणों की आहुति भी दे सकूँ।' रामदास उसके प्रेरक हैं, माता का आशीष उसके साथ है, इसलिए सफलता मिलने पर माता उससे कहती है:—'तुमने जो किया है, वह किसी दूसरे के लिए संभव न था।'

'शपथ' का विष्णुवर्धन भी उद्योग और सफलता का उदाहरण है। इन्हीं गुणों के कारण वह जन-नायक बन पाया। विष्णुवर्धन का गान इन शब्दों में हुआ है—'जनेन्द्र विष्णुवर्धन यशोधर्मन ने उन प्रदेशों को जीता, जिन पर गुप्त-सम्राटों का आधिपत्य नहीं था और न ही जहाँ राजाओं के मुकुट को परास्त करनेवाली हूणों की आज्ञा ही प्रवेश कर पाई थी। लौहित्य से लेकर महेन्द्र पर्वत तक और गंगा से—स्पष्ट हिमालय से—लेकर पश्चिम पयोधि तक के प्रदेशों के सामंत उसके चरणों पर लोटे। मिहिरकुल ने भी, जिसने भगवान् शिव के अतिरिक्त और किसी के सामने सिर नहीं नवाया, अपने मुकुट-पुष्पों के द्वारा उसके युगल चरणों की अर्चना की।'

'उद्धार' के जन-नायक हमीर की भी यही गाथा है। 'प्रतिशोध' में भी छत्रसाल के माध्यम से उद्योग और सफलता का प्रतिपादन किया गया है। छत्रसाल के पिता चंपतराय का जीवन जितना संघर्षमय, जितना कष्टमय और जितना तेजस्वी रहा है, उतना वीरतम जातियों के इतिहास में थोड़े ही व्यक्तियों में मिलेगा। उनके मरने के बाद अनाथ, दरिद्र, दाने-दाने को मोहताज, अल्पवयस्क छत्रसाल किस प्रकार केवल अपने वंश के पूर्व गौरव को प्राप्त करने में ही नहीं, बल्कि बुंदेलखंड से मुग़ल-साम्राज्य की सत्ता को निर्वासित करने में सफल हुए, यह लगन, कष्ट-सहन और साहस का उच्चतम उदाहरण है। यही छत्रसाल 'प्रतिशोध' की कथावस्तु का केन्द्र है। 'संवत् प्रवर्तन' में विक्रमादित्य की भी यही कहानी है। उसने अपने उद्योग से ही देश से शकों को खदेड़ा। इस प्रकार प्रेमीजी ने अपने नाटकों की कथावस्तु को रोचक, स्वाभाविक और प्रभावशाली तो बनाया ही है, उसे सोद्देश्य भी रखा है।

ऐतिहासिक नाटक ही नहीं, सामाजिक नाटकों में भी प्रेमीजी ने कथावस्तु का यही रूप रखा है। 'छाया' में एक ओर जहाँ प्रेम का द्वन्द्व है, वहाँ दूसरी ओर शोषक और शोषित का संघर्ष भी है। नाटक की नायिका छाया उद्योग और सफलता का ही आदर्श प्रस्तुत करती है। 'बन्धन' में भी मालिक-मजदूर, स्वार्थ और त्याग का संघर्ष है। मोहन, सरला और मालती उद्योग और सफलता के प्रतीक हैं। 'ममता' व्यक्तिगत द्वन्द्व की कहानी है। यहाँ यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि 'ममता' का दृष्टिकोण यथार्थवादी है; अतः उद्योग और सफलता के प्रति इसमें वह आग्रह नहीं है जो पूर्व के नाटकों में।

नाटक क्योंकि जीवन का प्रतिबिम्ब है; अतः जीवन की भाँति नाटक में भी नायक आदि पात्रों की स्थिति व्यक्तिगत और निर्वैयक्तिक होती है। जहाँ पात्र वैयक्तिक जीवन लेकर चला है, वहाँ उसे अन्य के सहयोग की आवश्यकता नहीं है। किन्तु निर्वैयक्तिक जीवन की साधना में अन्य लोगों का सहयोग सर्वथा उपेक्षित रहता आया है। इसी बात को ध्यान में रखकर नाटकीय कथावस्तु के दो रूप कर दिये गये हैं—आधिकारिक और प्रासंगिक। सम्पूर्ण जीवन को लेकर चलनेवाली कथा-वस्तु आधिकारिक है और प्रसंगवश बीच-बीच में आकर आधिकारिक वस्तु की पूर्णता का प्रतिपादन करनेवाली वस्तु प्रासंगिक है। सब नाटकों में दोनों ही प्रकार की कथावस्तु रहे, यह कोई जरूरी नहीं है। प्रेमीजी ने कहीं इसे अनिवार्यता दी है, कहीं नहीं। ऐतिहासक नाटकों में तो प्रायः प्रासंगिक कथावस्तु ले ली गई है। मूल कथा के साथ अनेक उपकथाएँ तक चलती हैं। फिर भी प्रसादजी के नाटकों की भाँति कथाओं का कोलाहल प्रेमीजी के नाटकों में नहीं मिलेगा।

'रक्षाबन्धन' में अनेक कथाएँ हैं। एक ओर राजपूत अपनी शरण में आये हुए की रक्षा के लिए बहादुरशाह से लड़ाई ठानते हैं, दूसरी ओर हुमायूँ और शेरखाँ का युद्ध, हुमायूँ के भाइयों का षड्यंत्र, तीसरी ओर श्यामा और उसके पुत्र विजयसिंह की कथा और भीलपरिवार से संलग्न घटनाएँ। किन्तु लेखक ने बड़े कौशल से इन सबको एक सूत्र में पिरोया है।

'शिवासधना' में भी उपकथाएँ चलती हैं। एक ओर शिवाजी का बीजापुर नरेश से संघर्ष है और दूसरी ओर बीजापुर के सुलतान आदिलशाह के दुश्मन औरंग-ज़ेब का बीजापुर को विध्वस्त करने का प्रयत्न, शिवाजी का षड्यंत्र और इससे सम्बन्धित अनेक उपकथाएँ हैं। सिंहगढ़ को जीतने और शिवाजी के राजतिलक की कथा का नाटक से आंशिक सम्बन्ध ही है। 'रक्षा-बन्धन' की अपेक्षा इसकी कथा-वस्तु अधिक दुर्बल है।

इन नाटकों के बाद जो ऐतिहासिक नाटक लिखे गए, उनमें उपकथाओं को कम करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। 'कीर्ति-स्तम्भ' में कुछ अधिक उपकथाएँ हैं; किन्तु

अनावश्यक कोई नहीं है। प्रायः सभी नाटकों में वे ही प्रासंगिक कथाएँ ली गई हैं जिनका मुख्य कथा के विकास में योग रहा है। 'स्वप्नभंग', 'विदा', 'संरक्षक' और 'संवत्-प्रवर्तन' में प्रासंगिक वस्तु के प्रति आग्रह सर्वथा कम हो गया है। सामाजिक नाटकों में तो यह सावधानी वरती गई है कि केवल वही प्रसंग रखे गये हैं, जो कथावस्तु के उद्देश्य में सहायक हैं, अन्य नहीं। 'छाया' में माया और ज्योत्स्ना की उपकथाएँ हैं, किन्तु वे सामाजिक चित्र प्रस्तुत करने और छाया के जीवन में सहयोग देने के लिए ही हैं, जो कि प्रकाश के जीवन से जुड़ी हैं। 'वन्धन' में तो प्रासंगिक कथावस्तु सर्वथा विलुप्त है। 'ममता' में यशपाल की कहानी उपकथा के रूप में है; किन्तु आगे चलकर वह भी मुख्य कथा के विकास में मिल जाती है।

आधिकारिक कथावस्तु हो, चाहे प्रासंगिक; नाटकीय व्यापार की उद्दीप्ति अपेक्षित है। वस्तु-विन्यास में 'अर्थप्रकृति', 'अवस्था', 'संधि' आदि का जो विधान है वह नाटकीय व्यापार को उद्दीप्त करने में वड़ा सहायक होता है। नाटकों में इनकी योजना मान्य तो होनी चाहिये, किन्तु इनकी उलझन को लेकर चलने से नाटक मनोरंजन के स्थान पर मस्तिष्क के व्यायाम का कारण वन जाता है और इसके साथ ही पाठकों या दर्शकों के लिए शिरोवेदना का कारण भी। प्रसादजी के नाटकों में प्राचीन नियमों का यथातथ्य पालन हुआ है, इसीलिए वे सामान्यजन से दूर की वस्तु हैं। नाटक तो सामाजिक वस्तु है। उसे सामान्यजन का ध्यान रखकर ही लिखना होगा। प्रेमीजी ने इस झमेले से दूर ही रहना अच्छा समझा है। उसका कारण शायद दृष्टिकोण का अन्तर भी है। प्राचीन भारतीय नाटक धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिए लिखे जाते थे, जबकि प्रेमीजी ने अपने नाटकों की रचना वर्तमान लक्ष्य की पूर्ति के लिए की है।

भारतीय आचार्यों के अनुसार नायक के मन में किसी प्रकार का 'फल' प्राप्त करने की उत्कंठा होती है और इसी उत्कंठा से नाटक का आरंभ होता है। फल की प्राप्ति के लिए प्रयत्न होता है, और उसकी प्राप्ति की आशा होती है। यही 'प्राप्त्याशा' है। फल की प्राप्ति का निश्चय होना 'नियताप्ति' है और फल की प्राप्ति 'फलागम' है। इन पांच अवस्थाओं की सिद्धि पाँच चमत्कारपूर्ण अर्थप्रकृतियों से होती है:— बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। अवस्थाओं और अर्थप्रकृतियों में मेल कराने का कार्य पाँच सन्धियों-द्वारा होता है—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, निर्वहण। परन्तु प्रेमीजी ने इनका अनुगमन न करके आधुनिक पाश्चात्य कार्यावस्थाओं की ओर ही झुकाव रखा है, वह भी ऐतिहासिक नाटकों में। सभी नाटकों में उनका भी आग्रह नहीं है।

पाश्चात्य आचार्यों के मतानुसार कथावस्तु की पाँच अवस्थाएँ हैं:—प्रारंभ, विकास, चरम सीमा, उतार और अन्त। सन्धि और अर्थप्रकृति के लिए वहाँ स्थान नहीं है। प्रेमीजी के कुछ नाटकों में इन अवस्थाओं का निर्वाह हुआ है। प्रारम्भ में कुछ संघर्षमयी घटना का आरम्भ होता है, यह संघर्ष या विरोध दो विभिन्न आदर्शों,

उद्देश्यों, दलों, सिद्धान्तों आदि किसी का भी हो सकता है। विकास में पारस्परिक विरोधी घटनाओं के घटित होने से वृद्धि होती है। पात्रों अथवा आदर्शों का संघर्ष एक निश्चित सीमा तक बढ़ जाता है। चरमसीमा में किसी एक पक्ष की विजय के लक्षण दिखाई देनें लगते हैं। उतार में यह विजय निश्चित हो जाती है और अन्त में सम्पूर्ण संघर्ष का अन्त हो जाता है।

'रक्षा-बन्धन' में कार्य की अवस्थाओं का यही क्रम रखा गया है। चाँदखाँ को आश्रय देने से बहादुरशाह और महाराणा के बीच संघर्ष का आरम्भ होता है। यवनों और राजपूतों का युद्ध, कर्मवती का हुमायूँ को राखी भेजना और रक्षा की आशा करना संघर्ष को विकसित रूप देना है। युद्ध में विजय की आशा न होने पर कर्मवती की राखी को हुमायूँ द्वारा स्वीकार करना और राजपूतों की रक्षा करने की शपथ चरमसीमा है। कर्मवती का जौहर न करके हुमायूँ की प्रतीक्षा करने से उतार आरम्भ हो जाता है। अन्त की अवस्था राजपूतों की हार और स्त्रियों के जौहर में है। हुमायूँ समय पर नहीं पहुँच पाता और पश्चात्ताप करता है।

'शिवा-साधना' में शिवाजी का अपने साथियों की उपस्थिति में स्वातन्त्र्य साधना का प्रण करना आरम्भ की अवस्था है। साहसिक आक्रमण और संगठन में विकास की अवस्था है। शाहजी, शिवाजी आदि का बन्दी हो जाना चरमसीमा है। शिवाजी का क़ैद से भाग निकलना उतार की अवस्था है। सिंहगढ़ आदि की विजय पर रामदास से एक बार पुनः प्रोत्साहन पाकर कर्म-पथ में जुट जाना अन्त है।

'आहुति' में अलाउद्दीन खिलजी के कोप-पात्र मुसलमान सरदार मीर महिमा को शरण देकर हमीर का अलाउद्दीन का कोपभाजन बन जाना आरंभ है। अलाउद्दीन का आक्रमण, राजपूतों का साहस से युद्ध करना, युद्ध का निर्णय न होना आदि विकास की अवस्था है। राजपूत सेना की विजय से वस्तु उतार की ओर बढ़ती है। स्त्रियों का जौहर, हमीर की आहुति से अन्त हो जाता है।

'शतरंज के खिलाड़ी' की कथावस्तु का आरम्भ जैसलमेर के लोगों द्वारा अलाउद्दीन के खज़ाने को लूट लेने की घटना से होता है। मित्र के विरुद्ध युद्ध का निर्णय न होना, युद्ध-सामग्री में आग लग जाना आदि विकास की अवस्था है। रत्नसिंह द्वारा पुत्र को महबूब को सौंपना वस्तु की चरमसीमा है। अन्त होता है रत्नसिंह और महबूब के गले मिलने के अवसर पर रत्नसिंह के वाक्यों से।

वस्तु की अवस्थाओं का यही क्रम 'उद्धार', 'प्रतिशोध', 'शपथ', 'विषपान', 'प्रकाश-स्तंभ', 'कीर्ति-स्तंभ', 'संरक्षक' और 'विदा' आदि में भी देखा जा सकता है। परन्तु जैसाकि हम पहले कह आये हैं, प्रेमीजी इस प्रकार के बन्धन के प्रति विशेष आग्रहशील नहीं दिखाई देते। वास्तव में समय की गति अब इतनी तीव्र हो गई है कि इन नियमों का ज्यों-का-त्यों पालन आज की स्थिति में संभव नहीं है। वस्तु-

विकास में इतना ही होना चाहिए कि कथानक के नाटकीय रूप को प्राप्त होने में उसके तीन भाग रखे जावें :—आरम्भ, मध्य और अन्त।

आरंभ में वस्तु को साधारण रूप से प्रस्तुत कर घटनाओं का इस भाँति समावेश किया जाये कि आगे की घटनाओं के लिए उत्कंठा बढ़ती रहे। वस्तु के मध्य में दर्शकों या पाठकों का ध्यान परिणाम की ओर मुड़ जाना चाहिए। अन्त में सब उत्कंठाओं की समाप्ति होकर कार्य की प्राप्ति हो जानी चाहिए। प्रेमीजी के नाटकों में कथावस्तु के ये तीन मोड़ सफलता के साथ निभाये गए हैं। उदाहरण के लिए हम यहाँ उनके सामाजिक नाटकों को लेंगे। 'छाया' के आरम्भ में लेखक ने नारी-जीवन की स्थिति और लेखक की दुर्दशा का उद्घाटन किया है। ज्योत्स्ना, माया, छाया, और प्रकाश के बारे में जानने को पाठक आकुल हो उठता है। प्रकाश का ज्योत्स्ना और माया के यहाँ अधिकतर समय बिताये जाने की घटनाएँ उत्सुकता को चरमसीमा पर पहुँचा देती है। छाया का अपने घर संकटों में दिन बिताना और प्रकाश का ऋण में डूबते जाना, शंकर आदि का भी उसके विपरीत हो जाना मध्य की अवस्था है। ज्योत्स्ना और रजनीकान्त का प्रकाश के प्रति झुकाव परिणाम की ओर हमारा झुकाव बढ़ाता है। नाटक का अन्तिम दृश्य उत्सुकता को अन्तिम बिन्दु पर लाकर सब शंकाओं का समाधान कर देता है। माया, ज्योत्स्ना आदि के सम्बन्ध में सब बातें स्पष्ट हो जाती हैं। प्रकाश की भी कष्टों से मुक्ति हो जाती है। 'बन्धन' में भी इसी क्रम को अपनाया गया है। किन्तु 'छाया' की अपेक्षा इसका वस्तुसंगठन कहीं उत्तम है। व्यक्ति के भीतर चलनेवाला द्वन्द्व, समाज के भीतर चलनेवाला द्वन्द्व इसकी विशेषता है। साथ ही जिज्ञासा और उत्कंठा जो नाटक का प्राण होता है, उसका पूरा निर्वाह किया जाता है। निम्न मध्य-वर्ग की दुरवस्था के चित्रण से नाटक का आरम्भ होता है, मज़दूरों की हड़ताल इस आरम्भ को उत्कंठा की अग्नि प्रदान करती है। रायबहादुर का अत्याचार, प्रकाश, मालती की हलचल, मोहन की गिरफ़्तारी 'मध्य' भाग है। प्रकाश का अपने को फँसाने का प्रयत्न करना और मोहन का अपने-आपको, परिणाम की ओर उत्कंठित करते हैं। दोनों की मुक्ति में नाटक का अन्त होता है। 'ममता' में आरम्भ का भाग कहीं अधिक कौतूहल-जनक है। कला, यशपाल और लता की घटनाएँ आरंभ से ही उत्कंठा को बढ़ाती हैं। मध्य में जाकर विनोद की चालाकियाँ, कला और लता की परस्पर ईर्ष्या, लता का गुम हो जाना, रजनीकान्त के मन में दुविधा का जागना आदि घटनाएँ अन्त की ओर जिज्ञासा को अग्रसर करती हैं। विनोद की गिरफ़्तारी का समाचार, लता का न मिलना जिज्ञासा को चरमसीमा पर ले जाते हैं। अन्त होता है लता के बलिदान और कला तथा रजनीकान्त के विवाह से। इस प्रकार लेखक ने कथानक के संगठन के लिए किसी शास्त्रीय पक्ष का आग्रह विशेष नहीं रखा, बल्कि जिज्ञासा, कौतूहल और प्रभावशाली उद्देश्य के प्रति ही वह जागरूक रहा है।

नाटक की कथावस्तु को दृश्य और सूच्य दो भागों में विभक्त किया जाता है। दृश्य कथावस्तु का वह भाग है, जिसमें कि घटनाओं का अभिनय रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है। दृश्य कथावस्तु में समाविष्ट घटनाओं के अतिरिक्त बहुत-सी घटनाएँ ऐसी हैं जो कि रंगमंच पर अभिनीत रूप में तो नहीं दिखाई जा सकतीं; किन्तु कथावस्तु के तारतम्य को बनाए रखने के लिए उनकी सूचना अवश्य दी जाती है। अतः नाटकीय कथावस्तु के तारतम्य को बनाए रखने के लिए जिन महत्त्वपूर्ण घटनाओं की किसी-न-किसी रूप में सूचना दे दी जाती है, वह सूच्य-वस्तु कहलाती है। सूच्य कथावस्तु की सूचना देने के जो साधन हैं; उनको अर्थोपक्षेपक कहते हैं। ये पाँच हैं:—विष्कंभक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार और प्रवेशक। प्राचीन संस्कृत नाटकों में इनका प्रयोग होता था, आज इनकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता। वास्तव में सूच्य-वस्तु से यही लाभ है कि कथावस्तु अनावश्यक विस्तार से बच जाये, रंगमंच के निर्देशक को कठिनाई का सामना न करना पड़े और घटनाओं का क्रम बना रहे। यदि कुशल लेखक यह सावधानी बिना अर्थोपक्षेपक के नामांकित किये ही बरत लेता है तो इस झंझट में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। प्रेमीजी रंगमंच की आवश्यकताओं को भलीभाँति समझते हैं; अतः उन्होंने सूच्य-वस्तु का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। अतः हम कह सकते हैं कि कथावस्तु के सम्बन्ध में जो भी अनिवार्य सावधानियाँ बरती जानी चाहिएँ, प्रेमीजी ने उनका बराबर ध्यान रखा है और कथावस्तु की दृष्टि से आपके नाटक सफल ही हैं।

'साँपों की सृष्टि' का कथानक बड़ी ही सफलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। कथा से सम्बन्धित अनेक ऐतहासिक-घटनाओं को यदि दृश्य-वस्तु के सहारे कहा जाता तो कथानक अनावश्यक रूप से विस्तृत भी हो जाता और उलझ भी जाता। रंगमंच पर उनका दिखाना संभव नहीं था। सूच्य-वस्तु के उपयोग से सभी घटनाओं को ले लिया गया और अलाउद्दीन खिलजी का पूरा काल नाटक के सीमित कलेवर में समा गया। कमलावती, काफ़ूर, माहरू, अलाउद्दीन के मुख से समस्त घटनाओं का उल्लेख कर दिया गया है।

ऐतिहासिक घटनाओं के संकलन की दृष्टि से 'साँपों की सृष्टि' का अपना महत्त्व है। कल्पना के लिए इस नाटक में शायद ही गुंजायश निकाली गई हो। पूर्ण और विशुद्ध ऐतिहासिक कृति हम इस रचना को कह सकते हैं। इतिहास की भावना, नाम, घटनाएँ सभी का संरक्षण इसमें मिलेगा। साथ ही इसके कथानक में संघर्ष, प्रेम, प्रतिशोध, युद्ध, छलना, कूटनीति, बलिदान, विश्वासघात आदि की व्यापकता भी मिलेगी।

कथानक को रंगमंच की सुविधा से सुघटित किया गया है। 'साँपों की सृष्टि' का घटना-काल बहुत छोटा है। घटनाओं के घटने के स्थान भी होते हैं; दिल्ली और ग्वालियर। पहला अंक कमलावती के महल के सामने समाप्त हो जाता है। दूसरा

अलाउद्दीन के महल में। तीसरा ग्वालियर के क़िले के एक महल के सामने के उद्यान में। इस प्रकार यह नाटक रंगमंच पर भी सुविधा के साथ खेला जा सकता है।

हाँ, एक बात अवश्य कही जा सकती है और वह यह कि प्रेमीजी की कथा-वस्तु के चुनाव की रुचि एक-जैसी ही है, उसमें विविधता नहीं है। वही युद्ध, वही संधियाँ, वही सहायताएँ, वही साम्प्रदायिक एकता, वही राष्ट्र-भावना के स्वर, वही हार, वही जीत। सब नाटकों का एक-जैसा ही क्रम। अनेकरूपता के लिए कहीं स्थान नहीं। इसके लिए प्रेमीजी ने अपने नाटकों की भूमिकाओं में जो स्पष्टीकरण किया है, वह आक्षेप का समाधान प्रस्तुत करता है—

'हमारे इतिहास के गंभीर अध्ययन से हमारे जन-जीवन की जिन निर्बलताओं पर प्रकाश पड़ता है और जिनके कारण हम विभाजित रहकर पराजित, पद-दलित और पराधीन होते आये हैं, वे ही निर्बलताएँ भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् फिर अधिक प्रबल हो उठी हैं।...इस अँधेरे से, इस धुएँ से हमें लड़ना ही है। इसलिए मैं इस प्रकार के नाटक लिखना नहीं छोड़ सकता, मैं समझता हूँ, अभी इनकी आवश्यकता है।' ('शतरंज के खिलाड़ी')

'...भारत सदियों की पराधीनता के पश्चात् स्वतन्त्र हुआ है और अब इसे नवार्जित स्वतन्त्रता की रक्षा भी करनी है एवं राष्ट्र को सुखी, समृद्ध और शक्तिशाली भी बनाना है। प्राचीन इतिहास हमारी शक्ति और दुर्बलता का दर्पण है। मैंने बार-बार यह दर्पण अपने देश-वासियों के सम्मुख रखा है ताकि हम अपने देश के अतीत को देखकर व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन से उन दुर्बलताओं को दूर करें जिन्होंने हमें पराधीनता के पाश में बाँधा, उन गुणों को ग्रहण करें, जिन्होंने हमें अभी तक जीवित रखा और फिर स्वतन्त्र किया तथा उन गुणों का विकास करें जिनकी राष्ट्र के नव-निर्माण में अपेक्षा है।' ('कीर्त्ति-स्तंभ')

२. पात्र और उनका चरित्र-चित्रण—नाटक की सफलता घटनाओं की सम्पन्नता को प्रत्यक्षता देने में है। वस्तु-विधान में पात्रों का समुचित विनियोग करने के बाद ही घटनाओं की सम्पन्नता प्रत्यक्ष की जा सकती है। कथावस्तु के अनुसार ही पात्रों की योजना करनी चाहिए। वस्तु-विधान और पात्रों की योजना यथार्थ में परस्पर ऐसे सम्बद्ध हैं कि एक के बिना दूसरे का विन्यास संभव नहीं। वस्तु में पात्रों का चरित्र गुंफित रहता है और चरित्रों के गुंफन से वस्तु निर्मित है। इसलिए कथा-वस्तु का जैसा विकास अभिप्रेत हो उसीके अनुसार पात्रों की योजना करनी चाहिए। यदि कथावस्तु विस्तृत हो तो पात्रों की संख्या अधिक और संक्षिप्त है तो कम की जानी चाहिए। हर स्थिति में पात्रों का सम्बन्ध कथानक से होना चाहिए। प्रेमीजी ने इस दिशा में सावधानी बरतने की चेष्टा की है। पात्रों के सम्बन्ध में उनका वक्तव्य इस प्रकार है—

'इस नाटक में पात्र-सूची पर्याप्त लम्बी हो गई है, लेकिन इससे नाटक के गठन में कोई शिथिलता नहीं आई, क्योंकि अनेक पात्र ऐसे हैं जो एक-एक या दो-दो दृश्यों में आते हैं; मुख्य पात्र तो शिवाजी, जीजाबाई, रामदास, और औरंगज़ेब ही हैं, जिनका अस्तित्त्व पहले अंक से अंतिम अंक तक बना रहता है। इन्हीं पात्रों के कारण नाटक के दृश्य अन्त तक एक सूत्र में बँधे रहते हैं। ('शिवा-साधना')

'ऐतिहासिक कथानकों में पात्रों की संख्या अधिक होती है और उन सबको नाटक में स्थान दिया जाय तो सबका चरित्र-विकास हो ही नहीं सकता। नाटक खेलने के लिए इतने अभिनेताओं को जुटाना भी एक असाध्य समस्या हो जाती है। प्रस्तुत नाटक में मैंने महाराणा राजसिंह, छत्रपति शंभूजी और औरंगज़ेब के अन्य पुत्रों जैसे महत्त्वपूर्ण पात्रों तक को छोड़ दिया है—यह कदाचित् कुछ लोगों को ठीक न जँचे, लेकिन ऐसे महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को केवल एक-दो दृश्यों में ही रंगमंच पर लाना भी उनके साथ अन्याय है। इसलिए मैंने उनके कार्यों को अन्य पात्रों के कथोपकथनों द्वारा व्यक्त करा दिया है।' ('विदा')

'नाटक में पात्रों की संख्या अधिक नहीं होनी चाहिए। थोड़े पात्रों के चरित्र विकसित करने में सुविधा रहती है। इस नाटक में मालवा के सुलतान, गुजरात के बादशाह, दिल्ली के बादशाह, संग्रामसिंह की माता, सिरोही नरेश और उसकी पत्नी, मेवाड़ की राजकुमारी आनन्ददेवी, राव सूरतान आदि जिनका कथानक से कुछ सम्बन्ध है, रंगमंच पर लाए ही नहीं गए। किसी पात्र को एक-दो दृश्य में लाना कुछ जँचता नहीं है। उनके चरित्रों को भली-भाँति प्रकट करने के लिए उनसे सम्बन्ध रखनेवाले दृश्य बढ़ाने पड़ते हैं और नाटक उपन्यास की भाँति वृहदाकार हो जाता है।' (कीर्ति-स्तम्भ')

स्पष्ट है कि प्रेमीजी पात्रों की संयोजना के सम्बन्ध में सदा सावधान रहे हैं। प्राचीन नाटकों में नायक, नायिका, प्रतिनायक, विदूषक, विट और चेट तो अवश्य होते थे, शेष पात्र कहानी के अनुसार रख लिए जाते थे। आज इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार बदल गए हैं। फलस्वरूप प्रेमीजी भी इनका आग्रह मानकर नहीं चले। नायक, प्रतिनायक तो संघर्ष के लिए अवश्य रख लिए गए हैं; किन्तु विदूषक, विट और चेट की समाप्ति कर दी गई है। इन तीन पात्रों का समावेश हास्यरस की अभिव्यक्ति के लिए मुख्य रूप से होता था। प्रेमीजी ने हास्य या विनोद की सृष्टि विदूषक को अस्वाभाविक रूप में स्थान न देकर, किसी पात्र का निर्माण करके की है। जैसे 'रक्षाबन्धन' में धनदास, 'उद्धार' में जाल और 'शपथ' में धर्मदास व जगदेव इसीलिए रखे गये हैं।

पात्रों का महत्त्व उनके चरित्र-चित्रण में है। नाटककार अपने पात्रों के विषय में स्वयं कुछ नहीं कहता; वह कथावस्तु, घटनाओं और कथोपकथन द्वारा पात्रों के

चरित्र का उद्घाटन करता है । चरित्र-चित्रण की उत्कृष्टता पर ही नाटक की सफलता निर्भर करती है। नाटक में चरित्र-चित्रण के कई प्रकार हैं; जिनमें मुख्य हैं— १. कथोपकथन द्वारा, २. स्वगतकथन द्वारा, ३. सम्मति द्वारा और ४. क्रिया-कलाप द्वारा। प्रेमीजी ने प्रायः सभी प्रकारों का उपयोग किया है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्रेमीजी के नाटक उत्तमोत्तम कहे जा सकते हैं।

चरित्र-चित्रण में प्रेमीजी ने आदर्शवादी शैली को अपनाया है। प्रगति या यथार्थवाद के नाम पर चरित्रों का कुत्सित पक्ष उन्होंने प्रस्तुत नहीं किया। विषपान की भूमिका में उन्होंने कहा भी है:—'यथार्थवाद के नाम पर समाज के गन्दे अंगों का चित्र खींच देना मेरे साहित्य का उद्देश्य नहीं है। यूरोपीय साहित्य और सभ्यता से प्रभावित हिंदी के कुछ नवीन समालोचक मेरे नाटकों में नैतिकता का दोष निकालते हैं। मैं यह चाहता हूँ कि मेरे देशवासी स्वस्थ विचारवाले, स्वाभिमानी, स्वाधीन-चेता, वीर, पराक्रमी, संयमी, सहृदय और ईमानदार हों। मैं समझता हूँ ऐसी इच्छा करना पाप नहीं है। फिर भी समाज में जिन्हें नीच, घृणित समझा जाता है, उनके प्रति मेरा दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण है।'

इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रेमीजी पुराने संस्कारों और रूढ़ियों से जकड़े हुए हैं। वे कहते हैं:—'मैं प्राचीन कूड़े-कर्कट का पोषक नहीं हूँ। फिर भी प्राचीन होने के कारण ही कोई चीज़ बुरी है, यह मैं मानने को प्रस्तुत नहीं हूँ।'

अपने उद्देश्य के अनुकूल प्रेमीजी ने अपने नायक धीरोदात्त ही रखे हैं। वास्तव में प्रेमीजी के नाटकों का निर्माण ऐसे वातावरण में होता रहा है जब सामाजिक और राजनैतिक रूप में भारतीय जनता विनाशक रूढ़ियों और विदेशी शासन से संघर्ष करती रही है या फिर उसे साम्प्रदायिक वैमनस्य का मुकाबला करना पड़ता रहा है। ऐसे वातावरण में भारतीय व्यक्ति-पूजा में विश्वास करते रहे हैं। संस्कृत महाकाव्यों के युग से लेकर आजतक यही व्यक्ति-पूजा चली आ रही है। जहाँ व्यक्ति-पूजा होगी वहाँ व्यक्ति में आदर्श की स्थापना अपने-आप हो जायगी।

सभी नाटकों के नायक एक आदर्श चरित्र की सृष्टि करने के कारण धीरोदात्त हैं, अन्य पात्र भी आदर्श प्रस्तुत करते हैं। प्रेमीजी ने अपने पात्रों में जहाँ मानव-जीवन की साधारण और व्यापक भावनाओं का चित्रण किया है, वहाँ असाधारण और विशेष भावनाओं का चित्रण भी किया है। हम्मीर, जीजाबाई, शाहशेख औलिया, रामदास, चारणी, विष्णुवर्धन, दारा, विक्रमादित्य आदि असाधारण व्यक्तित्व लिये हुए हैं। मालदेव, जवानदास, धनदास, सुरजनसिंह आदि में मानव-सुलभ दुर्बलताएँ दिखाई गई हैं।

प्रेमीजी के प्रधान पात्र प्रायः विचारशील प्रकृति के हैं। उनके हृदय में क्षमा, दया आदि उदात्त गुण वर्तमान हैं। हिंसा, क्रूरता के वे शत्रु हैं। आदर्शवादी चरित्र-

चित्रण में प्रेमीजी ने आकस्मिकता तो बड़ा महत्त्व दिया है। वे अपने उदात्त चरित्र पात्रों के सम्वाद-द्वारा अनुदात्त पात्रों के चरित्र में सहसा परिवर्तन करा देते हैं। 'रक्षा-बन्धन' में चारणी श्यामा के चरित्र में परिवर्तन करती है। माया अपने पति धनदास का सुधार करती है। अपनी चित्रण-पद्धति में प्रेमीजी ने प्रायः प्रत्येक नाटक में घटना के साथ एक ऐसा भी मनुष्य रखा है, जो विषमता में सफलता लाने का उद्योग करता है। संस्कारों में परिवर्तन, देश-प्रेम, संगठन का भाव, अधर्म पर धर्म की विजय और कठोरता पर कोमलता का प्रभुत्त्व स्थापित करता है।

आपके उदात्त पात्रों में सभी उच्चगुण पाये जाते हैं। जन्म-भूमि के प्रति श्रद्धा, वीरतापूर्ण अहं, कुल का अभिमान, सामन्ती गर्व, बलिदान की भावना, निर्भयता और क्षमा से वे सम्पन्न हैं। पुरुष-पात्रों के समान नारियाँ भी आदर्श गुणों से युक्त हैं। वे वीरांगनाएँ हैं। निर्भयता, आत्म-त्याग, दूरदर्शिता, उदारता, सहिष्णुता, सेवा-परायणता, एकनिष्ठता आदि गुण उनमें भी हैं। ऐतिहासिक नाटकों के चरित्रों में रंग भरते हुए प्रेमीजी ने भारतीय रस-सिद्धान्त का बहुत ध्यान रखा है। 'साधारणीकरण' के अनुसार ही अधिकतर चरित्रों का निर्माण किया है, यद्यपि जीवन के उत्थान-पतन, मानस का द्वन्द्व और भावसंघर्ष भी समान और उचित अनुपात में मिलता है। परन्तु वर्तमान जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले नाटकों के चरित्र-निर्माण में व्यक्ति-वैचिव्य का स्वरूप स्पष्ट है।

'रक्षा-बन्धन' का नायक हुमायूँ आदर्श पुरुष है। नीति, धर्म, मानवता, दया, उदारता आदि गुणों का वह अवतार है। अपने राज्य और व्यक्तिगत सुरक्षा को खतरे में डालकर भी वह कर्मवती की राखी को स्वीकार कर लेता है। एक उदारमना सच्चे मानव की भाँति वह कहता है:—'हमें दुनिया की हर क़िस्म की तंगदिली के ख़िलाफ़ जिहाद करना चाहिए। हमारा काम भाई के गले पर छुरी चलाना नहीं; भाई को गले लगाना है। भाई को ही नहीं दुश्मन को भी गले लगाना है।' 'रक्षा-बन्धन' में विक्रमादित्य एक औसत व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। इसमें मानवीय गुण भी हैं और कमियाँ भी। विलासी भी परले दर्जे का था तो धीरता, त्याग, देशभक्ति, शूर-वीरता, निर्भयता भी चरमसीमा पर आई। स्वगतकथन से विक्रम का चरित्र देखिये—'वे गोरा-वादल की आत्माएँ मुझे शाप दे रही हैं। स्वर्ग में देवी पद्मिनी हँस रही है, उनकी व्यंग्यमयी मुस्कान मानो कह रही है, इससे स्त्रियाँ ही अच्छी। अभिशाप, ग्लानि, घृणा और अपयश के बोझ से दवा हुआ जीवन मैं कब तक ढो सकूँगी। मैं मेवाड़ का महाराणा था—अब तो राह का भिखारी हूँ—पर उससे भी अधिक दुःखी हूँ। अब तो चला नहीं जाता। हाय! चित्तौड़ का न जाने क्या हुआ?'

श्यामा का चरित्र भी दिव्य है। इसका चित्रण करने में प्रेमीजी ने अत्यन्त कौशल से काम लिया है। श्यामा मेवाड़ी वंशाभिमान की शिकार, सामंती न्याय के पैरों तले कुचली हुई अबला और समाज बहिष्कृत एक व्यथाविह्वल नारी है। उसका रोषभरा नारीत्व कहता है—'देशभक्ति के अन्ध उन्माद ने, न्याय के निष्ठुर अभिमान ने, एक दिल की हरी-भरी बस्ती को जलता हुआ मरुप्रदेश बना दिया। इच्छा होती है, चोट खाई हुई नागिन की भाँति फुफकार कर सम्पूर्ण मेवाड़ को डस लूँ।' किन्तु साथ ही वह अपना रोष दबाकर अपने पुत्र को मेवाड़ की रक्षा के लिए युद्ध करने की प्रेरणा भी देती है। सदा अपने को एकान्त स्वाभिमान के साथ मेवाड़ के राजसुख से अलग रखती है, यह उसका स्पर्धा के योग्य गुण है।

बहादुरशाह का चरित्र भी प्रेमीजी ने कुशलतापूर्वक चित्रित किया है। भाई के रक्त-पिपासु, प्रतिशोध की अग्नि में झुलसते हुए बहादुरशाह के हृदय को सफलता के साथ अंकित किया गया है।

कर्मवती के आदर्श के सामने तो पुरुषपात्र भी विशेष ऊँचे नहीं दिखाई देते। अपने पुत्र के लिए राजमुकुट न माँगकर क्रीड़ा के लिए तलवार माँगनेवाली कर्मवती आरम्भ से ही आकृष्ट करती है। वास्तव में यह नाटक की आत्मा है। शरणागत की रक्षा के लिए युद्ध की हिचकिचाहट देखकर वीरों के हृदय में स्फूर्ति भरनेवाली कर्मवती की वाणी सुनिए :—

'पाताल फोड़कर निकलेगी सेना। आसमान से टपकेगी सेना। मेवाड़ के वीरो प्राण का मोह! यह सन्धि शब्द आपने किससे सीख लिया? यदि प्राणों का इतना मोह है तो चूड़ियाँ पहनकर घर बैठो, लाओ यह तलवार मुझे दो।······उठो, भूखे सिंह की तरह शत्रु की सेना पर टूट पड़ो······तुम राजपूत हो, क्षत्रिय हो, अग्निपुत्र हो······तुम्हारी हुंकार से शत्रु की छाती टूक-टूक हो जायगी।' कर्मवती भ्रातृत्व और मनुष्यत्व पर पूरा भरोसा रखती है। कठिन-से-कठिन परिस्थिति में भी अपना साहस नहीं छोड़ती।

'शिवा-साधना' के नायक शिवाजी धर्मवीर, युद्धवीर, कर्मवीर और दानवीर हैं। वे स्वतन्त्रता के दीवाने शूरवीर हैं। स्वतन्त्रता की साधना में जीवन की आहुति देने पर ही उन्हें शान्ति मिलती है। अपने बल पर ही वे औरंगज़ेब जैसे शक्तिशाली शत्रु से लड़ाई मोल लेते हैं। देहबल के साथ उनमें बुद्धिबल भी है। शिवाजी केवल वीर ही नहीं, शत्रु के प्रति भी उदार हैं। युद्ध के बाद बन्दियों को क्षमा देना, सिपाहियों को सन्तुष्ट करना, शत्रु-पक्ष की महिलाओं के साथ माता-बहिन का वर्ताव करना शिवाजी की उदारता का प्रमाण है। अफ़ज़लखाँ की मृत्यु के बाद उसकी क्रिया-कर्म के लिए कहते हैं :—'हमारा किसी व्यक्तिविशेष से द्वेष नहीं, हम तो एक महान् साधना के साधक हैं। वीर शत्रु की लाश का उचित आदर होना चाहिए। उसकी

अप्रतिष्ठा मराठों के गौरव के प्रतिकूल है।' शिवाजी का चरित्र शील-सम्पन्न है। शत्रु-नारी के प्रति उनके हृदय की भावना देखिए :—'डरो मत माँ! डरो मत!… तुम्हें देखकर मेरे हृदय में केवल यह भाव उठ रहा है कि यदि तुम मेरी माँ होतीं तो विधाता ने मुझे सौन्दर्य की दौलत देने में इतनी कंजूसी न की होती।'

देवकोटि के इस चरित्र में मानव-सुलभ दुर्बलताएँ भी हैं। मानव अपनी मानवता से ही व्यक्ति को प्रभावित करता है। शिवाजी को राज्य पर गर्व होता है। गर्व मानव हृदय की स्वाभाविकता है। किन्तु रामदास द्वारा भ्रम दूर होता है और उनके चरित्र में फिर महानता आती है। इस प्रकार चरित्र में एक क्रमिक विकास होता है। यही प्रेमीजी के चरित्र-चित्रण की कुशलता है। पात्रों को स्वाभाविक स्थिति में रखना ही प्रेमीजी का गुण है। राक्षस कोटि का कोई भी पात्र वे नहीं रखते। अवगुण के भंडार व्यक्ति में भी किसी-न-किसी गुण की स्थापना वे करते हैं। अनेक अवगुणों का भण्डार होने पर भी औरंगज़ेब वीरता से परिपूर्ण है। वह गुण ग्राहक भी है। अपने शत्रु की वीरता की भी प्रशंसा करता है। वह सादा जीवन व्यतीत करता है। जीवन के आनन्द-विलास को छोड़कर, आमोद-प्रमोद से दूर एक वैरागी बनकर रहता है। एक लगन, एक ध्येय लिये हुए अविश्राम गति से चलता है।

जीजाबाई का चरित्र एक आदर्श माता का चरित्र है। कर्त्तव्य और देश-सेवा का व्रत लिये ही वैधव्य जीवन बिता देती है। वह बलिदानी आत्मा है। पति के जीवन को संकट में पड़े देखकर भी कर्त्तव्य-पथ से च्युत नहीं होती। देश-प्रेम की भावना से भरी पुत्र को प्रेरित करती है :—'उठो बेटा, मैं पिता, पति, बन्धु-बान्धव, सुख-स्वार्थ कुछ नहीं जानती, मैं केवल देश को जानती हूँ और तुम्हें आदेश करती हूँ कि देश की स्वाधीनता ही तुम्हारे जीवन की चरम साधना हो।'

'प्रतिशोध' का नायक छत्रसाल वीर, साहसी, चतुर और लगनवाला व्यक्ति है। वह अपने प्रयत्नों से ही मुग़ल साम्राज्य की सत्ता को निर्वासित करने में सफल होता है। बलदिवान के शब्दों में छत्रसाल में विपत्ति में धैर्य, ऐश्वर्य के क्षणों में क्षमाशीलता, शस्त्र-संचालन में पूर्ण कुशलता आदि गुण विद्यमान हैं। इतना होने पर भी उसमें अहंकार नहीं है। नम्रता ही उसका गुण है। वह कहता है :—'जनता के विनम्र सेवक छत्रसाल के लिए यह हर्ष का विषय है कि वह फिर जनता के बीच में उसकी सेवा के लिए लौट आया है।' नाटक के दूसरे पात्र चंपतराय (छत्रसाल के पिता) यदि साहस और वीरता के बालारुण थे तो छत्रसाल प्रचण्ड मार्तण्ड थे। प्राणनाथ और बलदिवान के चरित्र भी आदर्श हैं।

'आहुति' का नायक हम्मीरसिंह शरणागतवत्सल, आन का पक्का और शूरवीर है। हम्मीर की हठ प्रसिद्ध है—'तिरिया तेल हमीर हठ चढ़े न दूजी बार।'

नाटक में उसकी हठ वीरता में परिवर्तित है । प्रजा की मुक्ति के लिए यह अलाउद्दीन के विरुद्ध युद्ध का अभियान करता है । विश्राम करना तो इसने सीखा ही नहीं महारानी देवल भी उसीके अनुकूल वीर क्षत्राणी हैं, वे हँसते-हँसते अपने पुत्रों और भाई को युद्ध की बलिवेदी पर चढ़ा देती हैं । मीर महिमा में सच्ची बात निर्भयता के साथ कहने का गुण है । मित्र के लिए वह अपने अन्तिम क्षणों तक लड़ता है ।

'स्वप्नभंग' का दारा एक असाधारण व्यक्ति है । वह शान्तिप्रिय और आदर्श व्यक्ति है । गृह-कलह से उसका अन्तःकरण काँप उठता है । वह सदा ही अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ रहता है । दारा साहित्य-प्रेमी भी है । विचारों से वह दार्शनिक है । नादिरा एक आदर्श पत्नी है । वह बड़ी-से-बड़ी आपत्ति में भी उसका साथ नहीं छोड़ती । श्री 'नलिन' के शब्दों में चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'स्वप्न-भंग' प्रेमीजी का सर्वश्रेष्ठ नाटक है । इसमें सभी चरित्रों का विकास स्वाभाविक और विस्तृत हुआ है । प्रेमीजी के किसी भी अन्य नाटक में चरित्रों का उद्घाटन इतना सुन्दर नहीं । औरंगज़ेब, रोशनआरा, जहाँनारा, प्रकाश आदि सभी में विकास दिखाई देता है । नाटक में प्रेमीजी ने चरित्रों के बाहरी चोले को त्यागकर उनके अन्तर में प्रवेश किया है ।

औरंगज़ेब कट्टर, निरंकुश, निर्दय, कठोर, वीर, धूर्त और निर्भय योद्धा है । सहृदयता या भावुकता की धड़कन उसके हृदय में होती ही नहीं । सम्राट् बनने की महत्त्वाकांक्षा उससे उसके भाइयों का वध करा देती है । पिता को वह पानी तक के लिए तरसाता है । किन्तु जब यह दानव महत्त्वाकांक्षा के घटाटोप से मुक्त क्षणों में आता है, कपट के परिवेश से बाहर निकलता है, तब उसके हृदय की दुविधापूर्ण स्थिति का चित्र इन शब्दों में सामने आता है :—'ससार में सब प्राणियों के स्नेह से वंचित औरंगज़ेब, तुझे बहन रोशनआरा के अतिरिक्त और भी कोई प्यार करता है ? नहीं । रोशनआरा का स्नेह मरुभूमि में जलते हुए मेरे जलहीन जीवन का एक-मात्र सरोवर है । वह क़यामत से भी तेज़ लड़की—वह तलवार से भी अधिक तीखी धारवाली लड़की—वह बिजली से भी अधिक ज्योतित आँखोंवाली लड़की—आज औरंगज़ेब को सर्वनाश की आग लगाने को कह रही है । मैं मन्त्रमुग्ध साँप की तरह उस सँपेरिन के इशारे पर नाचूँगा । जो वह कहेगी, वही करूँगा ।'

रोशनआरा एक ओर जहाँ क़यामत से तेज़, तलवार से अधिक तीखी, बिजली से अधिक ज्योतित आँखोंवाली, विनाश से खेलनेवाली और अपने भाई को इशारों पर नचानेवाली है, वहाँ दूसरी ओर उसके हृदय में नारी-सुलभ कोमल भाव भी अँगड़ाइयाँ लेते हैं :—'ईर्ष्या की आँधी में उड़कर मैं कहीं आगई हूँ । मैं नारी हूँ । नारी का अस्तित्त्व प्रेम करने के लिए है, संसार को स्नेह के निर्मल झरने में स्नान कराने के लिए है । मैं अपना स्वाभाविक धर्म छोड़कर हिंसा का खेल खेलने

वाली हूँ। कोई दिल में बार-बार कहता है—'रोशनग्रारा ज़रा सोच ! ग्रागे क़दम बढ़ाने के पहले उसके परिणामों पर विचार कर।'

'शतरंज के खिलाड़ी' में किरणमयी, ताण्डवी, महाकाल ग्रादि के चरित्र ग्रादर्श कहे ज़ा सकते हैं। किरणमयी का चरित्र कर्मवती की भाँति तेजस्वी है ग्रौर तांडवी का चारणी की भांति प्रेरक। रत्नसिंह बलिदानी वीर है। वह कर्म करने का ग्रादी है, फल की इच्छा नहीं रखता। कहता है—'बलिदान देनेवाला परिणाम को नहीं देखता, महबूब ! वह तो यज्ञ में ग्रपनी ग्राहुति डालता है। वह नहीं जानता कि उसे ग्रात्मसात् करके ग्रग्नि जो धुग्राँ ग्राकाश में भेजती है—उससे सुख, ऐश्वर्य ग्रौर नवजीवन की वर्षा होती है। वह नहीं जानता कि उसकी भस्म राष्ट्र के प्राणों में एक ऐसी ज्वाला धधका देती है जो कायरता को भस्म कर देती है, राष्ट्र जाग पड़ता है ग्रौर लक्ष्य की सिद्धि करता है।'

'विषपान' की कृष्णा सांस्कृतिक ग्रौर साम्प्रदायिक एकता की प्रतीक है। वह ग्रसाधारण विचारशील ग्रौर दार्शनिक प्रकृति की महिला है। चित्रकारी ग्रौर संगीत ही उसका जीवन है, भावुकता उसमें कूट-कूटकर भरी हुई है। राजकीय बन्धनों को वह ग्रच्छा नहीं मानती। संग्रामसिंह का चरित्र एक कर्मवीर का चरित्र है। वह दृढ़ता से कर्म करता है ग्रौर उसका फल भगवान् के हाथ छोड़ देता है। ग्रपने स्वत्व की प्राप्ति के लिए नीच उपायों का ग्रवलम्बन उसके स्वभाव में नहीं है।

'उद्धार' का नायक हम्मीर वीरता, निर्ममता, शौर्य, धीरता, चातुरी, नेतृत्व ग्रादि गुणों से भरपूर है। सुधीर, नीति-धर्म ग्रौर सच्चरित्रता की प्रतीक है। कमला देशभक्त, दूरदर्शी, सरलचित्त ग्रौर वीर नारी है। मालदेव का चरित्र एक यथार्थवादी की भाँति चित्रित किया गया है। सुजानसिंह का चरित्र भी ग्रनुकरणीय है। उसका स्वप्न है जातियों की सीमाग्रों को तोड़कर मानवता का निर्माण, प्रान्तीयता की दीवारों को गिराकर राष्ट्रीयता की स्थापना।

'भग्न-प्राचीर' में मुख्य पात्र हैं संग्रामसिंह ग्रौर बाबर, कर्मवती ग्रौर मीरा। संग्रामसिंह गम्भीर, प्रशान्त ग्रौर प्रौढ़ शासक है। उसका चरित्र महत्ता ग्रौर गौरव का प्रतीक है। बाबर दूरदर्शी, राजनीतिज्ञ, वीर ग्रौर महत्त्वाकांक्षी है। कर्मवती देश-प्रेम ग्रौर पति-भक्ति से पूर्ण है। वह ग्रादर्श क्षत्राणी है, नारीत्व की भावनाग्रों से पूर्ण साहस ग्रौर शूरवीरता की मूर्ति है। इसका हृदय करुणा, क्षमा, दया, त्याग, उदारता ग्रादि गुणों से पूर्ण है। मीरा का चरित्र भक्ति, प्रेम, भावुकता ग्रौर कोमलता का जगमगाता रूप है। भोजराज देश-भक्त, निष्कपट, स्वार्थरहित ग्रौर दूरदर्शी है। कर्त्तव्य ग्रौर प्रणय के द्वन्द्व में इसका चरित्र निखर उठा है।

'शपथ' में विष्णुवर्धन, वत्स भट्ट, ग्रभयदत्त, पार्वती, मंदाकिनी, कंचनी, उमा ग्रादि ग्रनेक ग्रादर्श पात्र हैं। समस्त पात्र ग्रपने चारित्रिक महत्त्व से नाटक में

सांस्कृतिक वातावरण की सृष्टि करते हैं। विष्णुवर्धन ओजस्वी, आत्म-विश्वासी और वीर तथा साहसी है। वह एक आदर्श जन-नायक है। अपनी शपथ का पक्का है। उसका लक्ष्य है जनता में निर्भयता, आत्म-विश्वास, आस्था का जीवन, देश के प्रति कर्त्तव्य-भावना पैदा करना। स्वार्थ से उसे घृणा है। वत्स के शब्दों में विष्णुवर्धन का चरित्र इस प्रकार है :—'जनेन्द्र विष्णुवर्धन यशोधर्मन ने उन प्रदेशों को भी जीता जिन पर गुप्त सम्राटों का आधिपत्य नहीं था और न ही जहाँ राजाओं के मुकुट को ध्वस्त करनेवाली हूणों की आज्ञा ही प्रवेश कर पाई थी। लौहित्य से लेकर महेन्द्र पर्वत तक और गंगा से—स्पष्ट हिमालय से—लेकर पश्चिम पयोधि तक के सामन्त उसके चरणों पर लोटे। मिहिरकुल ने भी, जिसने भगवान् शिव के अतिरिक्त और किसी के सामने सिर नहीं नवाया, अपने मुकुट के पुष्पों के द्वारा उसके युगल चरणों की अर्चना की।' वत्स भट्ट में एक सच्चे कवि और आदर्श मित्र के गुण मौजूद हैं। कंचनी में त्याग, देशप्रेम, वीरता आदि गुण मौजूद हैं। आत्म-सन्तोष उसका भारी गुण है। विष्णुवर्धन कहता है :—'देशकार्य की स्वयंसेविकाओं में तुम सबसे आगे रहीं।'

'प्रकाशस्तंभ' में बाप्पा, हारीत, ज्वाला और हमीदा आदर्श पात्र हैं। मेवाड़ का राजवंश अपने आदिपुरुष बाप्पा रावल पर गर्व करता है। उसके व्यक्तित्व के साथ जनश्रुतियों में अनेक दैवी और चमत्कारपूर्ण घटनाएँ प्रचलित हैं; किन्तु प्रेमीजी ने बड़ी कुशलता के साथ बाप्पा का चरित्र अंकित किया है; उसे कहीं भी मानवेतर नहीं बनने दिया। बाप्पा आदर्श प्रेम को महत्व देता है, बचपन की प्रतिज्ञाओं को भी पूरी करता है, उन्हें केवल बच्चों का खेल नहीं मानता। जाति-पाँति का भेदभाव उसे पसन्द नहीं; रूढ़ियों का वह विरोधी है, समाज में समता चाहता है। बाप्पा भगवान् का अवतार, महात्मा अथवा धर्म-प्रवर्तक होने का गौरव प्राप्त करना नहीं चाहता। किसी दैवी, शक्ति अथवा अद्भुत आध्यात्मिकज्ञान या बल का गर्व भी वह नहीं करता। वह तो मनुष्य रहकर सीमित शक्तियों द्वारा मनुष्य के स्वार्थ और दंभ से युद्ध करना चाहता है। वह नीच और ऊँच के, क्षत्रिय और भील के, राजा और प्रजा के बीच विषमता की खाई को पाट देना चाहता है।

हारीत मानव-स्वतंत्रता के समर्थक हैं। विभिन्न संस्कृतियों का समन्वय ही लक्ष्य है। ज्वाला से वह कहता है:—'यह आर्य है, यह द्राविड़ और यह यवन इस प्रकार सोचने की मनोवृत्ति हमें त्यागनी होगी। हमें किसी पर अपना धर्म, अपने व्यवहार, अपनी परम्पराएँ लादने की अभिलाषा छोड़नी होगी, हमें एक-दूसरे से सामाजिक सम्पर्क बढ़ाने होंगे, हमें विजयी और विजित की भावना को नष्ट कर समान बन्धु बनकर रहना होगा।' हारीत देश-प्रेम के मान से भरा है, उसका विचार है कि देश को माँ समझने की भावना ही वह आधार है, जिसका अवलम्ब लेकर भारत के सम्पूर्ण मानव-समाज

को संगठन में बाँधा जा सकता है। वर्ण-व्यवस्था का विरोधी है और अछूतों का उद्धारक। प्रजा का अपमान करनेवाले शासक को वह परमेश्वर का अपमान करने वाला मानता है।

पद्मा महत्त्वाकांक्षिणी है। वह अपने प्रेमी को भी उच्चतम देखना चाहती है। दर्शन की भाषा वह जानती है किन्तु यथार्थ को छोड़कर चलना नहीं चाहती। वाप्पा उससे पूछता है कि क्या तुम प्रेम के हेतु राजमहल छोड़ने को प्रस्तुत नहीं हो ? तो वह कहती है :—

'मैं तो राजमहल छोड़कर धूल में, मरघट की ज्वाला में भी आसन जमाने को प्रस्तुत हूँ। किन्तु मैं चाहती हूँ कि मेरा प्रेमी धूल से ऊपर उठे, प्रचंड मार्तंड की भाँति प्रकाशित हो। अन्त में तो सभी को मिट्टी में मिल जाना है, जहाँ कोई बड़ा है न कोई छोटा, लेकिन जबतक साँसें चलती हैं मनुष्य को उच्च से उच्चतर और उच्चतम होने का यत्न करना चाहिए।' पद्मा के विचार में निर्धनता, निर्बलता और दैन्य संसार के सारे पापों से बड़े हैं, घोर अभिशाप हैं। वह एक वीर क्षत्राणी है, इसीलिए कहती है—'मैं क्षत्रिय बाला हूँ, वैरागियों सा त्याग मुझे तो नहीं भा सकता, मुझे तो उन बलशाली भुजाओं का पाश मान्य होगा जो पर्वतों का मस्तक चूर करने की साध में व्याकुल हों।' देश के सम्बन्ध में इसके विचार भी हारीत की भाँति हैं।

'कीर्ति-स्तंभ' का नायक संग्रामसिंह है। उसमें गम्भीरता, दूरदर्शिता, सहिष्णुता, धीरता, त्याग, संगठन-कुशलता, शिष्टता, वीरता, उदारता आदि गुण हैं। पृथ्वीराज में अदम्य उत्साह, अनियन्त्रित शौर्य, उद्दण्डता, निर्भीकता, महत्त्वाकांक्षा, हठवादिता, अदूरदर्शिता, पौरुष पर विश्वास आदि दुर्बलता-सबलता का मिश्रित रूप है। सूरजमल की भी यही स्थिति है। रायमल का चरित्र कुछ विविधतापूर्ण है। देशनिष्ठा, कुलगौरव, पूर्वजों में आस्था, उदाराशयता, प्रजानुरंजन, कर्त्तव्यपरायणता, रसिकता, न्याय-प्रियता, प्रजा-पालन, क्षमाशीलता, अभिवादनशीलता, दूरदर्शिता आदि गुण विद्यमान हैं। राजयोगी पूर्णतया देशभक्त हैं। शृंगारदेवी में रूपगर्व, विलासप्रियता, ईर्ष्या, स्वार्थपरता, वाक्पटुता आदि विशेताएँ हैं। ज्वाला में अपने नाम के अनुकूल असीम स्वाभिमान, प्रतिशोध भावना, प्रगलभता, निर्भयता, वाक्पटुता, हठवादिता, कूटनीति, कठोरता आदि मौजूद हैं। तारा मोहक रूप, मधुर संगीत, अद्भुत पराक्रम, प्रकृति-प्रेम, दूरदर्शिता, दृढ़ संकल्प, प्रेमनिष्ठा आदि से सम्पन्न है।

इस नाटक में चरित्र-चित्रण के लिए घटनाओं, सम्वादों, सम्मतियों और रंग-संकेतों का प्रचुरता से उपयोग किया गया है। वैसे इस नाटक के चरित्र घटनाओं के माध्यम से ही व्यक्त हुए हैं। अन्तर्द्वन्द्व इसमें कम है।

'संरक्षक' में दुर्गा का चरित्र ही उज्ज्वलतम है। लेखक उसी के चरित्र को उभार भी पाया है। देश-प्रेम की उदात्त भावना से उसका हृदय ओतप्रोत है। वह

ऐसे किसी भी व्यक्ति को अपने जीवन में नहीं आने देना चाहती जो देश के प्रति श्रद्धा न रखता हो। वह वीर राजपूतानी है, उसकी दृढ़ता के आगे किसी की पार नहीं बसाती। समाज में ऊँच-नीच की भावना उसे नही जँचती। प्रेम के क्षेत्र में वह एकनिष्ठता को महत्त्व देती है ; सदुद्देश्य के लिए प्राणों को उत्सर्ग करना ही वह श्रेयस्कर मानती है। वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए समाज में मानवोचित अधिकारों की समर्थक है। उसमें संगठन-शक्ति है। किसानों में घूम-घूमकर उनका संगठन करती है। स्वतंत्रता की पुजारिन है :—'स्वाधीनता की लड़ाइयाँ गुप्त मार्गों से नहीं लड़ी जातीं। मैं गुप्तचरों से नहीं डरती। स्वाधीनता की लड़ाई तो खुली लड़ाई है, और हमारा सबसे बड़ा बल बलिदान की प्रबल इच्छा है।' अन्याय के विरुद्ध वह निर्भयता से लड़ती है। निराशा उसे कभी भी छू नहीं सकी; क्योंकि राजनीति की चाल वह भलीभाँति जानती है। समस्त नाटक पर दुर्गा जिस प्रकार छाई हुई है; उस प्रकार अन्य नाटकों में कोई भी नारी-पात्र नहीं। इसके चरित्र के आगे किसी पात्र का चरित्र उभर नहीं पाया।

'विदा' एक प्रकार से वर्णन-प्रधान और सुझावात्मक नाटक है। किन्तु फिर भी इसमें पात्रों का चरित्र 'संरक्षक' की अपेक्षा अधिक उत्तमता से अंकित किया गया है। औरंगज़ेब, अकबर, दुर्गादास, ज़ेबुन्निसा, उदयपुरी बेगम के चरित्र विशेष उभरकर सामने आते हैं। वैसे छोटे-से-छोटे पात्र में भी अपनी कुछ-न-कुछ विशिष्टता अवश्य है।

औरंगज़ेब कलाओं का शत्रु है; अतः भावुकता और सहृदयता उससे विदा ले चुकी है। वह क्रूर, कठोर और अस्वाभाविक जीवन जीता है। धार्मिक अनुशासन को ही समाज और जीवन का निचोड़ मानता है। वह कट्टर मुसलमान है, जो कि कट्टरता से रहित है। उसी के प्रति यह क्रूर हो जाता है। वह हठी भी है; जो पग एक बार उठा लेता है, उसे वापस लेना नहीं जानता। तानाशाही को पसन्द करता है, स्वतंत्र चिन्तन का समर्थक नहीं है। मस्तिष्क का सन्तुलन किसी भी दशा में बिगड़ने नहीं देता, औरगंज़ेब का विचार है कि साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए और घोर उत्तेजना के समय भी मस्तिष्क का सन्तुलन स्थिर रखना पड़ता है। वह कूटनीतिज्ञ भी पहले दर्जे का है :—'ये राठौर क्या कभी सर झुकानेवाले हैं ? इन्हें धीरे-धीरे समाप्त करना होगा। मीठा ज़हर देकर'—इस प्रकार की उक्तियाँ इसका समर्थन करती हैं। लेकिन जो कुछ भी वह करता है, इस्लाम के प्रचार की दृष्टि से ही करता है, निजी स्वार्थ की सिद्धि के लिए नहीं। वह ईश्वर के प्रति भी विश्वासी है, इस्लाम का प्रचार भी वह ईश्वर की आज्ञा से ही करता है। इस प्रकार औरगंज़ेब के दुर्गुण भी किसी प्रकार दुर्गुण नहीं जान पड़ते। औरंगज़ेब का यह नया चित्र प्रेमीजी ने ही अंकित किया है।

अकबर का चरित्र एक आदर्शवादी व्यक्ति का चरित्र है। वह देश की सब जीतियों और धर्मों में सद्भावना स्थापित करना चाहता है। अपने इस उद्देश्य के लिए वह अपने पिता औरंगज़ेब के विरुद्ध विद्रोह की आवाज़ उठाता है। उसका हृदय आत्म-विस्तार की भावना से भरपूर है, उसका एक ही ध्येय है :—'मैं हिन्दुस्तान के प्रत्येक व्यक्ति—राजपूत, मुसलमान, सिख, मराठे—सभी का विश्वास पाने का यत्न करूँगा। मैं केवल मुसलमानों का बनकर नहीं रहूँगा।'

ज़ेबुन्निसा का चरित्र भी अकबर की भाँति ही आदर्श है। वह कला के प्रति आसक्ति रखती है, इसीलिए भावुकता उसका गुण है। मानवता के प्रति उसमें कोमल भावनाएँ हैं। वह धर्म के अस्वाभाविक अनुशासन को नहीं मानती। वह पिता से कहती है :—'धर्म क्या यह कहता है कि मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का गला घोंट दे।' वह सौन्दर्य और कला की पुजारिन है। अपने लक्ष्य के लिए वह भी अपने भाई की तरह बलिदान देने को तैयार रहती है :—तो आप मेरी हत्या कर दीजिए।···आपके जीवन का कुछ उद्देश्य है तो मेरे जीवन का भी कोई लक्ष्य है। मैं उस लक्ष्य के लिए अपने प्राण न्यौछावर करने को प्रस्तुत हूँ। आप अपने अब्बाजान से विद्रोह कर सकते हैं तो मैं भी अपने अब्बाजान से कर सकती हूँ।' प्रजा के प्रति वह नम्रता के व्यवहार की हामी है। दारा की भाँति ज़ेबुन्निसा का स्वप्न था, सारे देश में मनुष्यता का राज्य हो। अपने उद्देश्य के अनुकूल पात्रों का चरित्र चित्रित करके पाठकों की दृष्टि में उन्हें महान् बना देना प्रेमीजी को खूब आता है।

दुर्गादास एक वीर, साहसी, विश्वसनीय और आदर्श देश-भक्त के रूप में चित्रित किया गया है। दुर्गादास विश्वास करना जानता है, इसीलिए एक मुसलमान कासिम उसकी आज्ञा का पालन कर राजकुमार की रक्षा करता है। उसके चरित्र की उदात्तता का ही यह फल था कि उसने मेवाड़ और मारवाड़ की सम्मिलित सेना का नेतृत्व किया। उसमें संगठन-शक्ति भी अद्भुत थी। दुर्गादास का दृष्टिकोण विशाल है, वह संकुचित सीमाओं को त्यागकर देश की अखण्डता में ही देश का कल्याण मानता है। कहता है :—'जब तक हम इन सीमाओं में घिरे रहकर सोचेंगे तब तक स्वतन्त्र भारत का उदय नहीं होगा।' और 'मैं चाहता हूँ कि भारत में एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना हो जिसके पीछे जनबल हो, जिसमें प्रत्येक धर्म को विकसित होने का अवसर मिले।' इस प्रकार वीर दुर्गादास अविराम गति से अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर बढ़ता रहता है। इस नाटक में पात्रों का जितना परिष्कृत रूप मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं।

'संवत् प्रवर्त्तन' में विक्रमादित्य, भर्तृहरि, आचार्य कालक, उषवदात और सरस्वती के चरित्र ही अधिक उत्कृष्ट हैं। विक्रमादित्य नाटक का नायक है। शकों को देश से खदेड़कर जनता-राज्य देश में स्थापित करता है। वह वीर है किन्तु वीरता

का दुरुपयोग नहीं करता। वह कहता है :—'माँ, तुम्हारे विक्रम को तलवार अन्धा नहीं बना सकती। विक्रम तो अन्धों को आँखें देने के लिए तलवार बांधता है।' कामवासना, दुराचार और पाप से इसे घृणा है। इस सम्बन्ध में यह अपने पिता के लिए भी दुःशब्दों का प्रयोग करने में संकोच नहीं करता। कहता है :—'यदि मैं वास्तव में ऐसे कामी और कापुरुष का पुत्र हूँ तो मुझे धिक्कार है—और धिक्कार है उन अमात्यों और राज्याधिकारियों को जो राजाओं के ऐसे अत्याचारों को निर्विरोध सहन करते हैं।' बिना किसी साम्प्रदायिक भावना के मानवता की सेवा ही इसका लक्ष्य है। सरस्वती के सामने भगवान् से प्रार्थना करता हुआ कहता है :—'…मैं भगवान् महाकाल और हरसिद्धिदेवी के मन्दिर में प्रार्थना करता हुआ सदा यही वरदान माँगता रहा हूँ कि मुझ में प्राणों का मोह कभी उत्पन्न न हो—अत्याचारी के आगे मैं कभी मस्तक न झुकाऊँ—मानवता की सेवा करने में ही अपना सम्पूर्ण जीवन उत्सर्ग कर दूँ।'

विक्रमादित्य में उत्साह, कार्यशीलता, तत्परता और उद्योग है। वह फल की इच्छा नहीं रखता, भाग्य और देवी-देवताओं के भरोसे भी नहीं बैठता। वह अन्धविश्वासों के अन्धेरे में भटकना नहीं चाहता, ज्ञान की आँखों से काम लेता है। विक्रमादित्य के जीवन का आदर्श उसी के शब्दों में सुनिए :—'आज हमें धर्मों के आधार पर स्वाधीनता का संग्राम नहीं लड़ना है—बल्कि भारतीयता और मनुष्यता के नाम पर एक झण्डे के नीचे खड़े होकर शत्रु को पराजित करना है।' जनता का पूर्ण नेतृत्व करता हुआ भी अपने को नम्रतापूर्वक एक सैनिकमात्र मानता है। सब कुछ प्राप्त करके भी वह भर्तृहरि को ही सौंपना चाहता है, यह उसके हृदय की विशालता है।

भर्तृहरि विक्रम का भाई है। यह कवि है और अपनी कविता का उपयोग देश की सोई शक्ति को जगाने के लिए करता है। यह निर्भीक और स्वतन्त्र बुद्धि का व्यक्ति है। अपनी इच्छा से सब जगह स्वतन्त्र होकर विचरता है, सरस्वती और वेताल से कहता है :—'जो कायर और मूर्ख नहीं है, जो स्वार्थी और विलासी नहीं है, जिसकी आत्मा मर नहीं गई है, जिसने साहस और आत्म-विश्वास को गँवा नहीं दिया है, जो पराधीनता की पीड़ा को समझता है, वह शकों के निर्मम राज्य में बसकर अपनी इच्छा का स्वामी है।' पराधीनता को यह मनुष्य के लिये सबसे बड़ा संकट मानता है। ग़ुलामी की जंजीरों को काटने के लिए नीति से काम लेना जानता है। जनता के दिल और दिमाग़ का इसने अच्छा अध्ययन किया है, यह जानता है कि जनता अलौकिक चमत्कारों के पीछे पागल होकर व्यक्ति का साथ दे सकती है। विक्रम को भी यही बात समझाता है। यह सर्वथा निस्पृह और शान्तिप्रिय है :—'नहीं बन्धु, भर्तृहरि अपने मस्तक पर राजमुकुट धारण करने के लिए अपने देश-वासियों का रक्त नहीं प्रवाहित करना चाहता। मेरी एकमात्र कामना यह है कि

मेरा देश विदेशियों की अधीनता से मुक्त हो। मुझे काव्य-रचना में जो आनन्द मिलता है वह स्वर्ग-सिंहासन पर बैठने से भी नहीं मिल सकता। तुम मेरे मन में राजसत्ता की भूख जगाने में सफल न हो सकोगे बन्धु !'

भर्तृहरि दृढ़ है, परन्तु कठोर नहीं, पापी के सुधार की भी राह है, ऐसा इसका विचार है; आचार्य कालक के सम्बन्ध में कहता है :—'मानव स्वभाव के अनुसार महान् व्यक्तियों से भी कभी-कभी प्रमाद हो जाता है, किन्तु यदि एक बार पतित होने पर किसी व्यक्ति को उठाने का अवसर प्रदान न किया जाए तो मनुष्य रसातल की ओर ही बढ़ता रहे। समाज तो गंगाजल की भाँति पवित्र है, वह अपनी करुणाधारा से पापियों को भी पवित्र बना देता है।'

सरस्वती राजा की वासना का शिकार एक सताई हुई महिला है ; प्रतिशोध और प्रतिहिंसा की ज्वाला इसके हृदय में भभक रही है किन्तु इसका चरित्र इतना गम्भीर और आदर्श है कि वह निजी स्वार्थ को प्राथमिकता न देकर देश को ही सर्वोपरि मानती है। देश की रक्षा के लिए लड़नेवाले राजा गर्दभिल्लदर्पण की प्रशंसा मुक्तकंठ से करती है :—'राजा गर्दभिल्लदर्पण स्वाभिमानी, साहसी और वीर पुरुष थे—एक चतुर सेनापति भी, उनकी सेना रणकौशल में निपुण और अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित थी। वह शकों के दाँत खट्टे करते रहे।' यह अपने भाई आचार्य कालक को भी फटकारती है ; यद्यपि इसका भाई इसीके लिए राजा से बदला लेने के प्रयत्न कर रहा था। विशाल दृष्टिकोण उसके सामने रखकर उसे भी अपने पक्ष में कर लेती है :—'तो भैया क्या तुम नहीं सोच पाए कि केवल सरस्वती ही तुम्हारी बहन नहीं है ? भारत की प्रत्येक नारी—और भारत की ही क्यों विश्वभर की नारियाँ तुम्हारी बहनें हैं।'

आचार्य कालक धुन का पक्का, बहन के सम्मान की रक्षा करनेवाला और जनता पर प्रभाव डालकर उसका संगठन करनेवाला सबल व्यक्ति है। आरम्भ में यह निजी स्वार्थ को लेकर देशद्रोही के रूप में हमारे सामने आता है। किन्तु सरस्वती की प्रेरणा से देशभक्त भी बन जाता है। निर्भयता आचार्य कालक की सबसे बड़ी विशेषता है। गर्दभिल्लदर्पण को भी खरी-खोटी सुनाता है ; उसके राज्यानुशासन की तनिक भी चिंता नहीं करता। शकक्षत्रप नहपाण के समक्ष भी निर्भीकता से कहता है :—'......किन्तु देखता हूँ कि मैंने हिंसक सिंहों को हिरन बनाने का यत्न किया। ज़हरी साँपों को दूध पिलाया।' बालक को मिथ्या भाषण का भी अभ्यास नहीं है। आत्म-ग्लानि ही इसका उत्थान करती है।

उषवदात एक वीर योद्धा है ; साथ ही राजनीति-कुशल व्यक्ति भी है। जल्दबाजी से कोई पग नहीं उठाता, सोच-विचारकर दूरदर्शिता से काम लेता है।

मित्र को पहचानता है और शत्रु को भी मित्र बनाना जानता है। बुद्धि में यह बड़े-बड़ों के कान काटता है।

'साँपों की सृष्टि' में मुख्य पात्र छः ही हैं। सुलतान अलाउद्दीन खिलजी, मलिक नायब काफ़ूर, ख़िजरखाँ, माहरू, कमलावती और देवल सभी पात्रों का अपना अलग व्यक्तित्व है। अलाउद्दीन एक वीर योद्धा, विजेता और क्रूरकर्मा है तो प्रेमी हृदय वाला भी है, किन्तु उसकी क्रूरता प्रेम को असफल रखती है। उसका गृहस्थ जीवन बड़ा ही दयनीय और असफल है। न तो वह अपनी पहली बेगमों से ही सुख पा सका और न ही माहरू और कमलावती से। माहरू और कमलावती तो एक प्रकार से उससे प्रतिशोध ही लेती रहीं। असल में अलाउद्दीन के हृदय में प्रेम की भावना नहीं थी, लालसा का उद्वेग था। माहरू कहती भी है :—"जब यह सुलतान हो गये तो इनकी लालसाओं ने पंख फैलाए। इनके हाथों में शक्ति आई। जिस नारी पर इनकी नजर पड़ती उसे प्राप्त करके ही मानते।'

कमलावती वीरांगना, इरादे की दृढ़, कूटनीतिज्ञ और प्रतिशोध की ज्वाला से पूर्ण है। अपनी संस्कृति की रक्षा की भावना शाही हरम में भी लिये हुए है। देवल और काफ़ूर से कमलावती ने जो कुछ कहा उसमें इसका कूटनीतिज्ञ और प्रबल प्रतिशोध लेनेवाली का चरित्र बोल रहा है। देवल से कहती है :—'काले नाग को दूध पिलाऊँगी। मैं नेवले और साँप की लड़ाई देखूँगी। दिल्ली के तख्त के लिए जो तांडव नृत्य होनेवाला है—उसमें भी एक वाद्य वजाऊँगी। वह वाद्य जिसकी ताल पर सब नाचेंगे ?' काफ़ूर से कहती है—'ज़हरीले साँप को मार डालने में कोई पाप नहीं है। जिसका अस्तित्त्व ही विश्वासघात और हिंसा के आधार पर स्थापित है, उससे विश्वासघात करना मनुष्यता की सेवा करना है।'

काफ़ूर क्रूरकर्मा, शाह का विश्वासपात्र किन्तु बड़े ही गूढ़ चरित्र का व्यक्ति है। प्रतिशोध, हिंसा, षड्यंत्र, कूटनीति ही इसका जीवन है। दया करना तो यह किसी पर जानता ही नहीं। अपने उपकारी अलाउद्दीन पर भी इसने दया नहीं की। उसके सभी वालकों की आँखें निकलवालीं।

खिजर और देवल कलाप्रेमी हैं, अतः भावुक हृदय और मानवतावादी। देवल ख़िजर को सच्चे दिल से प्यार करती है, वह भी इसे चाहता है। देवल की निगाह में ख़िजर राक्षसों की नगरी में अकेला देवता है और खिजर उसे किसी भी मूल्य पर अपने से दूर नहीं होने देता। ख़िजर पुण्य की जीवित प्रतिमा है, उसकी आँखों में मनुष्यता का प्यार है। इन दोनों के सच्चे प्रेम के द्वारा ही माहरू और कमलावती के सम्बन्ध भी फिर से अच्छे बनते हैं।

प्रेमीजी के चरित्र-चित्रण की भारी विशेषता यह है कि उनके ऐतिहासिक पात्र अपने ऐतिहासिक व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हुए भी वर्तमान जीवन का प्रतिनिधित्व

करते हैं। श्री 'नलिन' के अनुसार ऐतिहासिक नाटकों के चरित्रों में रंग भरते हुए 'प्रेमी'जी ने भारतीय रस-सिद्धान्त का बहुत ध्यान रखा है। साधारणीकरण के अनुसार ही अधिकतर चरित्रों का निर्माण किया है। यद्यपि जीवन के उत्थान-पतन, मानस का द्वन्द्व और भावसंघर्ष भी समान और उचित अनुपात में मिलता है।

सामाजिक नाटकों के पात्रों के चरित्र-निर्माण में व्यक्ति-वैचित्र्य के प्रति आग्रह है। 'बन्धन' में प्रकाश का चरित्र, उदाहरण के लिए लिया जा सकता है। वह शरारती है, शिकारी है, किन्तु उसके हृदय में मानवता का सागर उमड़ता हुआ दिखाई देता है। लक्ष्मण को दस रुपये दे जाता है, उसे अपने बाप की तिजोरी की चाबी दे देता है, जिससे कि वह वहाँ से रुपया चुरा सके। लक्ष्मण जब पिस्तौल चलाकर भागता है और रायबहादुर घायल होकर गिरता है तब भी वह सारा अपराध अपने ऊपर ले लेता है। प्रकाश का चरित्र विस्मयजनक उलझन और अभूतपूर्व विलक्षणता से ओत-प्रोत है। इसका मनोवैज्ञानिक चित्रण सबसे अलग और कौतूहलजनक है। अधिकतर लोग अनेक कष्टों, अपराधों या असफलताओं को भूलने के लिए शराब पीना आरम्भ कर देते हैं, परन्तु प्रकाश मानवता भूलने के लिग शराब पीता है। यदि वह मानवता को जागृत रखता है तो अपने पिता के शोषण का उसे विरोध करना पड़ता है। होश में रहकर विरोध नहीं करता तो मानवता से गिरता है। विरोध करता है तो पिता के मार्ग में काँटा बनता है। इस प्रकार वह अपने चरित्र का आप ही प्रतिनिधि है। किसी वर्ग का प्रतिनिधि नहीं। प्रेमीजी ने इसके माध्यम से व्यंग्यात्मक शैली अपनाकर नाटक को भी प्रभावोत्पादक और विचारोत्तेजक बनाया है।

मालती, मोहन और सरला आदर्शवादी पात्र हैं। मोहन और सरला गाँधीवादी दृष्टिकोण रखते हैं। प्रेम द्वारा हृदय-परिवर्तन ही इनके जीवन का लक्ष्य है। सरला का चरित्र आदि से अन्त तक गाँधीवादी आदर्श से जकड़ा हुआ है। मोहन और प्रकाश ने पूँजीवाद के विरुद्ध लड़े, मजदूरों की सहायता कर मानवता का परिचय दिया; परन्तु सरला को उनका मार्ग पसन्द नहीं। हिंसात्मक क्रान्ति वह नहीं चाहती थी। अहिंसा का समर्थन करती है। सरला के द्वारा वास्तव में लेखक ने हिंसा पर अहिंसा की विजय दिखाई है।

'छाया' के चरित्रों को भी प्रेमीजी ने आदर्शवादी ही रखा है; यद्यपि रजनीकान्त और माया के चरित्रों को पर्याप्त मात्रा में यथार्थवादी बनाने की चेष्टा की गई है। माया सब कुछ करके भी प्रकाश की सहायता कर आदर्शवाद के शिखर पर आ बैठती है। रजनीकान्त में व्यक्ति-वैचित्र्यवाद की झलक है, किन्तु वह भी शंकर को उपदेश करता हुआ आदर्शवादी भावनाओं से जकड़ जाता है। यथार्थ जीवन जीता

हुआ भी माया और ज्योत्स्ना का भाई बना रहता है। छाया एक गौरवशालिनी आस्थावान् पत्नी है ही। एक आदर्श भारतीय पतिव्रता नारी की भाँति यह अपने पति की दुर्बलताओं का भी समादर करती है।

प्रेमीजी के सामाजिक नाटकों में क्रमशः यथार्थवाद की ओर पगनिक्षेप दिखाई देता है। 'बन्धन' में थोड़ा यथार्थवादी चित्रण है, 'छाया' में यथार्थवादी नींव मज़बूती के साथ रखी गई है। 'ममता' में यथार्थवाद उभरकर आया है। रजनीकान्त, विनोद, लता, कला और यशपाल के चरित्र किसी विशेष आदर्श के प्रति आग्रहशील नहीं दिखाई देते। कला के प्रति आसक्त होते हुए भी लता से विवश होकर विवाह कर लेने में आदर्शवाद की झलक भले ही आ गई हो, किन्तु यह विवाह किसी महान् आदर्श से प्रभावित होकर नहीं किया गया। लता और कला के चरित्रों में स्त्री-सुलभ स्वाभाविक ईर्ष्या रखी गई है। विनोद आरम्भ से अन्त तक चालाक और मक्कार है। यशपाल के चरित्र में कोई विशेषता नहीं दिखाई देती। यदि यह किसी प्रकार का आक्षेप न माना जाय तो कहा जा सकता है कि प्रेमीजी सामाजिक नाटकों में चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उतने सफल नहीं हैं जितने ऐतिहासिक नाटकों में। सामाजिक नाटकों में, विशेषकर चरित्र-प्रधान नाटकों में जिस अन्तर्द्वन्द्व के उभरने की अपेक्षा होती है, वह नहीं है। इसका कारण शायद यह हो कि इन सामाजिक नाटकों में भी प्रेमीजी घटनाओं के प्रति आग्रहशील रहे हैं। 'ममता' नाटक तो एक प्रकार से है ही घटना-प्रधान। विनोद को छोड़कर अन्य पात्रों का चरित्र विशेष उभरकर सामने नहीं आया।

अन्त में एक बात और। प्रेमीजी के नाटकों में विभिन्न प्रकार के पात्रों का समावेश हुआ है। उनके नाटकों में शैशव से वृद्धावस्था तक के विभिन्न आयु के पुरुष तथा नारीपात्रों एवं विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करनेवाले चरित्रों का उपस्थापन हुआ है। प्रेमीजी के नाटकों में उपलब्ध होनेवाले पुरुष-पात्रों को विविध वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। जैसे:—

१. राजनीतिक कुचक्रों के संघर्षशील स्वरूप से विरक्त होकर जीवन में माधुर्य का संचार करने के आकांक्षी राज-पुरुष:—दारा, मेवाड़ के महाराणा।

२. राजनीतिक षड्यंत्रों की योजना करने अथवा उनमें भाग लेनेवाले राज-पुरुष तथा इसी प्रकार के अन्य राजकीय व्यक्ति:—'शपथ' में धन्यविष्णु और 'विषपान' में अजीतसिंह और जवानदास।

३. देश-रक्षा के लिए सन्नद्ध एवं शस्त्र-संचालन में कुशल उत्साही वीर युवक:—'शपथ' में विष्णुवर्धन, वत्सभट्ट, जयदेव, धर्मदास।

४. प्रेम की मधुर कल्पनाओं में लीन अथवा प्रेम की सजीव प्रतिकृति लगनेवाले युवक पात्र:—'शपथ' में विष्णुवर्धन और सुहासिनी।

५. समाज के आर्थिक वैषम्य से पीड़ित मानवतावादी श्रमिकवर्ग का प्रतिनिधित्व करनेवाले व्यक्तिः—'बन्धन' के पात्र ।

नारी-पात्रों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता हैः—

१. राज-नियन्त्रण से त्रस्त होकर राजकीय जीवन से विरत होने की इच्छा रखनेवाली राजमहलों की नारियांः—'विषपान' की कृष्णा ।

२. राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेनेवालीः—जहाँनारा; सुहासिनी, मन्दाकिनी, उमा, सरस्वती, ज़ेबुन्निसा आदि ।

३. प्रेम की अनुभूति में लीन :—सुहासिनी, मन्दाकिनी ।

४. ललितकलाओं की प्रेमिकाएँः—स्वप्नभंग की बालिका, विषपान की कृष्णा ।

उल्लेखनीय बात यही है कि उनके पात्र विशिष्ट गुणों से सम्पन्न होने पर भी अतिमानवीयता से युक्त नहीं होने पाये हैं ।*

३. कथोपकथन :—नाटक का अन्तर्दर्शन पात्रों की बातचीत से ही हो सकता है । कथावस्तु की व्याख्या भली प्रकार कथोपकथनों के आधार पर ही की जा सकती है । पात्रों के चरित्र की पहचान के लिए उनके सम्वादों से बढ़कर दूसरा सुलभ साधन और नहीं है । कथानक का विकास और पात्रों के चरित्र का निदर्शन कथोपकथनों द्वारा ही होता है । इस दृष्टि से आवश्यकता इस बात की है कि नाटक के उद्देश्य और वृत्ति के अनुकूल उनमें भाव और भाषा की संगति बनी रहे । कथोपकथनों की भाषा भावानुकूल हो । प्राचीन आचार्यों ने कथोपकथन के तीन भेद दिये हैं—नियतश्राव्य, सर्वश्राव्य और अश्राव्य या स्वगतकथन । प्रेमीजी के कथोपकथन जहाँ भावानुकूल भाषा से युक्त हैं, वहाँ उन्होंने कथोपकथन की उक्त तीनों प्रणालियों का यथावसर उपयोग किया है । वर्तमान नाटककारों में स्वगतकथन की प्रवृत्ति कम होती जाती है, स्वयं प्रेमीजी इस सम्बन्ध में कहते हैंः—'इस नाटक में स्वगत एवं एकान्त-भाषण सर्वथा नहीं है । स्वगत-भाषण तो अस्वाभाविक हैं ही और एकान्त-भाषण कहीं स्वाभाविक हो सकता है—जैसे किसी पागल के चरित्र में—किन्तु अधिकांश में अस्वाभाविक ही होता है । एकान्त-भाषण में पात्र के मस्तिष्क में चलनेवाला विचार-संघर्ष ही प्रकट होता है । किन्तु क्या स्वाभाविक जीवन में कोई इस प्रकार सोचने की क्रिया करता है कि वह चिल्लाकर बड़बड़ाने लगे ?' (कीर्ति-स्तम्भ) बाद के कुछ नाटकों में एकान्तकथन के प्रति आग्रह कम हैं, किन्तु जहाँ भी पात्र के मस्तिष्क में चलनेवाले विचार-संघर्ष की अभिव्यक्ति का अवसर आया है, वहाँ एकान्तकथन हैं ही ।

---

*सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ; पृष्ठ ७५९-७६०.

सच तो यह है कि एकांतकथन रखते हुए भी उनमें भद्दापन प्रेमीजी ने नहीं आने दिया। धीरे-धीरे एकांतकथन कम करते जाने में ही उनकी कला का विकास हुआ है। 'स्वप्न-भंग' नाटक को छोड़कर प्रायः सभी नाटकों में एकांतकथन का सन्तुलन है। इस नाटक में एकांतकथनों की अच्छी-खासी भीड़ लगी है। भावोच्छ्वास से पूर्ण होने के कारण शायद ऐसा हुआ है। आवेश या उत्तेजना की अवस्था में ताज, बादल, तारे या चाँद को देखकर एकांतकथन चल पड़ते है। औरंगज़ेब, दारा, शाहजहाँ, रोशनआरा, जहाँआरा, प्रकाश, मालिन, सैनिक सभी कोई एकांत-भाषण में व्यस्त दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे नाटकों में यह त्रुटि नहीं है। 'उद्धार', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'कीर्ति-स्तम्भ', 'शपथ', 'संरक्षक', 'संवत्-प्रवर्त्तन, 'ममता' आदि इस त्रुटि से सर्वथा दूर हैं। 'शिवासाधना', 'छाया' और 'रक्षा-बन्धन' में एकांतकथन उपयुक्त और यथास्थान आये हैं।

पात्रों के चरित्र की विशिष्टता के समय विशेषकर एकांतकथनों का प्रयोग हुआ है। षड्यंत्र के लिए उद्यत, प्रतिशोध की ज्वाला से प्रज्वलित, युद्ध की विभीषिका से तंग, प्रेम की व्यथा से पीड़ित, कर्त्तव्यपथ पर चलने के लिए मूक बलिदान की इच्छा रखने आदि के अवसरों तथा अतृप्त भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए एकांत-कथनों का प्रयोग किया गया है। 'शिवा-साधना' और 'प्रतिशोध' में इस प्रकार के कथोपकथन उपलब्ध होते हैं। रोशनआरा, ज़ेबुन्निसा, औरंगज़ेब, आदि के एकांत-कथन इसके लिए देखे जा सकते हैं।

जैसाकि पहले कह आये हैं, सफल संभाषण वही हैं जो कथानक को अग्रसर करें या चरित्र पर प्रभाव डालें। प्रेमीजी के नाटकों के पहले ही दृश्य में प्रायः ऐसे कथोपकथनों का प्रयोग किया गया है जो संघर्षण या अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति कर कथा की ओर संकेत करते हैं। 'रक्षाबन्धन' में धनदास, महाराणा और यवनों के परम्परित युद्ध का संकेत करता है। इस प्रकार आनेवाले युद्ध की संभावना आरम्भ से ही दिखाई देने लगती है। आगे चलकर महाराणा के विलासी चरित्र और विक्रमसिंह, भीलराज तथा बाघसिंह के वीर चरित्रों के संभाषण इस संघर्ष को और भी सघन बना देते हैं। इनसे कथानक में संघर्ष दिखाने के साथ-साथ पात्रों के चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है।

'शिवा-साधना' के प्रथम दृश्य में शिवाजी, तानाजी, बाजी और येसाजी के सम्वाद भावी क्रान्ति की ओर तो इंगित करते ही हैं, साथ ही शिवाजी के चरित्र की महानता के द्योतक भी हैं:—'मेरी साधना का स्वरूप यही है, जिसका चित्र तुम्हारे अन्तर का असन्तोष रात-दिन तुम्हारी आँखों के सामने खींचता रहता है—मेरे शेष जीवन की एकमात्र साधना होगी भारतवर्ष को स्वतंत्र करना, दरिद्रता की जड़ खोदना, ऊँच-नीच की भावना और धार्मिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार की क्रांति करना।'

'प्रतिशोध' नाटक में प्राणनाथ प्रभु का कथन—'आह ! वह दिन कब आयेगा जब प्यारा देश स्वतंत्र हो सकेगा।' और लाल कुँवरि को अपने पति की सूचना इन शब्दों में देना—'शत्रु ने उन्हें घेर रखा है, इसलिए वे फूलों के स्थान पर नर-मुंडों की माला माँ के चरणों पर चढ़ा रहे हैं।' इस प्रकार के वार्तालाप नाटक के संघर्ष को तो व्यक्त करते ही हैं, साथ ही प्राणनाथ प्रभु के स्वतंत्रता-प्रेमी चरित्र और लाल कुँवरि के वीर और साहसी चरित्र पर भी प्रकाश डालते हैं।

'आहुति' में जो संघर्ष, शरणागतवत्सलता और कूटनीति है, उसके दर्शन भी आरम्भ से ही होने लगते हैं। अलाउद्दीन का एकान्तकथन भावी घटनाओं की ओर तो संकेत करता ही है, साथ ही अलाउद्दीन के चरित्र पर भी प्रकाश डालता है:—'बहादुर मीर महिमा ! तुम्हें ज़िन्दा छोड़कर मैंने तुम पर दया नहीं की। राजपूती घमंड में कोई-न-कोई राजा तुम्हें जगह देगा और मुझे उसका मुल्क अपनी हुकूमत में शामिल करने का मौक़ा मिलेगा। एक तीर से दो निशाने मारे हैं। दिल्ली के अमीरों में महिमा की इज़्ज़त और रोष बहुत बढ़ गया था। न जाने किस दिन ये मिलकर मेरे ही खिलाफ़ उठ खड़े होते। चलो, एक काँटा तो साफ़ हुआ।' प्रायः सभी नाटकों में इसी प्रकार सावधानी बरती गई हैं।

प्रेमीजी के कथोपकथनों की एक और विशेषता है; युद्ध, करुणा आदि के प्रसंगों की सूचना भी वे किसी पात्र के कथोपकथनों द्वारा दिलाते हैं; इससे इन प्रसंगों की भयावहता और सांघातिकता कम हो जाती है। 'विषपान' की कृष्णा के वैधव्यपूर्ण जीवन की सांघातिकता को आरम्भ में कम करने की चेष्टा की गई है। कृष्णा के वार्तालाप भावी सूचना की अशुभता के लिए पहले ही पाठक या दर्शक को सचेत कर देते हैं :—'सचमुच माँ, मेरा भी जी चाहता है कि कोयल बनकर उस आम की सबसे ऊँची फुनगी पर बैठकर मधुर गीतों से सारे उपवन को गुंजा दूँ। पक्षी बनकर ऊपर नीले आकाश में उड़ती ही चली जाऊँ। सागर की लहर बनकर नाचूँ। सूर्य की किरण बनकर फूलों का मुँह चूमूँ। मैं सर्वथा स्वतन्त्र और स्वच्छन्द रहना चाहती हूँ।'

'स्वप्न-भंग' में दारा की दयनीय दशा और उसके करुण अन्त के शब्द-चित्र को प्रकाश, वीणा और जहाँनारा के कथोपकथनों द्वारा बड़ी कुशलता से अंकित किया गया है। मृत्यु की सूचना जहाँनारा के कथोपकथन द्वारा दिलाई है। नादिरा की मृत्यु का समाचार प्रकाश द्वारा मिलता है। 'साँपों की सृष्टि' में तो सभी क्रूर-कर्मों की चर्चा पात्रों के सम्वादों द्वारा होती है।

पात्रों के कथोपकथनों के माध्यम से प्रेमीजी ने अपनी विचारधारा को भी अभिव्यक्ति दी है। साहित्य में लेखक का व्यक्तित्व, उसके विचार प्रतिध्वनित हुआ ही करते हैं। महात्मा गाँधी की मृत्यु से देश विचलित हो उठा था, सुधी विचारकों

ने गांधीजी के बलिदान पर अपने विचार व्यक्त किये थे। प्रेमीजी ने 'स्वप्न-भंग' में गाँधीजी के बलिदान के प्रति दारा की मृत्यु पर प्रकाश से जो कहलवाया है, वह स्वयं उनकी अपनी वाणी कही जा सकती है :—'आज एक महान् स्वप्न भंग हो गया। क्या राष्ट्रीय एकता के लिए एक महात्मा का बलिदान व्यर्थ जायगा ?··· क्या भारत की भावी पीढ़ियाँ इस महान् बलिदान को भूल जायँगी·····हिन्दुस्तान ! क्या तू इस आवाज़ को सुनेगा ? सुनकर कुछ करेगा ?'

कला और साहित्य के सम्बन्ध में प्रेमीजी ने अपने विचार पात्रों के सम्वादों के माध्यम से व्यक्त किये हैं। 'उद्धार' की मालती कहती है:—'कला अपने आपमें निर्दोष है, इसे जिस प्रकार के हृदय-प्याले में रखोगे, वैसे ही यह दिखाई देगी।' प्रेमीजी की ज़ेबुनिन्सा कहती है:—'मनुष्य अपनी खुशी और अपनी व्यथा व्यक्त किए बिना नहीं रह सकता। यही अपनी भावनाओं को व्यक्त करना तो कला है। 'शपथ' में कला के सम्बन्ध में कंचनी और वत्स के विचार प्रेमीजी के ही विचार हैं। वत्स कहता है: —'साहित्य और कला ही अमृतफल है। साहित्य-सृष्टा और कलाकार मरता नहीं। काल भी उसे मार नहीं सकता।' साहित्य की सोद्देश्यता पर प्रकाश डालता हुआ 'वत्स' कहता है—'···मैंने सोचा है कि स्वाधीनता-प्रेम, देशभक्ति और वीरत्व की भावनाओं से ओत-प्रोत नाटकों के अभिनय द्वारा जन-मन के यौवन को जाग्रत किया जाय।' और यही कारण है कि प्रेमीजी के नाटकों के कथोपकथन उद्देश्यपूर्ण हैं। नाटकों के उद्देश्य की चर्चा आगे की जायेगी। कथोपकथनों में जो नाटकीयता होनी चाहिए, उसकी चर्चा अभिनेयता के प्रसंग में की जा चुकी है।

४. **देशकाल** :— पात्रों के व्यक्तित्व में स्पष्टता तथा वास्तविकता लाने के लिए, पात्रों के चारों ओर की परिस्थितियों, वातावरण तथा देशकालिक विधान के वर्णन की विशेष आवश्यकता पड़ती है। नाटक में देशकाल की समस्या पर विचार करते हुए ग्रीक आचार्यों ने स्थल, कार्य और काल की एकता पर जोर दिया था। किन्तु, संकलनत्रय की प्राचीन व्याख्या को मान्यता नहीं दी जाती। काल-संकलन से आज यही अर्थ लिया जाता है कि चाहे घटनाओं के घटित होने में कितना ही समय क्यों न लगता हो, उसको रंगमंच पर घटित होते हुए इस प्रकार प्रदर्शित किया जाय कि दैनिक घटनाओं के बीच में जो समय व्यतीत हो उस पर दर्शक का ध्यान न जाय। कार्य की एकता का अर्थ है कथावस्तु की अविच्छिन्नता तथा एकरसता। घटनाओं का पूर्वापर रूप इस भाँति स्थिर किया जाना चाहिए कि बीच की साधारण बातों पर लोगों का ध्यान ही न जाय और साथ ही कथानक की सम्पूर्णता भी नष्ट न हो।

असल में देशकाल की अन्विति का अर्थ है कि नाटकों में जो दृश्य दिखलाये जा रहे हैं उनमें 'यथार्थ' पात्र के जीवन-व्यापार का सामंजस्य, स्थान और समय के विचार से अघटनीय-सा न लगे। तीन-चार घंटे के अभिनय में विभिन्न स्थलों में घटित वर्षों की घटनाओं को इस कलात्मक रूप से प्रत्यक्ष करना कि दर्शक को मालूम होता रहे कि हम उतने ही दिनों की घटना को प्रत्यक्ष देख रहे हैं, देशकाल की अन्विति कहलाता है। इसलिए कई अंकों में प्रमुख घटनाओं को दिखाकर यवनिका गिरा दी जाती है, जिससे काल के अध्यवसान के साथ-साथ तत्कालीन घटनाओं का भी संक्षिप्त बोध हो जाता है। वास्तव में देशकाल के संकलन का अनुभव लेखक इतना नहीं करता जितना कि दर्शक अपने सामान्य ज्ञान द्वारा कर लेते हैं। प्रेमीजी अपने नाटकों में जो दृश्यपरिवर्तन और अंकों का विभाजन रखते हैं, उससे देशकाल का संरक्षण स्वतः हो जाता है। दृश्य-विधान भी उनका इतना परस्पर सम्बद्ध है कि स्थल की एकता बनी रहती है। कथा की शृंखला तो प्रेमीजी कहीं टूटने नहीं देते।

जहाँ तक देशकाल का सम्बन्ध तत्कालीन परिस्थितियों से है, प्रेमीजी को इसमें भी सफलता प्राप्त हुई है। प्रेमीजी के नाटक प्रायः ऐतिहासिक हैं, और उन्होंने इतिहास के वातावरण की पूर्ण रक्षा करने का प्रयत्न किया है। राजपूत जाति विलासप्रिय, रूढ़ि की उपासक, आन की पक्की और अदूरदर्शी रही है। प्रेमीजी के नाटकों में यह राजपूती वातावरण भली प्रकार अभिव्यक्त हुआ है। परस्पर की कलह, ईर्ष्या-द्वेष, ऊँच-नीच का भेद-भाव आदि दुष्प्रवृत्तियाँ इतिहास की भाँति ही चित्रित की गई हैं।

"प्रेमीजी ने अपने नाटकों की कथावस्तु में सम्बन्धित ऐतिहासिक युग की राजनीतिक स्थिति का चित्रण करने के अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक स्थिति का चित्रण करते हुए विविध सामाजिक कुरीतियों और दोषों की विवेचना कर अपने चिन्तन की गहनता का भी उपयुक्त परिचय दिया है। उन्होंने अपने नाटकों में राजस्थान के तत्कालीन राजप्रासादों में नारी-जीवन की विवशताओं की ओर भी मार्मिक संकेत किये हैं। उस समय के राजाओं एवं समाजों की विलास-स्थिति चित्रण करना भी उन्हें अभीष्ट रहा है, किन्तु उनके नाटकों में इसकी अधिक व्याप्ति नहीं हुई है।"[१]

'रक्षाबन्धन' में तत्कालीन विलास को विक्रम के दरबार में नर्तकी के नृत्य द्वारा व्यक्त किया गया है। राजपूत त्यौहार मनाने में भी प्रवीण रहे हैं। रक्षा-बन्धन का त्यौहार नाटक में धार्मिक वातावरण को अंकित करता है। धनदास के द्वारा तत्कालीन अर्थ-लोलुपता की ओर भी संकेत किया गया है। तत्कालीन

१. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ७५७.

राजनैतिक क्षेत्र में साम्प्रदायिक वातावरण को समाप्त कर देने की जो भावना धीरे-धीरे उभरने लगी थी, उसकी ओर भी विक्रम के द्वारा हल्का-सा इशारा कर दिया है:--'हिन्दू और मुसलमान, ये दोनों ही नाम धोखा हैं, हमें अलग करनेवाली दीवारें हैं।' हुमायूँ तो एकता का प्रतीक ही है।

'प्रतिशोध' में आन्तरिक कलह और ईर्ष्या-द्वेष का वातावरण हीरादेवी के द्वारा व्यक्त किया गया है। 'आहुति' में राजपूतनियों के जौहर-व्रत की धार्मिक कट्टरता का जिसका राजनीति से सीधा सम्वन्ध है, चित्रण किया गया है। 'विषपान' राजपूतों की पारस्परिक कलह की कहानी है। नाटक में राजपूतों की प्रभुता की प्यास का चित्रण किया गया है। ऊँच-नीच के भेद-भाव को भी चित्रित किया गया है। 'उद्धार' में तत्कालीन लम्पटता और स्वार्थ का, आन-रक्षा के लिए त्याग और बलिदान का अच्छा चित्रण मिलता है। 'शपथ' में प्रेमीजी ने भाव और भाषा दोनों का आश्रय लेकर सांस्कृतिक वातावरण उत्पन्न करने की चेष्टा की है। हूणों के आतंक का, विष्णुवर्धन के शौर्य का सुन्दर चित्रण संघर्ष, वीरता और युद्ध के वातावरण को तीव्रता प्रदान करता है। कंचनी के सहयोग से जहाँ एक ओर राजनीति बदली दिखाई देती है वहाँ तत्कालीन विलासी राजाओं का चित्र भी सामने आ जाता है। कला और साहित्य देश के जागरण में हाथ-बँटाते थे, इसका भी पताच लता है।

'भग्न-प्राचीर' में तत्कालीन हिन्दू और मुसलमानों की मनोदशा का चित्रण है। दोनों जातियाँ परस्पर ईर्ष्या और घृणा से भरे हृदय लिये हुए थीं। नाटक से पता चलता है कि तत्कालीन देश का धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन बड़ा दयनीय और विकलांग था। जातिधर्म के नाम पर लड़ाइयाँ होती थीं। राष्ट्रीयता का अभाव था। स्त्रियाँ भी राजकाज में हाथबँटाती थीं। व्यापारी और किसानों की दशा अच्छी न थी, वे भयभीत थे।

'प्रकाश-स्तम्भ' से पता चलता है कि अत्याचारी शासन के विरुद्ध लोग सिर उठाने लगे थे और प्रजातन्त्र की भावनाएँ उभरने लगी थीं। बाप्पा रावल जन-जागरण का अग्रदूत है, जो कि नाटक का नायक है। महिलाओं में महत्त्वाकांक्षा और स्वाभिमान की भावना थी। धीरे-धीरे राष्ट्र-भावना उत्पन्न होने लगी थी और जाति-भेद की संकुचित सीमाओं को तोड़ने के प्रयत्न होने लगे थे।

'कीर्ति-स्तम्भ' में राजपूतों की आपस की फूट, तुच्छ स्वार्थ के लिये विरोधियों से मिल जाना, षड्यंत्रों से काम निकालना, देश का छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित होना, राजनीति में पुरोहितों से परामर्श, युद्ध में नारियों का सैनिक वेश में भाग लेना, स्वार्थान्धता आदि बातें तत्कालीन परिस्थितियों पर प्रभाव डालती हैं। युद्धों के कारण जीवन अस्थिर था, नारी-सम्मान था, समाज में ऊँच-नीच की

भावना थी, सेठ लोग राज्य-भक्त थे आदि सामाजिक दशा का पता भी इस नाटक से चलता है। भगवान् शिव और शक्ति के प्रति आस्था थी, जैसा कि प्रायः नाटकों में दिखाया गया है। आत्मा की अमरता, तीर्थस्थान आदि पर विश्वास तत्कालीन धार्मिक विचारधारा का पता देते हैं।

'संरक्षक' में देश का गृह-कलह, पारस्परिक संघर्ष, राजपूती आतंक का वातावरण प्रस्तुत किया गया है। नाटक से यह भी पता चलता है कि किस प्रकार अंग्रेजों ने उस समय भारतीय राज्यों में संरक्षक सेना रखने के लिए संधियाँ करने की नीति चालू कर रखी थी।

'विदा' में बताया गया है कि किस प्रकार औरंगज़ेब-कालीन भारत में धर्म और जाति के नाम पर नासमझ लोग पारस्परिक संघर्ष में जूझकर राष्ट्रीय एकता को खंडित करते थे। नाटक में बताया गया है कि औरंगज़ेब ने किस प्रकार राज-सत्ता को इस्लाम धर्म को फैलाने का साधन बनाया और हिन्दू-धर्म पर खुले आघात किये। छत्रपति शिवाजी और महाराणा राजसिंह ने उसका विरोध किया लेकिन उसने नहीं माना। सारा देश आतंकित हो उठा। नाटक से यह भी पता चलता है कि किस प्रकार औरंगज़ेब के सगे-सम्बन्धी भी इस बात को अनुभव करने लगे थे कि उसकी आक्रामक नीति के कारण भले ही मुगल साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार हो रहा है, लेकिन यह भीतर से खोखला होता जा रहा है। औरंगज़ेब के पुत्र अकबर और पुत्री ज़ेबुन्निसा ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया। दुर्गादास ने मिलकर अत्याचार के विरुद्ध आवाज़ उठाई।

'संवत्-प्रवर्तन' से पता चलता है कि किस प्रकार देश का विलासी वातावरण विद्रोहियों को अत्याचार के लिए प्रोत्साहन देता था। ऊँच-नीच की भावना ने देश को खंडित कर दिया था। राजा लोग कितने स्वेच्छाचारी और चरित्र के गिरे हुए थे, यह भी नाटक से पता चलता है। राजपुत्र होने पर भी दासी का पुत्र होने के कारण लड़का राज्याधिकारी नहीं होता था। नाटक में यह भी बताया गया है कि उस समय लोगों के मन में धर्म तथा जातिवाद के नाम पर सरलतापूर्वक क्रान्ति पैदा की जा सकती थी। धर्म के नाम पर वे संगठित हो सकते थे। जैन धर्म का बहुत प्रचार था। नारियों की स्थिति यद्यपि शोचनीय थी, किन्तु वे देशोद्धार में सहायक होती थीं। राष्ट्र-भावना उभरने लगी थी, जिसके फलस्वरूप राजा लोग अपने विलास का त्यागकर देश की रक्षा के लिए युद्धभूमि में उतर आते थे।

'साँपों की सृष्टि' में अलाउद्दीन खिलजी का पूरा युग मुखरित हुआ है। उसके काल की सम्पूर्ण क्रूरता, अग्निकांड, हत्याएँ, नृशंसताएँ, निरंकुशताएँ, षड्यंत्र प्रतिफलित हुए हैं अलाउद्दीन खिलजी के अन्तिम दिनों को बड़ी ही कुशलता से चित्रित किया गया है। उसका गृहस्थ दुःखी जीवन, चारों ओर प्रताड़नाओं के

जाल बड़ी खूबी से दिखाये गये हैं। मलिक काफ़ूर के सारे प्रभावों को संक्षिप्त कलेवर में रखकर तत्कालीन स्वार्थपरता को व्यक्त किया गया है।

प्रसंगवश अलाउद्दीन के जीवन की सभी घटनाएँ, भारत की उस समय की राजनीतिक स्थिति, भारतीय समाज की वे दुर्बलताएँ, जिनके कारण विदेशी यहाँ सफलता पा सके और विदेशियों के द्वारा किये गये नृशंस अत्याचारों की झाँकियाँ कहीं-न-कहीं आ ही गई हैं।

ऐतिहासिक नाटकों की भाँति ही सामाजिक नाटकों में वातावरण की यथार्थता दी गई है। वर्तमानकालीन शोषण, आर्थिक दुरवस्था, नैतिक पतन आदि चारित्रिक त्रुटियों की ओर लेखक ने ध्यान दिया है। 'बन्धन', 'छाया' और 'ममता' के पढ़ने से आज का विषम वातावरण आँखों के आगे नाचने लगता है। आज अहिंसा और गांधीवादी दर्शन का हमारे विचारों पर अधिक प्रभाव है। 'बन्धन' में लेखक ने इसी का चित्रण किया है। 'बन्धन' सन् १९४१ में लिखा गया था; तब भारत स्वतंत्र नहीं हुआ था एवं महायुद्ध की ज्वाला में इसे जलना पड़ रहा था। 'बन्धन' के कथानक में जहाँ-तहाँ उस समय की राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति की झलक मिलती है। 'छाया' में पाश्चात्य कामविज्ञान की झाँकी दी गई है, जिससे वर्तमान भारतीय युवकों का मन-मस्तिष्क प्रभावित है। शंकर से रजनीकान्त ने उसके मन की दशा का वर्णन किया है। साहित्यिक जगत् में प्रकाशक और लेखक की जो समस्या बनी रही है, उसका भी अच्छा चित्रण हुआ है। आर्थिक विषमता और दुष्प्रवृत्तियों के शिकार परिवार किस प्रकार अपनी बहू-बेटियों को व्यभिचार के लिए विवश कर देते रहे हैं, आज की इस ज्वलन्त किन्तु दुःखद समस्या का चित्र भी प्रस्तुत किया गया है, 'ममता' में आज के जीवन में जो प्रेम, कर्त्तव्य और वासना का द्वन्द्व चल रहा है उसकी झाँकी दिखाई गई है। इस प्रकार प्रेमीजी देशकाल का संरक्षण निरन्तर करते रहे हैं।

हाँ, एक बात अवश्य देखी जाती है कि प्रेमीजी के नाटकों में राजनैतिक वातावरण जितने विस्तार से चित्रित है, धार्मिक उतने विस्तार से नहीं। सामाजिक वातावरण राजनैतिक वातावरण की छाया में ही चित्रित हुआ है। वास्तव में धार्मिक वातावरण जितना छिन्न-भिन्न और विशृंखलित था, उतना तो चित्रित किया ही गया है। प्रेमीजी ने जिस कालखंड की घटनाओं को नाटकों में लिखा है, उनमें इससे अधिक और कुछ था भी नहीं।

५. उद्देश्य:—नाटक के उद्देश्य से अभिप्रायः उसके परिणाम-संकेत से है। असल में नाटक का आरंभ ही दूसरों के सम्मुख किसी वस्तु या व्यापार के प्रभावकारी अनुकरण से हुआ है। एक ओर जहां नाटक का उद्देश्य समाज-जैसा है वैसा ही रखकर उसकी विशेषताओं से उत्पन्न प्रश्नों को हमारे सामने लाना है, वहाँ दूसरी

ओर प्रश्नों के उत्तर, शंकाओं के समाधान देना भी नाटक का उद्देश्य है। नाटक जीवन की व्याख्या है, इसलिए यह बताना भी कि जीवन कैसा है, नाटक का उद्देश्य है और यह बताना भी कि उसे कैसा होना चाहिए नाटक का उद्देश्य है। प्रेमीजी के नाटकों की रचना सोद्देश्य हुई है। 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त को मानकर चलना प्रेमीजी को श्रेयस्कर नहीं; वे कला को कला भी रहने देना चाहते हैं; अर्थात् कला के सत्यपक्ष को स्वीकार कर उसे शिवम् की ओर लेजाकर सुन्दरम् का रूप देना चाहते हैं। साहित्य को 'स्वान्तः सुखाय' न मानकर प्रेमीजी लोकहिताय मानते हैं। 'शतरंज के खिलाड़ी' नाटक की भूमिका में उन्होंने नाटकों के उद्देश्य के सम्बन्ध में बड़े महत्त्व की बातें कही हैं:—'साहित्यकार एकांगी हो जाय ऐसा तो मैं नहीं मानता। उसे प्रत्येक दिशा में अपनी प्रतिभा का प्रयोग करना चाहिए। मैं स्वयं कविता और नाटक दोनों ही क्षेत्रों में विविध दिशा में उड़ा हूँ। बहुत-सा साहित्य व्यक्ति अपने ही लिए लिखता है—या कह लो 'स्वांतः सुखाय' लिखता है, किन्तु वह 'स्वान्तः सुखाय' कुल 'संसार के सुख के लिए' बन जाता है, इसे साहित्य-स्रष्टा स्वयं नहीं जान पाता। केवल कारीगरी प्रदर्शित करके प्रशंसकों से प्रशंसा पाकर निहाल होने के लिए साहित्य-सृजन का युग आज नहीं है। साहित्य को इतना संकुचित और सीमित बनाना उसके पंखों को काट डालना है। कोई एक दिशा में बहुत ऊंचा उड़कर गया है—हमें उसकी भी प्रशंसा करनी चाहिए, किन्तु जो उस दिशा में जाते हैं जिस दिशा में जाने की युगों की माँग है, वे भी प्रशंसनीय हैं। हमें उनका भी अभिनन्दन करना चाहिए।'

प्रश्न यह उठता है कि प्रेमीजी के नाटकों का उद्देश्य क्या है? इसका उत्तर भी उन्होंने अपने नाटकों की भूमिकाओं में दिया है, जो इस प्रकार है:—

'......इतना बड़ा बलिदान लेकर भी हिन्दुस्तानियों ने अभी तक राष्ट्रीय एकता का महत्त्व नहीं समझा। इसलिए मुझे सांस्कृतिक और राष्ट्रीय एकता का राग बार-बार गाना पड़ रहा है।' (विषपान)

'मेरा देश स्वतंत्र हो गया; किन्तु देशवासियों ने अभी तक राष्ट्रीयता के महत्त्व को समझा नहीं; इसलिए राष्ट्रीयता की भावनाओं को उत्साहित करनेवाले साहित्य की आज आवश्यकता है।' (उद्धार)

'......भारत अति प्राचीन और अति विस्तृत देश है, जिसमें अनेक धर्मों के मानने वाले लोग रहते चले आये हैं और रह रहे हैं। धर्म और जाति के नाम पर नासमझ लोग पारस्परिक संघर्ष में जूझकर राष्ट्रीयता और एकता को खंडित करते रहे हैं; फलतः यह सुसंस्कृत, समृद्ध, प्रतिभावान् और शक्तिशाली देश अनेक बार पराधीन हुआ है। इस तथ्य को देश के शुभचिंतक देशवासियों के सम्मुख बार-बार लाते रहे हैं; ताकि भविष्य में इस प्रकार की भूलें हम न करें। अब हम स्वतंत्र हैं और हमें

इस बहुत बलिदानों के पश्चात् प्राप्त की हुई स्वतंत्रता की रक्षा करनी है। अपनी दुर्बलताओं को दूर करना है और देश को सुखी और समृद्ध बनाना है। यह तभी संभव है, जब हम एकता के सूत्र में बँधकर देश के उत्थान में जुट पड़ें। महात्मा गांधी ने देश की एकता की रक्षा रखने के लिए प्राण दे डाले। भारत सब वर्गों, जातियों और धर्मों का है। सबमें भाईचारा होना चाहिए, सबको समान सुविधाएँ और अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ, और सब राष्ट्रीयता की भावना से एक सूत्र में बँधे रहने चाहिएँ, यही गाँधीजी की कामना थी। मैंने अपने कुछ नाटकों के द्वारा उनकी इस कामना को सफल बनाने की दिशा में थोड़ा-सा योगदान दिया है।' (विदा)

प्रेमीजी के इन शब्दों से स्पष्ट है कि नाटकों का उद्देश्य राष्ट्रीय एकता है।

'प्रेमी'जी ने अपने नाटकों में दो भिन्न प्रतीत होती हुई हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों को संयुक्त करने की चेष्टा की। 'रक्षा-बन्धन', 'शिवा-साधना', 'प्रतिशोध', 'स्वप्नभंग', 'आहुति' आदि नाटकों से हमें उनका एक दृष्टिकोण यह भी दिखाई पड़ता है कि राष्ट्रीय एकता सांस्कृतिक एकता के बिना नहीं; और सांस्कृतिक एकता तब तक दृढ़ नहीं बन सकती जब तक हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के धर्म और संस्कृति का रहस्य उदार दृष्टि से समझने की चेष्टा नहीं करते। 'प्रेमी'जी ऐतिहासिक नाटकों द्वारा यह सिद्ध करना चाहते हैं कि मुस्लिम-काल में कई बार सांस्कृतिक एकता के प्रयास हुए किन्तु हर बार कट्टरता सफलता की बाधक बनती रही।'[1] अपने नाटकों की भूमिकाओं में ही नहीं कथानक के संगठन और पात्रों के कथोपकथनों द्वारा भी उन्होंने इसी उद्देश्य की घोषणा की है।

'रक्षाबन्धन' के अन्त में विक्रम और हुमायूँ का वार्तालाप साम्प्रदायिक एकता और पारस्परिक प्रेम की ओर संकेत करता है:—

'**हुमायूँ**— हिन्दुस्तानी ही नहीं, इन्सान हैं। हमें अब दुनिया की हर क़िस्म की तंगदिली के ख़िलाफ़ जिहाद करना चाहिए। हमारा काम भाई के गले पर छुरी चलाना नहीं, भाई को गले लगाना है; भाई को ही नहीं दुश्मन को भी गले लगाना है। दुनिया के हर एक इन्सान को अपने दिल की मुहब्बत के दरिया में डुबा लेना है। बहन कर्मवती ने इस दरिया के दो बड़े हिस्सों, हिन्दू और मुसलमानों को जिस मुहब्बत के धागे में बाँध दिया है, वह कभी न टूटे, मैं ख़ुदा से यही चाहता हूँ।

विक्रम— दोनों ही कौमें एक-दूसरे पर शासन करने की अभिलाषा छोड़कर प्रेम करना चाहें, आपकी तरह प्रेम करना चाहें, तो यह धागा कभी न टूटेगा।'

'शिवासाधना' के शिवाजी, दिलेरखाँ और रामदास का भी यही लक्ष्य था। 'स्वप्नभंग' के दारा का समस्त जीवन राष्ट्रीय एकता के लिए था। इसी एकता

१. डा० दशरथ ओझा; हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृष्ठ ४४५.

के लिए उसने प्राणों की बलि दी। प्रकाश कहता है:—'यहाँ न कोई हिन्दू है न मुसलमान—केवल उस 'एक'—उस खुदा—उस ब्रह्म का अलग-अलग घट में प्रतिबिम्ब है। हम छाया के लिए लड़ रहे हैं, और वास्तव को भूल रहे हैं। यही उस पूर्ण पुरुष दारा का संदेश है।'

'शतरंज के खिलाड़ी' के महबूब, रतनसिंह आदि पात्र भी देश को एक सूत्र में बाँधने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। रत्नसिंह कहता है:...'मनुष्य को अपनी पशुता दूर करने का अवसर मिलना चाहिए। भारत की विशृंखल वीरता एक सूत्र में बँध जावे तो कितनी अच्छी बात है। यहाँ युद्ध के नगाड़ों की जगह शांति और प्रेम की बाँसुरी बजनी चाहिए। भारत में चिरकाल से युद्ध की ज्वाला जल रही है। कला, व्यवसाय, साहित्य और समृद्धि का नाश हो रहा है। इसलिए हमें सम्पूर्ण देश को एक सूत्र में बाँधने का यत्न करना चाहिए।' यहाँ प्रेमीजी वर्तमान युद्धप्रिय देशों का भी मार्ग दर्शन कर गये हैं।

'विषपान' की कृष्णा ने एकता के लिए प्राणों की आहुति दी। 'उद्धार' की सुधीरा, सुजानसिंह भी यही लक्ष्य रखते हैं। सुधीरा की मनोकामना है कि उसका हमीर राजा और प्रजा का भेद-भाव मिटाकर मेवाड़ को गृह-कलह से बचाकर भारत की ढाल बन जाए। सुजानसिंह कहता है—'मेरा स्वप्न है जातियों की सीमाओं को तोड़कर मानवता का निर्माण, प्रांतीयता की दीवारों को गिराकर राष्ट्रीयता की स्थापना।'

'भग्न-प्राचीर' नाटक तो आदि से अन्त तक राष्ट्रीय एकता की भावना से ओत-प्रोत है। नाटक का नायक संग्रामसिंह देश की बिखरी शक्तियों को एकता के सूत्र में बाँधने का यत्न करता है। 'प्रकाश-स्तंभ' का हारीत भी समन्वयवादी वृत्ति का है। कहता है:—'उपाय है विभिन्न संस्कृतियों का समन्वय। यह आर्य है, यह द्रविड़ और यह यवन इस प्रकार सोचने की मनोवृत्ति हमें त्यागनी होगी। हमें किसी पर अपना धर्म, अपने व्यवहार, अपनी परम्पराएँ लादने की अभिलाषा छोड़नी होगी, हमें एक-दूसरे से सामाजिक सम्पर्क बढ़ाने होंगे, हमें विजयी और विजित की भावना को नष्ट कर समान बन्धु बनकर रहना होगा। जिस अन्तःकलह के दुष्परिणामों से देश खंडित हो जाया करता है, उसका विशद चित्र 'कीर्ति-स्तंभ' में खींच कर राष्ट्रीय एकता की प्रेरणा दी गई है। 'संरक्षक' में भी गृह-संघर्ष के ही दुष्परिणाम दिखाये गये हैं। 'विदा' के अवसर का लक्ष्य भी राष्ट्रीय एकता की भावना को प्रबल करना था, वह भी सम्मिलित भारत का निर्माण चाहता था:—'दुर्भाग्य है इस देश का जहाँ ऐसे लोग बहुत थोड़े हैं, जो व्यक्तिगत सत्ता और स्वार्थों से ऊपर उठकर अपने देश की सुख-समृद्धि के विषय में सोचते हों, ऐसा हिन्दुस्तान उनकी कल्पना के बाहर है, जो न हिन्दुओं का हो, न मुसलमानों का, न राजपूतों का, न मराठों का, न किसी अन्य

जाति का, वल्कि सम्मिलित रूप में सबका हो, जिस भारत में सबको समान अधिकार प्राप्त हों—शासन में समान आवाज़ हो।'

राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने के लिए प्रेमीजी ने नेताशाही के विरुद्ध प्रजातंत्र को श्रेष्ठ माना है। अकबर के उक्त विचार भी इसी के पोषक हैं। जब तक देश के एक भी व्यक्ति में कुशासन के प्रति असन्तोष है, तब तक देश की एकता का स्वप्न ही व्यर्थ है। 'शिवा-साधना' के शिवाजी भी निरंकुश शासक औरंगज़ेब का अन्त कर प्रजा का शासन स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे। वे जननायक थे। रामदास भी शिवाजी को यही उपदेश देते रहे। 'प्रकाशस्तंभ' का बाप्पा, 'शपथ' का विष्णुवर्धन, 'संवत्-प्रर्वतन' का विक्रम भी प्रजातंत्र के समर्थक हैं। 'संवत्-प्रवर्तन' का विक्रम कहता है—'असल में मैं निरंकुश राजतंत्र के ही विरुद्ध हूँ, जहाँ एक ही व्यक्ति के हाथों में सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रित हो जाती है।'

राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने के लिए प्रेमीजी देश-प्रेम को, देश-भक्ति को, देश के प्रति श्रद्धाभाव को सर्वोपरि और आवश्यक मानते हैं। उनके प्रायः सभी नाटकों में देश-भक्ति का स्वर सबसे ऊँचा है। 'प्रकाश-स्तंभ' के हारीत के जैसे विचार ही प्रत्येक देशवासी के हों, यही उद्देश्य लेकर प्रेमीजी के नाटकोंकी रचना हुई है। हारीत ने ज्वाला को समझाया था—'हमने देश के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना। हम अनुभव नहीं करते कि देश हमारी माँ है, हम उसकी गोद में खेले हैं; उसके अन्न-जल से हमारा शरीर बना है, जिस प्रकार हमारी जननी के शरीर का प्रत्येक अवयव अविभाज्य है, उसी प्रकार हमारे देश का भी। हम उसकी सूची के अग्रभाग जितनी भूमि पर भी किसी विदेशी को प्रभुत्त्व स्थापित नहीं करने देंगे। यही भावना हमें भारत के प्रत्येक धड़कनेवाले हृदय में भर देनी है। देश को माँ समझने की भावना ही वह आधार है, जिसका अवलम्ब लेकर भारत के सम्पूर्ण मानव-समाज को संगठन में बांधा जा सकता है।'

देश के नव-निर्माण का उद्देश्य लेकर भी प्रेमीजी के नाटक लिखे गये हैं। इसलिए प्रेमीजी ने बताया है कि हम रूढ़ियों का परित्याग करें, गरीब-अमीर की भावना को दूर करें, छुआछूत का भेद मिटावें, और जितने भी दुर्गुण हैं; उनको समाप्त कर डालें तभी देश का नव-निर्माण होगा।

'प्रकाश-स्तंभ' का बाप्पा और हारीत वास्तव में आज के भारत के लिए प्रकाश-स्तंभ का काम कर सकते हैं। बाप्पा रूढ़ियों का विरोध करता हुआ कहता है—

'समाज में वैषम्य को परिपुष्ट करनेवाली परम्पराएँ अति प्राचीन हैं, प्रथम तो यह धारणा ही भ्रम मात्र है; और यदि प्राचीन हों भी तो मानवता के सिद्धान्त के विरुद्ध, अस्वाभाविक और अन्यायपूर्ण परम्पराओं का अन्त करना मानव का कर्त्तव्य

है।' बिना किसी धर्म, जाति और वर्ण की रेखाएँ खींचे व्यक्तिमात्र को सुविधाएँ दी जायेंगी तभी देश समृद्ध होगा। हारीत कहता है—'प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह किसी धर्म का पालनकर्त्ता हो, राज्य में समान अधिकार और सुविधा प्राप्त होनी चाहिए तभी यह देश एकता के सूत्र में बँधकर महान् शक्ति बन सकेगा।'

छुआछूत की समस्या का अन्त करने की भावना लेकर हारीत कहता है:—'हमारा सम्पूर्ण समाज मानव शरीर की भाँति एक है, उसके प्रत्येक अंग को हमें पुष्ट रखना है। उनमें परस्पर प्रतिस्पर्धा, घृणा या वैर नहीं होना चाहिए बल्कि सहानुभूति होनी चाहिए।' बाप्पा भी स्पष्ट शब्दों में कहता है,—'याद रखो, पवित्रता, सच्चरित्रता और वीरता किसी जाति या वर्ण विशेष की धरोहर नहीं है। यदि अनुकूल शिक्षा और वातावरण में पोषित हों तो शूद्र में भी मानवता के वे ही उच्च गुण आ सकते हैं, जो ब्राह्मण की संतान में हो सकते हैं।'

सीमाओं और मर्यादाओं के नाम पर जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद पैदा हो हो गया है; प्रेमीजी उसे भी मिटाना चाहते हैं। 'साँपों की सृष्टि' नाटक में कमलावती कहती है:—

'ये सीमाएँ ही मनुष्यता की घातक बन जाती हैं। ये मर्यादाएँ हमें दुर्बल बनाती हैं। मनुष्य-मनुष्य में भेद रखना ही तो हम भारतीयों की सबसे बड़ी भूल है।...... हमने ऐसे कठोर दायरे बना रखे हैं कि उनके बाहर योग्य-से-योग्य व्यक्ति भी नहीं निकल सकता। प्रतिभाएँ बन्द सीमाओं में मुरझा जाती हैं। इस तरह राष्ट्र की शक्ति का अपव्यय होता है। वह घातक बन जाती है।'

इसी प्रकार माहरू के मुख से छुआछूत के विरुद्ध कहलवाया गया है:—'जब तक हिन्दुस्तानी विभाजित रहेंगे, एक-दूसरे के दुःख-दर्द में शामिल नहीं होंगे—तब तक सारे हिन्दुस्तानी एक जाजम पर बैठकर खाना नहीं खा सकेंगे—जब तक इनके यहाँ आठ घरों के लिए नौ चूल्हों की जरूरत रहेगी, तब तक अलाउद्दीन के अत्याचारों को कौन रोक सकता है। जो भारतीय विदेशियों से लड़ते समय भी युद्ध करने की अपेक्षा छूतछात पर ही अधिक ध्यान रखते हैं, उनका उद्धार कैसे हो सकता है!'

गाँधीवादी समाजवाद के द्वारा ही देश का नव-निर्माण हो सकता है, ऐसा मानकर ही प्रेमीजी ने 'स्वप्न-भंग' में दारा से कहलवाया है:—"मैं धनी-निर्धन, विद्वान्-अविद्वान् और छोटे-बड़े का भेद मिटाना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि संसार एक मज़दूर के पुत्र की मृत्यु का दुःख भी उतना ही अनुभव करे जितना कि वह शाहजहाँ की पत्नी की मृत्यु का करता है।" इसके लिए प्रेमीजी अहिंसक क्रान्ति के समर्थक हैं। अपने सामाजिक नाटक 'बन्धन' में सरला और मोहन अहिंसा पर ही बल देते हैं।

नारी-जागरण भी प्रेमीजी के नाटकों का उद्देश्य कहा जा सकता है। उनमें जितने भी कुसंस्कार हैं, वे उनका अन्त देखना चाहते हैं। विधवा-विवाह, पर्दा-पर्था का अन्त और कायरता की समाप्ति वे चाहते हैं। किसी भी क्षेत्र में नारी पीड़ित क्यों रहे ? बाल-विधवा-विवाह की समस्या पर 'उद्धार' में विचार व्यक्त किये हैं। नाटक का नायक हमीर कहता है:—'समाज की मर्यादा ! दुध-मुँही बच्चियों का विवाह कर देना और उनके विधवा हो जाने पर उन्हें जीवन के सभी सुखों से वंचित रखना; इसे तुम समाज की मर्यादा कहती हो ? नहीं कमला, यह घोर अत्याचार है। हमें समाज के पाखंडों के विरुद्ध विद्रोह करना है।'

पर्दा-प्रथा नारी के लिए अभिशाप है। 'स्वप्न-भंग' में रोशनआरा के शब्द पर्दे का दुष्परिणाम दिखाकर पुरुष समाज को इसके लिए विद्रोह करने का संकेत करते हैं:—'जब मेरे प्राण बाहर के संसार से मिलने के लिए रात-दिन तड़पते हैं तो मैं अनुमान करती हूँ कि आठों पहर बुर्के में बन्द रहनेवाली मेरी दूसरी बहनों का क्या हाल होगा।' नारी में शक्ति उत्पन्न हो और वह भी सैनिक बनकर देश-रक्षा के लिए तत्पर हो, इस भावना को व्यक्त करने के लिए चारणी, तांडवी, कंचनी, सरस्वती, श्यामा आदि पात्रों की रचना की गई है। नाटकों के पुरुष-पात्र नारी को सैनिक वेष में देखकर सन्तुष्ट होते हैं।

केवल उक्त आदर्शों की स्थापना के उद्देश्य से ही नहीं, बल्कि समाज और मानव की यथार्थ तस्वीर प्रस्तुत करने के उद्देश्य से भी आपने नाटक लिखे हैं। आपके सामाजिक नाटकों में यही चेष्टा दिखाई देती है। 'छाया' में कवि की समाज द्वारा उपेक्षित स्थिति का मार्मिक चित्रण है। समाज और व्यक्ति के जीवन-विकास को शोषण किस प्रकार रोक देता है, यही 'छाया' नाटक में दिखाया गया है। व्यक्ति के अन्तर की बेबसी, जीवन के अभाव और बाहरी पाखंड तथा कृत्रिम रूप का हाहाकार इस नाटक में चित्रित है। पूँजीवादी समाज ने व्यक्ति की स्थिति कैसी बना दी है, इसका रूप प्रकाश और माया के जीवन में मिलता है। प्रकाश से रुपया वसूल करने के लिए जब कुर्कियाँ आती हैं तो नाटककार कहलवाता है:—'रुपयेवालों के दिल नहीं होता। जिन लोगों के घर में लाखों रुपये पड़े हैं, वे भी दो दिन की मोहलत नहीं देते, एक पैसे की भी छूट नहीं देते।'

माया, जो रात को नसीम बनकर, अपने भाइयों को कालेज की शिक्षा और पिता के शानदार विलासी जीवन का क्रम जारी रखने के लिए अपना शरीर बेचती है, आडम्बरी समाज का चित्र इन शब्दों में प्रस्तुत करती है—'उधर देखो, उस पलंग की सफ़ेद चादर पर इस नगर के न जाने कितने रईस युवक और बूढ़े भी अपने हृदय की कालिमा बिखरा गये हैं।'

'छाया' में मानव के आर्थिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार के जीवन के उत्थान की चेष्टा है। इसमें प्रेमीजी ने 'मानव' को साध्य या उद्देश्य के रूप में देखा है, अन्य नाटकों में वह साधन मात्र है। 'छाया' में आहत उपेक्षित मानव को आश्रय देने के लिए 'काम' का आधार प्रदान करने की भी झांकी है। वास्तव में इस नाटक में समाज के आघातों से प्रताड़ित मानव के प्रति सहज सहानुभूति का भाव व्यक्त किया गया है।

'छाया' में आर्थिक शोषण और विषमता का जो घातक रूप व्यक्ति के जीवन का रक्त चूसते हुए दिखाया गया है, 'बन्धन' में वह और भी व्यापक रूप में आया है। विषमता का भयानक रूप इसमें दिखाया गया है। इसमें बताया गया है कि पैसे के बल पर किस प्रकार नारी का सतीत्व तक खरीदा जा सकता है। वास्तव में सामाजिक जीवन की आर्थिक समस्या को सुलझाने का प्रयास ही 'बन्धन' का मुख्य उद्देश्य है। आर्थिक समस्याओं का हल गांधीवादी रीति पर ही सुलझाया गया है। सरला का विचार है—'सत्याग्रह शत्रु का नाश या नुकसान नहीं करता। वह तो उसकी मरी हुई आत्मा को जीवित करता है।' वह प्रकाश को भी पिता का हृदय प्रेमपूर्वक परिवर्त्तित करने के लिए कहती है। मज़दूरों के कष्ट-सहन और अहिंसात्मक रहने तथा मोहन के आदर्श चरित्र, उसके महान् आत्म-त्याग और अहिंसात्मक नेतृत्व के कारण रायसाहब का हृदय परिवर्त्तित हो जाता है। आर्थिक विषमता ही ऊँच-नीच की बुनियाद है। विषमता के दूर होने पर ही मानवता समान स्तर पर आ सकती है। मोहन और मालती का विवाह यही सिद्ध करता है।

इस प्रकार प्रेमीजी के नाटक विविध उद्देश्यों को लक्ष्य मानकर लिखे गये होने पर भी मूल लक्ष्य राष्ट्रीय एकता को लेकर ही रचे गए हैं।

६. रसः—भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने रस की प्रतिष्ठा सबसे पहले नाटकों में ही की है। प्राचीन नाटकों का मूल प्रयोजन ही रस-परिपाक होता था। प्रेमीजी भारतीय पद्धति पर अधिक आग्रह रखते हैं, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु रस परिपाक की ओर उनका ध्यान बराबर बना रहा है। उनके नाटकों में रस की अभिव्यक्ति नाटकों को और भी अधिक प्रभावशाली बनाती है। क्योंकि प्रेमीजी के नाटक युद्ध और संघर्ष को ही प्रधान मानकर चले हैं, अतः वीररस तो प्रेमीजी के नाटकों का प्रधान रस है; किन्तु प्रसंगानुसार रौद्र, वीभत्स, करुण, शृंगार, शान्त, हास्य, अद्भुत आदि रसों की आयोजना भी मिलती है।

वीररस के परिपाक के लिए या तो नाटक का नायक अपने क्रिया-कलापों और सम्वादों से सहायक होता है या फिर लेखक चारणी अथवा ऐसे ही किसी अन्य पात्र की योजना कर लेता है। वह पात्र अपने प्रोत्साहित वचनों या गीतों से वीररस

की अभिव्यक्ति करता है। 'रक्षाबन्धन' में श्यामा निराशा से भरा हृदय लिये गा रही होती है कि चारणी आकर उसके हृदय को उत्साह से भर देती है। वह कहती है : '..... तुम्हीं सोचो बहन, रण-निमंत्रण पर किसी सैनिक का एक क्षण का विलम्ब मेवाड़ की कीर्ति के अनुकूल हो सकता है ? उस मेवाड़ की जिसकी क्षत्राणियाँ अपने हाथ से पतियों को देश की आन पर कुर्बान होने को सजाकर भेज देती हैं। हमारा देश पुत्र, पिता, भाई, प्रियतम, प्रियतमा, प्राण सभी से बढ़कर है, इस तथ्य को समझो।' चारणी के ये वचन श्यामा की मोहनिद्रा भंग कर देते हैं और वह देश के लिए मर-मिटने का संकल्प कर लेती है। अपने पुत्र को भी जब वह देश के लिए भेज देती है तो पाठकों का हृदय भी उत्साह से भर उठता है। कर्मवती तो वीररस की साक्षात् प्रतिमा है। उसका एक-एक शब्द वीर-दर्पपूर्ण है। जिस समय वह क्षत्राणियों को जौहर के लिए और राजपूतों को बलिपथ पर जाने के लिए ललकारती है तो वीररस जैसे हाथ जोड़कर उसके आगे खड़ा हो जाता है। धनदास को लेकर हास्य-रस भी उत्पन्न किया गया है; इसमें व्यंग्य भी है।

'शिवा-साधना' में शिवाजी वीररस के अवतार हैं। रामदास और जीजाबाई के उपदेश उत्साह को और बढ़ाते हैं। इस नाटक में करुणरस और हास्यरस की भी अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। जीजाबाई की मृत्यु पर शिवाजी का करुण-विलाप दर्शनीय है:—'मेरी आत्मा का प्रकाश, आँखों की ज्योति, अन्तर का बल चला गया, अब शिवाजी एक मिट्टी का पुतला-भर रह गया। माँ · माँ ·· तो अब तुम न बोलोगी, सचमुच न बोलोगी ! आह ! क्या तुम चली गईं ? सुनो माँ, आज सह्याद्रि की चट्टानें भी आठ-आठ आँसू रो रही हैं। तुम शिवाजी ही की नहीं, महाराष्ट्र की ही नहीं, सम्पूर्ण भारत की माँ हो ! आँखें खोलो। यह क्या विडम्बना है ? तुमने परतन्त्र देश की आँखें खोलकर स्वयं आँखें बन्द कर लीं। हाय माँ !!' तीसरे अंक के छठे दृश्य में मुगल और राजपूत सैनिकों के वार्तालाप में हास्यरस की सृष्टि की गई है।

'प्रतिशोध' में छत्रसाल वीररस का केन्द्र है। बल-दीवान, प्राणनाथ प्रभु, शिवाजी छत्रसाल को उत्साह देते हैं। दुर्गा की स्तुतियाँ और भी उत्तेजित करती हैं। 'आहुति' में वीररस का अच्छा परिपाक हुआ है। हम्मीरसिंह आलम्बन और अलाउद्दीन और उसके प्रयत्न उद्दीपन हैं। हम्मीर के ये वचन—'मेरी तलवार प्यासी है चाचा जी ! उसे नर-रक्त चाहिए। नर-रक्त ! यह फाल्गुन का महीना है। थोड़े दिनों में होली आनेवाली है। मेरा जी चाहता है, इस बार जी भरकर रक्त की होली खेली जाय'—उत्साह के सूचक हैं। उसका यह उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। विजय की प्राप्ति वीररस की चरमाभिव्यक्ति है। जौहर उसमें करुण वातावरण देकर उसे और भी प्रज्वलित करता है।

'स्वप्नभंग' में शान्त और करुणरस की अभिव्यक्ति हुई है। नादिरा और दारा के समस्त प्रयत्न शान्ति के लिए हैं। युद्ध के प्रति वैराग्यपूर्ण उक्तियाँ शान्तरस को बढ़ावा देती हैं। अन्त में दारा और नादिरा की मृत्यु करुणरस का परिपाक करती है। 'विषपान' में कृष्णा का सम्पूर्ण जीवन ही करुणरस का भावोद्रेक है। कृष्णा का विषपान करुणा को भी करुणा करने के लिए कहता है। 'उद्धार' वीररस और हास्यरस को लिये हुए है। कमला का जीवन करुणरस का संचार करता है। कमला और जाल के कथोपकथनों में हास्यरस की अभिव्यक्ति हुई है। 'शपथ' में विष्णुवर्धन वीररस का आलम्बन है, हूणों की कार्यवाहियाँ उद्दीपन हैं, विष्णु की विजय-यात्रा में उत्साह का परिपाक हुआ है। वत्स भट्ट, पार्वती आदि उत्साह की वृद्धि करते हैं। इस नाटक में हास्य-विनोद की भी अच्छी सृष्टि की गई है। उज्जयिनी की मधुशाला का दृश्य हास्यरस का श्रेष्ठ उदाहरण कहा जा सकता है। आपसी वहस में दो शरावी वहस करने लगते हैं तो कोलाहल सुनकर मधुशाला का स्वामी वहाँ आ जाता है, फिर जो धर्मदास और जयदेव की उससे बातचीत होती हैं वह हास्यरस की अच्छी सृष्टि करती हैं:—

'**मधु० का स्वामी**—यह कोलाहल कैसा ?

जयदेव—कोलाहल ! कोलाहल ! भैया कोलाहल किस वस्तु की संज्ञा है ?

धर्मदास—कोलाहल हालाहल का भाई है।

मधु०—वस चुल्लू में उल्लू होगा।

धर्मदास—तुम मनुष्यों को उल्लू बनाने का व्यवसाय करते हो। अच्छा तो सव प्रकाशित दीपों को वुझा दो।

जयदेव—हाँ, वुझा दो और आकाश से चन्द्रमा को भी हटा दो।

मधु०—क्यों ?

मधु०—अन्धकार होने पर तुम दिखाई पड़े तो हम समझेंगे कि हम उल्लू हैं और नहीं दिखे तो समझेंगे तुम उल्लू हो।

मधु०—अच्छा वावा उल्लू मैं ही हूँ। अव तो घर जाओ।'

'भग्न-प्राचीर' में वीररस प्रधान है। साथ ही शृंगार, करुण और हास्य का भी समावेश हुआ है। नाटक का स्थायी भाव उत्साह है, वावर आलम्बन है। युद्ध की तैयारियाँ, लोदी की हार आदि उद्दीपन हैं। राणा संग्रामसिंह, भोजराज के प्रसंग में तथा वावर की महफ़िल में शृंगाररस की, सीकरी की पराजय में करुणरस की और वावर के भिखारी वेशवाले प्रसंग में हास्यरस की झलक है। अन्त में शान्त-रस का परिपाक हुआ है।

'प्रकाश-स्तंभ' में शृंगार और वीररस ही मुख्य हैं। नाटक का आरम्भ वाप्पा, युवतियों तथा चम्पा, पद्मा की हास-परिहासमयी बातों से होता है, जिसमें शृंगार की झलक है। पद्मा की उत्तेजना वीररस की सृष्टि करती है। वाप्पा जननायक बनकर शक्ति उपार्जित करता है। नाटक का अन्त फिर शृंगाररस से होता है। 'शतरंज के खिलाड़ी' में वीररस का अच्छा परिपाक हुआ है। महाकाल और तांडवी ने वीरों को प्रोत्साहित करने के लिए अनेक वीर-दर्पपूर्ण उक्तियाँ कही हैं। पहले अङ्क के तीसरे दृश्य में न केवल वीररस बल्कि रौद्र और भयानक रसों की भी स्वीकृति है। तांडवी का महाकाल से बातें करना वातावरण को और भी कठोरता प्रदान करता है। किरणमयी की उक्तियाँ तो और भी अधिक वीर-दर्पपूर्ण हैं। काली के मंदिर में वह कहती है—'माँ, भवानी, इस भयानक काली रात में—निराशा के घोर अन्धकार में तुम्हारे ये तेजपूर्ण नेत्र आशा के दो नक्षत्रों की भांति चमक रहे हैं। तुम्हारी यह लाल जिह्वा तुम्हारे अनुचरों को आदेश दे रही हैं—'लाओ—रक्त लाओ—पिलाओ—जी भरकर पिलाओ।' और मां तुम्हारा खप्पर संसार के वीरों को चुनौती दे रहा है—'है कोई ऐसा वीर जो इसे भर दे।'

'कीर्त्ति-स्तम्भ', 'संरक्षक', 'विदा' और 'संवत्-प्रवर्तन' में वीर और शृङ्गार की व्यंजना हुई है। 'विदा' में अपेक्षाकृत करुण और शान्तरस की अधिक व्यंजना है। दुर्गादास वीररस का, जेबुन्निसा और अकबर शान्त तथा करुणरस का आलम्बन हैं। 'संवत्-प्रवर्तन' में विक्रम, गर्दभिल्ल-दर्पण, भर्तृहरि, बेताल, सरस्वती वीररस के परिपाक में सहायक हैं।

रस के सम्बन्ध में एक बात कह देना अनुचित न होगा कि प्रेमीजी किसी शास्त्रीय पद्धति से बँधकर नहीं चले हैं, इसलिए उनके नाटकों में रस का विवेचन शास्त्रीय पद्धति पर खोज निकालने की चेष्टा करना उनके साथ अन्याय करना है। करुण, शृङ्गार आदि भी वीररस के लिए पृष्ठभूमि का काम करते दिखाई देते हैं। चाहे वियोग-शृंगार हो और चाहे संयोग शृंगार; वह आगे चलकर देशभक्ति और बलिदान की भावना में बदल जाता हैं। वास्तव में मुख्य रस तो वीर ही है।

अपने सामाजिक नाटकों में प्रेमीजी का लक्ष्य अपने उद्देश्य की ओर ही रहा है, रस-परिपाक की ओर नहीं। फिर भी 'छाया', 'वन्धन' और 'ममता' में करुणरस की धारा प्रवाहित हो रही है। 'छाया' में तो आदि से अन्त तक अनेक करुण प्रसंग भरे पड़े हैं। छाया, माया, ज्योत्स्ना और प्रकाश करुणा के केन्द्र हैं।

आरम्भ में शंकर ज्योत्स्ना के प्रति करुणा जगाने के लिए प्रकाश से कहता है—'वह फूल-सी लड़की इस नराधम के पाले पड़ी है, इसलिए मैं दुःखी हो उठता हूँ। ···वह सुबह बहुत जल्दी उठती है। सारा घर साफ़ करती है। बर्तन माँजती है।

खाना बनाती है। कपड़े साफ़ करती है और शराबी पति की मार सहती है।' और माया की स्थिति इस प्रकार है कि वह अपने परिवार के लिए अपना देह बेचती और भ्रूण हत्या तक करती है। समाज में कलंकित जीवन बिताती है।

प्रकाश और छाया की स्थिति और भी दयनीय है। छाया के पास इज़्ज़त ढकने के लिए एक धोती तक नहीं, बच्ची को दूध पिलाने के लिए दाम नहीं। जब साहित्य-सभा के मंत्री प्रकाश को मानपत्र दे रहे थे तो सभा के बाहर कचहरी का प्यादा समन लिये खड़ा था। 'बन्धन' का आरम्भ भिखारी और बालिका के करुण गीत से होता है। फिर सरला की दयनीय स्थिति उस प्रसंग को और भी करुण कर देती है। वह कहती है—'आज हम ग़रीब हो गये हैं, हम किसी को कुछ दे नहीं सकते। ग़रीब साथियों की सहायता नहीं कर सकते। हमारे पास केवल आँसुओं की खारी बूंदें हैं, जिनमें हमारा जीवन डूबा जा रहा है।' मज़दूरों की दशा, उन पर अत्याचार, मोहन की गिरफ़्तारी आदि सभी प्रसंग करुणा को जन्म देते हैं। 'ममता' में लता की स्थिति करुणाजनक है और विनोद की स्थिति देखकर मानवता के प्रति ही करुणा आती है कि मानव कितना पतित हो सकता है। यों 'ममता' में किसी रस को स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि इस नाटक में प्रेमीजी का लक्ष्य कहानी कहना रहा है, किसी सिद्धान्त या मत का प्रतिपादन करना नहीं। रंगमंच की दृष्टि से 'ममता' एक सफल रचना होते हुए भी रस-संचार की दृष्टि से अधिक उत्तम नहीं।

७. **शैली**—वर्तमान नाटकों में शैली का प्रश्न बड़ा ही विवादास्पद है। कोई प्राचीन भारतीय पद्धति का समर्थक है तो कोई आधुनिक पाश्चात्य पद्धति का। एक वर्ग दोनों का समन्वय करके चलनेवालों का भी है। भारतेन्दु और प्रसाद ऐसे ही नाटककार थे। हम देखते हैं कि प्रेमीजी समन्वयवादी पद्धति अपनाकर चले हैं। प्रेमीजी के नाटकों की बाहरी रूप-रेखा तो पाश्चात्य पद्धति पर है; परन्तु आत्मा भारतीय ही है।

प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुसार नाटक का आरम्भ मंगलाचरण या नांदी-पाठ से हुआ करता था; एक प्रस्तावना होती थी, जिसके प्रमुख पात्र नट और नटी या सूत्रधार होते थे। नाटक का अन्त भरत-वाक्य से होता था। कथानक का विभाजन अवस्थाओं, अर्थप्रकृतियों और संधियों की अपेक्षा रखता था। अर्थोपक्षेपक के विष्कंभक, चूलिका, अंकावतार, प्रवेशक, अंकास्य आदि भेदों का उपयोग भी किया जाता था। प्रेमीजी इन सभी जंजालों से छूटकर सीधे-सादे मार्ग से चले हैं। पाश्चात्य शैली के अनुसार केवल कार्य की पांच अवस्थाओं का ही ध्यान रखा गया है। समष्टि-प्रभाव की ओर ही प्रेमीजी का ध्यान रहा है; शास्त्रीय पक्ष की उलझन की ओर नहीं।

नायक के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टि ही अपनाई गई है। प्रेमीजी के सभी नाटक आदर्शमूलक हैं, अतः नायक धर्म और गुण के अनुसार धीरोदात्त ही हैं। कहीं-

कहीं व्यक्ति-वैचित्र्य के भी दर्शन होते हैं। प्रेमीजी के प्रायः सभी नायक भारतीय संस्कृति, व्यक्तित्व और चारित्र्य से युक्त हैं; अतः शुद्ध भारतीय हैं। सामाजिक नाटकों में भी उनके नायक भारतीय मर्यादा के अनुकूल हैं; पाश्चात्य प्रभाव से आतंकित नहीं हैं। रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध में विशेष सावधान न रहने पर भी प्रेमीजी के नाटकों में भारतीय पद्धति के अनुसार ही रस-परिपाक दिखाई देता है। उनके नाटकों में शृङ्गार से पोषित वीररस की प्रधानता है। कहीं-कहीं करुणा की अच्छी अभिव्यक्ति है। भारतीय रस-शास्त्रियों ने शृङ्गार, वीर और करुणा को ही प्रधान रस माना है। भारतीय नाट्य-विशारदों ने नाटक की चार वृत्तियाँ मानी हैं। इन वृत्तियों का सम्बन्ध सम्पूर्ण नाटकीय कथावस्तु की गतिविधि से रहता है, और पात्रों की चालढाल भी इन्हीं वृत्तियों से रहती है। प्रेमीजी ने अपने नाटकों में सात्विक वृत्ति का ही उपयोग किया है। इसके अनुसार नाटकों में वीरोचित कार्यों की प्रधानता है। शौर्य, दान, दया तथा दाक्षिण्य का विशेष वर्णन है। वाणी के ओज का ही प्रदर्शन किया गया है। प्रेमीजी के नाटक वीरोचित कार्यों से सम्बन्धित हैं।

भारतीय पद्धति के अनुसार नाटक सुखान्त होना चाहिए और पाश्चात्य पद्धति के अनुसार दुःखान्त। आज पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव पड़ने के कारण दुःखान्त नाटक भी हिन्दी में लिखे जाने लगे हैं। प्रेमीजी ने भी दुःखान्त भावना अपनाई है; परन्तु दार्शनिकता की पुट देकर दुःखान्त नाटकों को प्रसादान्त बनाने की चेष्टा की गई है। प्रेमीजी कर्तव्य को सर्वोपरि मानते हैं और आत्म-सन्तोष को महत्ता देते हैं। अपने कर्त्तव्य-पालन द्वारा जो सन्तोष और शान्ति मिलती है, वह सुख की दाता है, दुःख की नहीं। चाहे यह शांति प्राण-रक्षा से मिले और चाहे मृत्यु से। प्रेमीजी के अधिकांश नाटक राजपूतों की पराजय दिखाते हैं, किन्तु कर्त्तव्य पर जीवन उत्सर्ग करनेवाली राजपूत जाति की हार में भी दर्शक उनकी जीत का अनुभव करते हैं; इसीलिए इन नाटकों को प्रसादान्त कहा जायेगा। करुणा में अन्त किन्तु कर्तव्य की वेदी पर बलिदान का आत्म-संतोष।

'रक्षा-बन्धन', 'आहुति', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'विषपान', 'भग्न-प्राचीर', 'कीर्त्ति-स्तम्भ', 'विदा', 'साँपों की सृष्टि' प्रसादान्त या करुण-सुखान्त नाटक हैं। 'प्रतिशोध', 'शिवा-साधना', 'उद्धार', 'बन्धन', 'छाया', 'शपथ', 'प्रकाश-स्तम्भ', 'संवत्-प्रवर्त्तन' सुखान्त नाटक हैं। इस प्रकार सुखान्त और दुःखान्त दोनों प्रणालियों को आपने अपनाया है। नाटक चाहे आपके दुःखांत हों, चाहे सुखांत उनमें संस्कृत नाटकों का कवित्त्वमय वातावरण बराबर बना रहता है। प्रेमीजी के नाटकों में पाश्चात्य नाट्य-विधान की दृष्टि से यथार्थवादी नाट्यकला चाहे उतनी न हो, रंगमंच की दृष्टि पाश्चात्य ही है; किन्तु कवित्त्व भारतीय पद्धति पर ही है। वास्तव में आपके नाटकों की शैली प्राचीन और अर्वाचीन नाटक-शैलियों का सामंजस्य है। शुक्लजी ने

प्रसादजी से प्रेमीजी की तुलना करते हुए लिखा है कि यह देखकर प्रसन्नता होती है कि हमारे प्रसाद और प्रेमी ऐसे प्रतिभाशाली नाट्यकारों ने उस पद्धति का अनुसरण न करके रस-विधान और शील-वैचित्र्य, दोनों का सुन्दर सामंजस्य रखा है।

पाश्चात्य पंडितों ने संघर्ष, सक्रियता और समष्टि-प्रभाव को ही नाटक का सब कुछ माना है। प्रेमीजी का प्रत्येक नाटक एक स्पष्ट और रोचक संघर्ष से पूर्ण है। अधिकांश नाटक युद्ध-प्रधान वातावरण से पूर्ण हैं, अतः उनमें वाह्य-द्वन्द्व तो स्वाभाविक रूप से विद्यमान है, साथ ही पात्रों की मनोदशा के अनुकूल अन्तर्द्वन्द्व भी विद्यमान है। 'रक्षा-वन्धन' का वहादुरशाह दुष्ट पात्र होने पर भी अन्तर्द्वन्द्व के कारण ही सहानुभूति पाता है। एक ओर तो वह प्रतिहिंसा की भावना से जला जाता है और घृणित-से-घृणित कार्य के लिए तत्पर कहता है—"मैं भी चोट खाये हुए ख़ानदान की औलाद हूँ। यही सबब है कि मैं इतना वेदर्द रहा हूँ··· मुझे शैतान भी बनना पड़े, तो वनूँगा, पर अपने खानदान के सर पर बेइज़्ज़ती का काला निशान मेवाड़ के राजवंश के खून से धोये बिना न मानूंगा।" किन्तु दूसरी ओर उसका अन्तर्द्वन्द्व यह भी कहता है—"इन्सानियत ख़ानदान की इज़्ज़त से भी वड़ी चीज़ है।" इसी प्रकार 'शिवा-साधना' का औरंगज़ेव महत्त्वाकांक्षा और अधिकार-सुख की प्राप्ति के लिए दुष्ट-से-दुष्ट कार्य करता है, परन्तु जीवन के एकांत क्षणों में वह व्यग्र हो उठता है। कहता हैः—'औरंगज़ेव तू किधर जा रहा है। अजाव के काले समुन्दर में ज़िन्दगी की नाव बह पड़ी है। जहाँनारा, तूने क्या कहा—दिल्ली की सल्तनत में भी आग लगा दूँ, यह भी शाहजहाँ की निशानी है। सच है, मेरे अजाव दरअसल इस सल्तनत को ले डूबेंगे।'

'प्रतिशोध' की विजया के हृदय में प्रेम और कर्त्तव्य का द्वन्द्व है। वह वलदीवान से प्रेम करती है, किन्तु देश पर आपत्ति के वादल घिरे देखकर विन्ध्यवासिनी देवी के मन्दिर में आजन्म अविवाहित रहकर देश-सेवा का व्रत लेती है। इस विचित्र संघर्ष में उसके हृदय का प्रेम विचलित हो उठता है; वह अपने लिए ही समस्या वन जाती है—'हृदय में जो एक तूफ़ान छिपा है, उसके वेग को राष्ट्र-सेवा के वहाव में बहा देना चाहती हूँ······ एक क्षण के लिए भी जव मैं एकांत पाती हूँ तो अँधेरी रात में शुक्र नक्षत्र की भाँति किसीका मुख मेरे हृदय में चमक उठता है।' इसी प्रकार ज़ेबुन्निसा का शिवाजी के प्रति आकर्षण एक विशेष अन्तर्द्वन्द्व को जन्म देता है। ज़ेबुन्निसा सोचती है—'दुनिया की नज़र में मुझे किस वात की कमी है? फिर भी ऐसा क्यों जान पड़ता है कि मुझ-सा कंगाल कोई नहीं है। मैं वादशाहज़ादी हूँ—दुनिया के सबसे बड़े वादशाह की लड़की हूँ, फिर भी दिल से एक हूक-सी उठकर कहती है कि मैं राह के भिखारी से भी बदतर हूँ। सोने के पिंजरे में जैसे किसीने मैना को बन्द कर दिया हो! इस वीरान ज़िन्दगी के लिए कोई सहारा ही नहीं रह गया है। वह

दिन भुलाये नहीं भूलता, जब मैंने बहादुर शिवाजी को देखा था, तब मेरे दिल में पहली बार तूफ़ान उठा था।'

'स्वप्न-भंग' तो अन्तर्द्वन्द्व का उत्तम उदाहरण है। कासिमखाँ रोशनआरा के कहने में आकर युद्ध के समय दारा की सेना को धोखा देकर औरंगज़ेब की ओर होने का वचन देता है। लेकिन इस दुष्कर्म के प्रति उसे आत्म-ग्लानि होती है। उसके हृदय में मनुष्यता और धार्मिक कट्टरता, मोहब्बत और जालसाज़ी, कर्म और अधर्म का द्वन्द्व छिड़ता है:—'चाहा था थोड़ी-सी नींद ले लूँ, लेकिन उसे तो मानो कोई चुरा ले गया है। दारा और औरंगज़ेब, मनुष्यता और धार्मिक कट्टरता, जहाँनारा और रोशनआरा, मोहब्बत और जालसाज़ी! आज धर्म और अधर्म का द्वन्द्व है। मेरा दिल पूछता है, कासिमखाँ, तुम किसका साथ दोगे? दारा जैसे भले आदमी को धोखा देना अच्छा नहीं, लेकिन रोशनआरा, उसकी शराब से ज़्यादा मादक आँखें हरघड़ी कुछ संकेत करती जान पड़ती हैं। उसके हाथ का दिया हुआ मदिरा का प्याला आज भी मेरे दिमाग़ को मदहोश कर रहा है।'

इसी प्रकार पाप में फँसी रोशनआरा की आत्मा उसे धिक्कारती है और पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, कोमलता-कठोरता का द्वन्द्व उसके हृदय को झकझोर देता है— 'ईर्ष्या की आँधी में उड़कर मैं कहाँ आ गई—मैं नारी हूँ। नारी का अस्तित्त्व प्रेम करने के लिए है, संसार के निर्मल झरने में स्नान कराने के लिए है। मैं अपना स्वाभाविक धर्म छोड़कर हिंसा का भयानक खेल खेलने चली हूँ। कोई दिल में बार-बार कहता है, रोशनआरा ज़रा सोच, आगे कदम बढ़ाने के पहले उसके परिणामों पर विचार कर।' दारा में भी द्वन्द्व चल रहा है, एक ओर वह साहित्य-सेवा में तल्लीन है, दूसरी ओर औरंगज़ेब की मानवता जगाना चाहता है।

'विष-पान' में ईर्ष्या, द्वेष और राजपूती आन का संघर्ष है। क्रिया-प्रतिक्रियाओं से मुक्त इसका संघर्ष बाहरी ही है, अन्तर्द्वन्द्व यहाँ नहीं है। अन्तर्द्वन्द्व का सुन्दर चित्रण हाल ही में प्रकाशित 'संवत्-प्रवर्तन' में हुआ है। आचार्य कालक और सरस्वती के भीतर प्रतिशोध और कर्त्तव्य का द्वन्द्व चलता रहता है। युद्ध-प्रधान नाटकों में बाह्य द्वन्द्व के साथ अन्तर्द्वन्द्व का सफल प्रयोग करना प्रेमीजी की कुशलता ही कही जायेगी।

सामाजिक नाटकों में भी वे द्वन्द्व और संघर्ष को प्रधानता देकर चले हैं। 'बन्धन' में मालिक और मज़दूर का, गरीबी और पूंजीवाद का द्वन्द्व है। किन्तु प्रकाश, मालती और मोहन के अन्तर्द्वन्द्व का भी चित्रण किया गया है। मोहन मज़दूरों का नेता है। आदर्श के लिए वह अपना जीवन उत्सर्ग कर चुका है, लेकिन दरिद्रता से पीड़ित अपनी बहन सरला की कथा उसके हृदय में द्वन्द्व पैदा करती है:—'कितनी बार वैभव प्रलोभन देता है, लेकिन जिस समय तुम्हारी आषाढ़ी आँखों और सूनी

माँग को देखता हूँ, तो अनुभव करता हूँ कि दुःख से डरना कायरता है और सुख के पीछे पागल होना मौत है।'

'ममता' में मानवता और पशुता का, कर्त्तव्य और प्रेम का, प्रतिशोध और ममता का संघर्ष है। विनोद की पशुता पर रजनीकांत और लता की मानवता विजय पाती है। कर्त्तव्य और प्रेम के द्वन्द्व ने रजनीकान्त के आदर्श-चरित्र की सृष्टि की है। दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में कला ने रजनीकांत के सामने अपने हृदय के भीतर चलती आँधी को व्यक्त किया है। लता के प्रति उसके मन में जो भावना काम कर रही थी, उसे उसने इस प्रकार व्यक्त किया—'मैंने तो बहुत पहले ही उसकी आँखों के अक्षर पढ़ लिये थे। उसको आपका मुझसे और मेरा आपसे मिलना फूटी आँखों भी नहीं सुहाता था।···जिस नारी के लिए मैंने अपना सर्वस्व उजाड़ लिया वह मेरे प्रति इतनी कृपण हो गई कि आपका दो घड़ी के लिए मेरा साथ भी उसकी आँखों को खटकने लगा।···मेरे प्राणों में एक युग से ज्वालामुखी सुलग रहा है। आज उसकी कुछ लपटें वाहर निकल पड़ी हैं, किन्तु इससे भी अन्तर की व्यथा हलकी तो नहीं होगी।'

विनोद के अन्तर्द्वन्द्व को तीसरे दृश्य में रजीकान्त ने मुंशीजी के सामने प्रकट किया है। इसी दृश्य के अन्त में रजनीकान्त अपने भीतर के भाव भी मुंशीजी पर प्रकट करता है :—'मुझे किसीकी आवश्यकता नहीं और किसीको मेरी आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। मैं सब तरह के उत्तरदायित्वों को छोड़कर बिलकुल हल्का होकर संसार में विचरण करूँगा। किसी प्रकार का बन्धन स्वीकार नहीं करूँगा।' नाटक के अन्तिम दृश्य में लता ने मुंशीजी पर अपने हृदय के उद्गार प्रकट किये हैं इस प्रकार 'ममता' भी एक द्वन्द्व और संघर्षपूर्ण रचना है।

प्रेमीजी की शैली की एक वड़ी विशिष्टता यह है कि वे नाटकों के आरम्भ से लेकर अन्त तक अपने प्रभाव की ओर सचेत रहते हैं। नाटकों के पात्र चाहे जैसे हों, चाहे जिस आदर्श की सृष्टि की गई हो, चाहे जितनी समस्याएँ नाटक में उठाई गई हों, प्रेमीजी वरावर प्रभाव की समष्टि की ओर जागरूक रहते हैं। सम्पूर्ण नाटक अन्त में एक ही प्रभाव-विशेष दर्शक या पाठक पर छोड़ता है। विचारों की विशृंखलता प्रेमीजी के नाटकों में नहीं है। उनका एक निर्धारित लक्ष्य है; और वे उस लक्ष्य से रंच-मात्र भी इधर-उधर नहीं होते, यही उनकी कला का सबसे बड़ा कौशल है।

अनेक लेखकों की रचनाएँ साहित्यिक दृष्टि से तो उच्चकोटि की होती हैं। किन्तु रंगमच की उपयोगिता को वे नहीं पूरा कर पाते। प्रेमीजी का रचना-विधान रंगमंच की दृष्टि से भी पूर्णतया सफल है। रंगमंच का पूरा ध्यान रखकर ही उन्होंने नाटक लिखे हैं। अपनी नाट्य-कला के सम्बन्ध में प्रेमीजी ने 'शतरंज के खिलाड़ी'

की भूमिका में कहा है :—'नाटक लिखा जाय तो उसे खेला भी जाना चाहिए। खेला जा सके ऐसा ही नाटक लिखा जाना चाहिए। मुझे इस बात का संतोष है कि मेरे नाटक देश के कोने-कोने में खेले जा चुके हैं।……आये दिन नाटक खेलनेवाले ये साधन नहीं जुटा सकते। उसके लिए तो सेटिंग्स की नाट्य-कला से पर्दों की नाट्य-कला सरल बैठती है। इसी कारण मैं अधिक लोगों का होकर रहा हूँ। किन्तु सेटिंग्स वाली नाट्य-कला का विरोधी भी नहीं हूँ।' स्पष्ट है कि प्रेमीजी रंगमंच की कला से भली प्रकार परिचित हैं। उनका दृश्य-विधान सुलझा हुआ और सरल है। अपने दृश्य-विधान के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करते हुए वे 'विष-पान' की भूमिका में लिखते हैं :—'यदि रंगमंच का ध्यान न रखा जाय, केवल पढ़ने की चीज़ लिखी जाय तो लेखक प्रत्येक दृश्य को खूब चुस्त रख सकता है। रंगमंच का ध्यान रखने पर अनेक बन्धन लग जाते हैं। उदाहरण के लिए एक राजमहल, घर के भीतर अथवा ऐसे ही किसी दृश्य, जिसमें अत्यन्त सजावट करनी पड़ती है, इसके पश्चात् फिर वैसा ही दृश्य नहीं लाया जा सकता। एक वस्तु को हटाकर दूसरी को रखने के लिए समय चाहिए। इसीलिए उसके बाद ऐसा दृश्य आना चाहिए, जिसमें कोई सजावट न हो।' प्रायः प्रेमीजी ने अपने नाटकों में इस प्रकार का दृश्य-विधान रखा है; जिसकी चर्चा हम रंगमंचीयता के अध्याय में कर आये हैं। प्रेमीजी भारतीय रंगमंच की आवश्यकताओं और मर्यादाओं से भली-भाँति परिचित हैं; अतः उन्होंने भारतीय पद्धति के अनुसार सदा इस बात का प्रयत्न किया है कि रंगमंच पर हत्या, मृत्यु, युद्ध, आलिंग्न आदि के दृश्य न दिखाये जायें। जहाँ इस प्रकार की आवश्यकता हुई है, वहाँ प्रेमीजी ने सूच्य-वस्तु का ही सहारा लिया है। अतः रंगमंच की दृष्टि से प्रेमीजी के नाटक भारतीय शैली के अनुसार ही हैं।

अब हम एक बात कहकर इस प्रसंग को समाप्त करते हैं। प्रेमीजी के नाटकों की भाव-धारा, उद्देश्य, चरित्र-चित्रण, नाट्य-विधान आदि में प्रायः एक-समानता पाई जाती है, विविधता नहीं। ऐसी स्थिति में उनका चाहे एक नाटक पढ़ा जाये, चाहे सारे नाटक, बात एक ही है। इस प्रकार का आक्षेप होगा, प्रेमीजी इसे पहले से ही जानते थे, अतः उन्होंने इसका स्पष्टीकरण 'शतरंज के खिलाड़ी' की भूमिका में इस प्रकार दिया है :—'एक लक्ष्य को सामने रखकर नाटकों की रचना करने से मुझे हानि भी हुई है और लाभ भी प्राप्त हुआ है। हानि तो यही हुई कि 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के भक्त आलोचक इन रचनाओं से प्रसन्न नहीं हुए, किन्तु मुझे आश्चर्य इस बात का है कि ये बन्धु बर्नार्डशा और इब्सन आदि विदेशी नाटककारों के आगे मस्तक झुकाते हैं; जो कला को उद्देश्य की सीमा से निर्वासित नहीं कर सके। विदेश के साहित्यकार के लिए एक कसौटी और अपने देश के साधन-हीन साधक के लिए दूसरी—अधिक तीखी। आखिर क्यों? मैं मानता हूँ, उनकी

समस्याएं बहुमुखी हैं—किन्तु क्या हम उनकी रचनाओं पर विचार करते हुए उस समाज का अंदाजा नहीं लगा सकते जिसमें लेखक रहता है, जिसके लिए वह लिखता है ? भारतीय साहित्यकार के सामने भारतीय समाज है और इस समाज की आवश्यकता है। यदि वह उससे बँधा हुआ है तो यह उसकी निर्बलता नहीं है; उसकी ईमानदारी है। अपने घर में अन्धेरा रखकर सम्पूर्ण संसार में प्रकाश करने की महानता का श्रेय प्राप्त करने की आकांक्षा मुझे नहीं है और सीमा ने मुझे लाभ यह पहुँचाया कि जन-मानस ने मुझे अपना लिया।

वास्तव में प्रेमीजी प्रतिभाशाली कलाकार हैं। उनके पास सजग कला, गतिशील कल्पना और एक सुन्दर सुरुचिपूर्ण रचना-कौशल है। उनकी कृतियों के रचनाक्रम को देखकर उनकी नाट्य-कला का सहज स्वाभाविक विकास सामने आ जाता है।

बारह

प्रेमीजी की कविता

'प्रेमी'जी की कविता में गति है, यति नहीं। शोभा है, शृङ्गार नहीं। प्यार है, विकार नहीं। भाव है, भाषा नहीं। अनुभूति है, अभिव्यक्ति नहीं। चोट है, प्रहार नहीं। शिथिलता है, निर्जीवता नहीं। बेहोशी है, नशा नहीं। त्याग है, नीरसता नहीं। क्रम-भंग है, रस-भंग नहीं। आकर्षण है, माया नहीं। विस्तार है, आडम्बर नहीं। प्रलाप है, निरर्थकता नहीं। ताप है, अभिशाप नहीं।[१]

'प्रेमी'जी की कविता के सम्बन्ध में ये शब्द आज से तीस वर्ष पहले कविवर 'मिलिन्द'जी ने कहे थे। तब तो प्रेमीजी की केवल एक ही कविता-पुस्तक सामने थी। आज वे लगभग एक दर्जन कविता-पुस्तकें हिन्दी-जगत् को प्रदान कर चुके हैं। ऐसी दशा में तो उनकी काव्य-साधना के सम्बन्ध में और भी बहुत-कुछ कहा जा सकता है।

आज तक वे हमें आँखों में, स्वर्ण-विहान, जादूगरनी, अनन्त के पथ पर, अग्नि-गान, रूप-दर्शन, वन्दना के बोल, प्रतिमा, रूप-रेखा और अनेक मुक्तक कविता आदि दे चुके हैं। इनको देखकर कहा जा सकता है कि 'प्रेमी'जी प्रेम और अध्यात्म के, क्रान्ति और शक्ति के, सादगी और सरलता के कवि है। 'आँखों में', 'अनन्त के पथ पर', 'जादूगरनी' का गायक प्रेम और अध्यात्म का कवि है। 'स्वर्ण-विहान', अग्नि गानका गायक, क्रान्ति और शक्ति का कवि है और 'वन्दना के बोल', 'रूपदर्शन' तथा 'रूपरेखा' और 'प्रतिमा' का गायक प्रेम, सादगी और सरलता का कवि है।

'प्रसाद' के 'आँसू' की भाँति 'प्रेमी'जी भी विरह-वेदना लेकर हिन्दी काव्य-क्षेत्र में आये हैं। 'आँखों में' आपकी विरह-वेदना का उमड़ता सागर है। इस वेदना ने ही संसार की 'जादूगरनी' माया के मार्ग से हटाकर प्रेमीजी को 'अनन्त के पथ पर' लेजाने की सफलता प्राप्त की। किन्तु जीवन के 'स्वर्ण-विहान' ने उनकी दृष्टि मानव की परवशता की ओर भी झुकाई। उन्होंने 'अग्नि-गान' में विद्रोह का शंख फूंका और पीड़ितों एवम् पद-दलितों को क्रान्ति का मारू राग सुनाया। 'रूप-दर्शन' से वे फिर प्रेम की ओर मुड़े जिससे शांति, सरलता और आत्म-विस्तार को अपनाया।

पहली रचनाओं में प्रेमीजी जहाँ मधुर, कोमल और गहरी अनुभूति को सरल-तम और स्वाभाविक रूप में व्यक्त करने में सफल हुए हैं, वहाँ दूसरी रचनाओं में उन्होंने ओज और कराह भेंट की है। इधर की रचनाओं में उनका सौजन्य, सरलता और आत्म-विस्तार अभिव्यक्त हुआ है।

---

१. श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द':—'आँखों में' की भूमिका में।

प्रेमीजी की पहली पुस्तक है—'आँखों में'। 'किसी अज्ञात विमल विभूति के प्रति उनका उन्माद, प्रेम, स्मृति, विरह, उपालंभ, मनुहार, वेदना, करुणा और न जाने क्या-क्या, इस कृति में इतने वेग से उमड़ पड़ता है कि उसमें साहित्य- संसार के सामान्य बन्धनों का अक्षुण्ण रह जाना असंभव हो जाता है। फिर भी इस वेग में कुछ कमी है, कुछ अधूरापन है।' इस कमी और अधूरेपन का कारण शायद पहली रचना हो। जो भी हो मिलिन्दजी के ही शब्दों में–'जब मैं प्रेमी की कविता पढ़ता हूँ, तो मुझे तत्क्षण प्रतीत होता है, मानो कोई पागल झरना बड़े वेग से बहा जा रहा है। वह अपने करुण-प्रवाह में कभी-कभी अपना इतिहास भी भूल जाता है और कभी-कभी अपना भविष्य भी। लोगों के हृदय पर बरबस जादू डालने के लिए अपने सरल स्वर में अधिक गंभीरता, अधिक दार्शनिकता, अधिक रहस्य, अधिक शोभा, अधिक मधु, अधिक मद और अधिक स्थिरता लाने की चिन्ता में मुँह लटकाकर बैठ रहने का उसे ज़रा भी अभ्यास नहीं है। वह केवल बहना जानता है। ऊँची-नीची, टेढ़ी-सीधी, मोटी-पतली, जैसी भी हो उसकी धारा कल-कल, छल-छल करती हुई चलती ही जाती है।...... दर्शक और समालोचक उसे देखा करें, वह उन्हें नहीं देखती। चलती ही जाती है—बस चलती ही जाती है।'—स्पष्ट है कि स्वाभाविकता और प्रवाह प्रेमीजी की कविता के गुण हैं और आरम्भ से ही हैं।

वेदना के कुशल गायक प्रेमीजी ने 'आँखों में' दुखिया जीवन के पागल पन्नों को सजाया है। दुनिया ने कवि को इतना दुःख दिया है, इतना दुःख देना चाहा है कि उसे और दुःख देने के लिए उसकी एकमात्र पूँजी दुःख को खिलौने की तरह तोड़ देना चाहती है। फलतः कवि ने :—

'मेरा दुःख हत्यारे जग का,
बन जाये न खिलौना-सा!
इस भय से उर की कुंजों में,
छिपा रखा मृग-छौना-सा।'

आप जानना चाहेंगे 'आँखों में', क्या है? 'आँखों में' हृदयवाद की कविता है, जिसमें कवि की प्रेम-मिश्रित वेदना शत-शत अभिव्यक्तियों में फूट पड़ी है। उसमें कामना की व्यंजना है :—

'आँखों में है मौन निमंत्रण,
आँखों में नीरव मनुहार।
आँखों में प्रियतम का आना,
और पहनना आँसू हार॥'

उसमें प्रेम की अभिव्यक्ति भी है :—

'भागे, क्या भागोगे निष्ठुर, पुतली के बन्दी मेरे!
आँखों में ताला देकर मैं, रखूँगा तुमको घेरे।'

और अश्रु-सिक्त करुणा भी है :—

'पापी जीवन की घड़ियों में
एक सहारा रोना है ।
टूटे-फूटे मुक्ताओं के—
जल से पलकें धोना है ।'

उसमें वेदना से समझौता भी है :—

'मत छीनो सुख छलिया,
दुख ही सुख है, रहने दो ।
जीवन की सूनी घड़ियों में,
करुण-कहानी कहने दो ।।'

और अन्त में वेदना का राज्य भी है ।[1]

महादेवी वर्मा की आध्यात्मिक वेदना और परोक्षसत्ता की पर्याय पीड़ा तथा प्रेमीजी की वेदना और पीड़ा एक ही वस्तु है । महादेवी का दर्शन ही 'प्रेमीजी' की 'जादूगरनी' का दर्शन है । यही कबीर का दर्शन है । 'जादूगरनी' की भूमिका में प्रेमीजी लिखते हैं :—

'कबीर ने माया को 'महाठगिनी' कहा है । इसी ठगिनी माया को मैंने 'जादूगरनी' कहा है । इसी जादूगरनी के विविध रूपों को शब्दों द्वारा अंकित किया है । ......'यही माया प्रत्येक भवन में नारी बनकर अपनी अभिराम छवि से आलोक करती रहती है ।' इसीलिए कबीर की भावना को अपने नाटकों में कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है :—

'एक मनोरंजन था विधि का,
जिसने दिया तुझे आकार ।
अपने जाले में मकड़ी-सा,
पर फँस गया स्वयं कर्तार ।'

और

'घर-घर में तेरी ही प्रतिछवि,
करती है आलोक अनूप ।
अगणित अणुओं में बँट जाता,
एक महत्तम नारी रूप ।।'

---

१. डा० सुधीन्द्र : आधुनिक कवि : पृष्ठ १५६-१६०

वास्तव में विश्व के कण-कण में 'अणो रणीयान् महतो महीयान' वस्तु में उसी शक्ति की छाया कवि ने देखी है :—

'तू चिर-सुन्दर, विश्व-विपिन में
खिलती है, देती मधु दान ।
जो मधुदान जगत की ज्वाला—
को करता है शन्ति प्रदान ।'

सृष्टि के अणु और विराट् क्रिया-व्यापार उसकी प्रेरणा और इंगित से गतिशील हैं :—

'रवि के चारों ओर घूमते,
जैसे ग्रह-उपग्रह अविराम ।
तुझे घेरकर घूम रहे हैं,
जग के प्यासे नयन सकाम ॥'

इसी प्रकार महाकाव्य 'कामायनी' में प्रसादजी ने भी लिखा है :—

'विश्वदेव सविता या पूषा, सोम-मरुत चंचल पवमान,
वरुण आदि सब घूम रहे हैं, किसके शासन में अम्लान ।
महानील इस परम व्योम में, अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान ।
ग्रह-नक्षत्र और विद्युत्कण, किसका करते-से सन्धान ।'

उसी विराट् का संकेत इन पंक्तियों में भी मिलता है :—

'कण-कण 'चलो-चलो' कह उठता,
क्षण-क्षण लगता काल-समान ।
त्रिभुवन की विराट् वीणा में,
जब बजता तेरा आह्वान ।।'

उसका रूप-सौन्दर्य जगत् के कण-कण पर सम्मोहन का जाल बिछाता है :—

'री सौन्दर्य, मधुरिमा बनती—
तू बन्धन करुणा-धारा ।
फिर भी तेरा रूप जगत् को
लगता है कितना प्यारा ॥'

और कवि ने उस अनन्त सौन्दर्य की जिज्ञासा प्रकट की है :—

'कौन देखता पट के पीछे,
दो प्यासे नीरव लोचन ।
एक अनन्त अतृप्त कामना,
एक हृदय, उन्मद यौवन ॥'

कवि को यह रहस्यात्मक अनुभूति होती है कि उसी सत्ता के लीला-विलास से ही सृष्टि के विविध व्यापारों—जन्म और मरण, सृष्टि और विनाश की संघटना होती है। और पृथ्वी और आकाश संसार के पदार्थ उसके प्रेम से अभिभूत रहते हैं। इस प्रकार 'जादूगरनी' में विश्व-रहस्य के अद्भुत संकेत हैं।[1]

'जादूगरनी' के दर्शन ने उन्हें 'अनंत के पथ पर' अग्रसर किया। 'अनंत के पथ पर' के 'प्रवेश' में प्रेमीजी लिखते हैं:—

'यह पुस्तक प्रारम्भ से अन्त तक एक ही कल्पना है। ससीम असीम को—या यों कहो आत्मा ब्रह्म को प्राप्त करने को प्रस्थान करती है। मैंने 'आत्मा' की एक स्त्री के रूप में कल्पना की है। वह एक कुटी में बैठी हुई है—संध्या का समय है—आकाश लाल है—धीरे-धीरे तारे चमक उठते हैं। उसका हृदय न जाने क्यों व्याकुल हो उठता है, जैसे कोई उसे बुला रहा है। वह अपनी कुटी छोड़कर चल पड़ती है। मार्ग में उसे नदी, तालाब, वन, उपवन, समाधि, समाधि का दीपक आदि अनेक वस्तुएँ मिलती हैं। वे सब मानो उसे कुछ कह रहे हैं। वह 'मुझे कहाँ जाना है, मुझे कहाँ जाना है, सोचती भटकती रहती है। प्रभात के समय एक नाव लेकर सिन्धु में बह पड़ती है। अन्त में उसे ज्ञात होता है कि वह तो इतना दूर नहीं है कि उसे खोजने कहीं जाना पड़े।'

इस विज्ञप्ति से स्पष्ट है कि प्रेमीजी समकालीन रहस्यवादी भावनाओं से प्रभावित हैं। 'अनन्त के पथ पर' उनकी अलौकिक प्रेम की व्यंजना है। यहाँ कवि की आध्यात्मिक अनुभूति स्पष्ट हो उठती है। श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने लिखा था—'इसमें कविता भी है और आध्यात्मिक ज्ञान भी है।' श्री माखनलाल चतुर्वेदी, श्री रामनाथलाल 'सुमन' और श्री मिलिन्दजी के विचार से इस पुस्तक में उपनिषदों की झलक है, अत्यन्त सरल और सरस।

"विश्वात्मा की प्रणयानुभूति करते हुए प्रेमीजी 'अनन्त के पथ पर' बड़ी दूर तक गये हैं। 'अनंत के पथ पर' का कवि छायावाद के भाव-लोक से रहस्य की ओर बढ़ा है; उस सीमान्त पर सन्ध्या की नीलाकाश पर छिड़की हुई कुंकुम की लालिमा कवि-आत्मा के भाव-प्रवण मानस में अपने किसी की स्मृति जगा देती है। यह वही अज्ञात अदृश्य प्रियतम है जो रहस्यवादियों का लक्ष्य होता है।" 'स्मृति' किसी ज्वाला को भड़का देती है, फिर तो कवि की आँखों में—

'ब्रह्मांड अखिल करता है नर्तन आँखों में मेरी।
रवि, शशि, तारे देते हैं, मेरे प्राणों में फेरी॥'

एक छाया-सी, धुँधलेपन-सी, विस्मय-सी, कौतूहल-सी, कुछ जिज्ञासा, कुछ गूढ़ पहेली, कुछ खोज, कुछ पागलपन, कुछ कम्पन, कुछ प्रेम-पुलक, कुछ व्याकुलता

---

१. डा० सुधीन्द्र: आधुनिक कवि, पृष्ठ १६२

और विरह-कथा की अनुभूति-सी अन्तर्मन पर छा जाती है। फिर मन की जो दशा होती है वह कवि के शब्दों में यों है:—

"यह हृदय न जाने किसकी सुधि में बेसुध हो जाता।
छिप-छिपकर कौन हृदय की वीणा के तार बजाता॥"

और नभ के पर्दे के पीछे से कोई संकेत दिखाई-सुनाई देते हैं:—

"नभ के पर्दे के पीछे करता है कौन इशारे?
सहसा किसने जीवन के खोले हैं बन्धन सारे?"

और कवि की आत्मा उस ओर अनुसन्धान के पथ पर चल पड़ती है। ऐसा जान पड़ता है कि चिरन्तन प्रेम और प्रणय विस्मृति से स्मृति में आ जाता है और अभाव की सृष्टि होने लगती है। फिर स्वप्न आते हैं, उस प्रिय का देश पुतलियों में घूमने लगता है—जहाँ इन्द्रधनुष है, भूकम्प है, प्रभंजन है, जहाँ सृजन है और सर्वनाश भी है—

'उस पार क्षितिज के मानो प्रियतम का स्वर्ण महल है।
'छलना' से जहाँ मरुस्थल देता न दिखाई जल है।'

फिर कवि का विरह शत-शत धाराओं में फूट पड़ता है। परिचित प्रेम की कहानी कानों में सुनाई देने लगती है:—

'परिचित-सा प्रेम हृदय में जाने क्या-क्या है गाता?
अन्तर में जैसे कोई कुछ बीती कथा सुनाता।'

विरह की मार्मिक व्यंजना होने लगती है:—

'कहता है दीप समुज्ज्वल यों तिल-तिल हृदय जलाना।
फिर कभी-कभी विस्मृति के हाथों क्षण भर बुझ जाना॥'

प्रियतम का घर दूर है। उसके मिलन का अभिसार रहस्यवाद में सफल नहीं होता। सफल नहीं होता यह सत्य है, किन्तु अद्वैत की भावना बनी रहती है:—

'इच्छा होती है तोड़ूँ अब तू मैं की दीवारें।
द्रुत तोड़ द्वैत के गिरि को मिल जावें दोनों धारें।'

स्पष्टतया हम देखते हैं कि प्रेमीजी का जो रहस्यवाद माधुर्यभाव की धूमिल व्यंजना से आरंभ हुआ था, दर्शन की भूमि पर जाकर आलोकित होता है।"[1]

किन्तु प्रेमीजी कोरे अध्यात्म को जीवन में उतारकर चलनेवाले नहीं हैं। इस जगत् की विषमताओं ने भी उनकी वेदना को झकझोरा है। 'जिस समय 'प्रेमी' ने लेखनी उठाई, भारतीय रंगभूमि पर महात्मा गाँधी द्वारा संचालित असहयोग-आंदोलन वेग पर था, राष्ट्रीय-भावना जन-जन के हृदय में स्पन्दित हो रही थी; बल और बलि के अनुष्ठान हो रहे थे। तब कवि ने युग की प्रेरणा को एक गीति-रूपक में

१. डा० सुधीन्द्र : आधुनिक कवि, पृष्ठ १६४-१६५

प्रस्तुत किया । वह गीति-रूपक था स्वर्ण-विहान । स्वर्ण-विहान में एक काल्पनिक कथा है, उसमें असहयोग आन्दोलन के किसान की करुण-कहानी के, जेल-जीवन के मार्मिक चित्र हैं ।'[1]

'स्वर्ण-विहान' की क्रान्ति-भावना 'अग्नि-गान' में जाकर मुखर हो उठी। कवि 'अनन्त पथ पर' से हटकर एकदम 'अग्नि-गान' गाने के लिए अनल-वीणा उठा लेता है । कवि को अपने मध्यमवर्ग की क्षुधा और तृष्णा व्याकुल करने लगी। शोषण के विरुद्ध उसने आवाज़ तो उठाई लेकिन हिंसक पग नहीं उठाया । गाँधीवादी दर्शन से वह प्रभावित हुआ और गीता के आदर्श 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' को मान कर चला अपनी 'अमर-ज्योति' कविता में कवि ने गायाः—

'अमर अनल-पक्षी हूँ मैं तो,
मुझको मरने का क्या भय है ?
मेरी राख जी उठे फिर से,
होता जग को क्यों विस्मय है ?'

कवि ने बलिदान की महत्ता को समझा और अनुभव किया कि बलिदान के आगे शोषण एक दिन स्वयं घुटने टेक देगा । इसलिए उसने गायाः—

'स्वागत, शीश काटनेवाले, स्वागत मुझे मिटानेवाले !
दे तलवार मुझे, मैं भर दूँ अपने ही लोहू से प्याले ।
मुझे जलाने को आये हो अपनी आग बुझानेवाले ?
देखो, तन में नवजीवन पा हँसते शीश चढ़ानेवाले ।
दीपक से दीपक जलता है
ज्योति अमर मा के मन्दिर की ।
तुम दीपक की ज्योति बढ़ा दो
बत्ती काटो मेरे सिर की ॥'

समाज में फैली आर्थिक विषमता के विरुद्ध कवि चिनगारी सुलगाना चाहता है । शोषितवर्ग को जागरण का सन्देश देती हुई उनकी चिनगारी कहती हैः—

'जो सुख की शैया पर सोते मुझको उनसे काम नहीं है ।
मुझे उन्हीं से कुछ कहना है, जिन्हें प्राप्त धन-धाम नहीं है ॥
मुझे उन्हें आँखें देनी हैं, निज अभाव जो देख न पाते ।
जो जुल्मों को भाग्य समझकर निर्विकार हो सहते जाते ॥
मुझे विभव का क्या करना है—
मैं तो उसका नाश करूँगी ।
आज तुम्हारे प्राणों में मैं
सर्वनाश का राग भरूँगी ॥'

---

१. डा० सुधीन्द्र : आधुनिक कवि, पृष्ठ १५८

समय के प्रति प्रेमीजी ने अपने कर्तव्य को सदा पहचाना है। किन्तु वे उसके ही होकर नहीं रह गये हैं। कविता की स्वाभाविक भूमि को उन्होंने देखा-भाला है। वे यह बात भली प्रकार जानते हैं कि राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के बदलते ही इस प्रकार के साहित्यिक ग्रन्थों के महत्त्व में कमी आ जाती है। इसलिए उन्होंने अपनी कविता की भूमि बड़ी विस्तृत रखी है। भाँति भाँति के उतार-चढ़ाव उनके रागों में हैं। रूप, प्रीत और यौवन की अनुभूतियाँ भी वे व्यक्त करते हैं। 'आँखों में', 'अनंत के पथ पर' और 'जादूगरनी' की रहस्य-भावना के पीछे जो प्रेम की आकुलता थी उसे व्तक्त करने के लिए अभिव्यक्ति के क्षेत्र में प्रेमीजी ने पुनः प्रयोग आरंभ किया। रूप-दर्शन इसकी गवाही है। इसकी भूमिका में उन्होंने कहा है:—

'रूप-दर्शन की रचनाएँ अपनी लाघवता के कारण भी शायद पाठकों को पूर्ण सन्तुष्ट न कर पायें, किन्तु यह मेरा एक प्रयोग है।........उर्दू की ग़ज़ल और हिन्दी के गीत का सम्मिश्रण मैंने इन रचनाओं में किया है। गीत की प्रत्येक दो पंक्तियों का जोड़ा अपने आपमें पूर्ण है, लेकिन अपूर्ण भी है; क्योंकि आगे की पंक्तियों में संबंध भी क़ायम है। मैं जानता हूँ कि मैंने बचपन किया है, क्योंकि प्रत्येक नया प्रयोग बचपन ही होता है—लेकिन मैं अपने बचपन से लज्जित नहीं हूँ, क्योंकि अनेक बार बचपन भी अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाओं को जन्म देता है।'

'रूप-दर्शन' में सरलता, सादगी, स्वाभाविकता और सीधापन है। यह उनकी कविताओं का संग्रह सचित्र भी है। यह कविता-संग्रह प्रेम की सरस अभिव्यक्ति है। प्रेम मूक है, प्रेमी मूक है, प्रेमास्पद मूक है और प्रेम की अभिव्यक्ति मूक है। इस दर्शन को कवि इन शब्दों में कहता है:—

'किसी से हम नहीं कहते, किसी को प्यार करते हैं।
नज़र से जब नज़र मिलती चमक पड़ती तड़ित सहसा,
हृदय के तार चिर नीरव मधुर झंकार करते हैं।
किसी छवि के पुजारी हैं, न मुँह तक बात आ पाई,
मगर दिल में किसी की हम बहुत मनुहार करते हैं।
नज़र तो पूछ लेती है, हमें दिल में जगह दोगे,
न वह इक़रार करते हैं, न वह इनकार करते हैं।
न इसका भेद खुल पाया, तभी तो रूप प्यारा है,
हटाते हैं न वह घूँघट, बड़ा उपकार करते हैं।'

प्रेमीजी के काव्य की बड़ी खूबी यह है कि चाहे उन्होंने वेदना के गीत गाये हों, चाहे अध्यात्म के और चाहे निर्धनता के, किन्तु निराशा को कहीं भी अपनाया नहीं है। प्रायः प्रेम का गीत गानेवाले तो निराशा को कंठ से लगाया करते हैं,

खासकर जब वे उर्दू-कविता से प्रभावित होते हैं। किन्तु प्रेमीजी ग़ज़ल का प्रभाव लेकर चलने पर भी एक विजयी खिलाड़ी की भाँति आशा और साहस से आगे बढ़ते हैं:—

'चल खिलाड़ी, बढ़ खिलाड़ी, दूर होगा यह अँधेरा !
रात-दिन का चक्र चलता है जगत् में रात-दिन ही,
इस निराशा की निशा के बाद आयेगा सवेरा।
तू अमर है और बन्धन विश्व के अस्थिर अचिर हैं,
मुक्ति के आकाश में उड़ बन्धनों का तोड़ घेरा।
स्वप्न की दुनिया हुई है राख तो फिर से बसाले,
जिन्दगी में डालने दे तू निराशा को न डेरा।
विश्व में मत खोज साथी ढूँढ मत कोई सहारा।
कर भरोसा तू स्वयं पर तो बनेगा विश्व तेरा।।'

'रूप-दर्शन' जीवन की यथार्थता का चित्र है। अनुभूतियाँ गहरी और अभिव्यक्ति सरल, यही तो इस संग्रह की विशेषता है। स्वयं कवि के शब्दों में—'रूप-दर्शन' के गीत तो केवल रात में जलकर प्रकाश देनेवाले द्वीप नहीं हैं। सामयिकता और उपयोगिता की तराज़ू से तोलनेवाली वनिया-बुद्धि इनमें शायद कुछ भी न पाये। 'रूप-दर्शन के गीत' रूप (सौन्दर्य) प्रीत और यौवन की वे अनुभूतियाँ हैं जो मानव-हृदय में सृष्टि के आदिकाल से झंकृत हो रही हैं और अनन्तकाल तक होती रहेंगी, जो एक सम्राट् के हृदय में नृत्य करती हैं तो एक भिक्षुक के हृदय में भी।'

'प्रतिमा' कविता-संग्रह को स्वयं कवि ने स्नेह का निर्झर कहकर पुकारा है। प्रेम के सम्बन्ध में प्रेमीजी ने इसमें अनूठी उक्तियाँ कही हैं। पहली कविता प्रतिमा में लिखते हैं:—

'मैं तो स्वयं दीप बन जलता, स्वयं जला लेता अपने को।
युग-युग से कर रहा प्रकाशित, अमर-स्नेह के मृदु सपने को।
जगत् मुझे भी मान मूर्त्ति ही मुझ पर फूल चढ़ा जाता है।
सच बतलाओ देवि, प्रेम क्या नर को मूर्त्ति बना जाता है ?'

इस संग्रह में प्रेमी रावण, छवि का बन्दी, बंसी, बेचैनी के प्याले आदि कविताएँ बहुत ही मर्मस्पर्शी हैं। 'शिकारिन से' कविता तो बहुत ही प्रसिद्ध हुई थी। एक प्रकार से इसमें 'जादूगरनी' का दर्शन साकार हो उठा है। लौकिक और अलौकिक द्वन्द्व इस कविता की विशेषता है। 'अग्नि-गान' की भाँति इसमें भी छः-छः पंक्तियों के ग्यारह-ग्यारह पदों की कविताएँ हैं।

'वन्दना के बोल' में गाँधीजी और उनके आदर्शों पर आधारित कविताएँ

संग्रहीत हैं। ये कविताएँ क्यों लिखी गई हैं, इनके सम्बन्ध में कवि की सफाई है:—'गाँधी गया, किन्तु उसकी आवश्यकता नहीं गई; इसलिए कवि के उच्छ्वासों के बादलों ने उसकी तसवीरें खींची हैं।' प्रेमीजी गांधी-दर्शन के प्रति आरम्भ से ही आस्थावान् रहे हैं, अतः गांधीजी के सम्बन्ध में कवि की बाँसुरी वन्दना के बोल गाती है तो क्या आश्चर्य ?

कवि ने यमुना को यह पुस्तक समर्पित की है और लिखा है:—'जिसकी गोद में विश्व-हृदय का राजा सो रहा है, जिसके वचन वायु में उड़ रहे हैं, और जिसका जीवन जग-जीवन में बह रहा है।' स्पष्ट है कि इस संग्रह की कविताओं में गाँधीजी का मानवतावाद और सर्वात्मवाद पृष्ठ-भूमि का काम देता है।

गांधीजी के आविर्भाव के सम्बन्ध में कवि ने भिन्न-भिन्न कविताओं में इस प्रकार विचार व्यक्त किये हैं:—

'व्याप्त अग-जग की रगों में,
विष हुआ भीषण घृणा का,
कौन मधुमय आ गया तब
प्रीत का प्याला पिलाने ?

× ×

नाश की लपटें लपक संसार को खाने लगीं, तब
ताप हरने आ गया कल्याण पृथ्वी पर उतरकर।'

इस संग्रह में कहीं गांधीजी को पारस, कहीं नवयुग की मुसकान, कहीं युग-चेतना, कहीं जग-जीवन, कहीं मधुर मधुमास और कहीं जगद्गुरु कहकर पुकारा गया है। 'वन्दना के बोल' में गाँधीजी का समस्त कृतित्व बोला है। गांधीजी के विभिन्न रूपों की चर्चा कविताओं में की गई है। सर्वोदय, चर्खा-चक्र, खादी की शक्ति, हरिजन-बन्धु, किसान-बन्धु, मज़दूर-मित्र, नारी-उद्धारक आदि कविताएँ गांधीजी के जन-आन्दोलनों को प्रतिध्वनित करती हैं। जितने नाम-रूपों में कवि गांधीजी की वन्दना कर सकता था, की है। आप चाहें तो इसे गांधी-सहस्रनाम या गांधी-गीता कह सकते हैं। दीप-निर्वाण, अमर-जीवन, अन्तिम दृश्य आदि कविताओं में बापू के महाप्रयाण की चर्चा कर उनकी अमरता का यशोगान किया गया है।

प्रेमीजी ने 'वन्दना के बोल' में जिस छन्द को अपनाया है वह गीत और ग़ज़ल के सुन्दर सामंजस्य को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार की रचनाएँ प्रवाह, प्रभाव, सरलता और लोक-प्रियता की दृष्टि से निश्चय ही उत्तम हुआ करती हैं।

'वन्दना के बोल' से ही संभवतः प्रेमीजी का झुकाव ग़ज़ल लिखने की ओर गया। 'रूपदर्शन' की ग़ज़लों की चर्चा हम पीछे कर आये हैं। बाद में जो ग़ज़लें आपने लिखीं उनका संग्रह 'रूपरेखा' नाम से है। 'रूपदर्शन' की अपेक्षा 'रूपरेखा'

की ग़ज़लें श्रेष्ठतर हैं। 'रूप-दर्शन' में प्रेम की जमुना बहती थी तो 'रूपरेखा' में परिस्थितियों की विषमताओं से चोट खाये हृदय का आकुल क्रन्दन है। उसमें हृदय का आह्लाद था तो इसमें विषाद और अवसाद है। एक प्रेम का पहला छोर है तो दूसरा उसका अन्तिम छोर। 'रूपरेखा' की ग़ज़लों में अनुभूति की गहराई है, एक तड़प, एक कसक और एक व्यथा है, जैसी 'आँखों में' के कवि में थी।

'किसी को प्यार करता हूँ', शीर्षक ग़ज़ल में कवि ने प्रेमी-हृदय की स्वाभाविक वृत्तियों और संसार की आलोचक निगाहों का बड़ा सजीव एवं सटीक चित्र उतारा है:—

'जवानी फूल-सी खिलती, हृदय अलि-सा मचलता है,
अगर गुंजार करता हूँ, बड़ा अपराध करता हूँ।
छुपकर तुम पियो जीभर नहीं आपत्ति दुनिया को,
मगर स्वीकार करता हूँ बड़ा अपराध करता हूँ।
किनारों पर जमा आसन तरंगें लोग गिनते हैं,
मगर मैं पार करता हूँ, बड़ा अपराध करता हूँ॥'

प्रेमीजी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व इन ग़ज़लों में उभर गया है। आप चाहें तो इन्हें उनका दर्पण कहलें, चाहें तो जीवन अथवा आत्मचरित का काव्य कह लें। बड़े-से-बड़े तूफ़ानों में भी वे हँसते-मुसकराते आगे बढ़ते गये हैं। हर परिस्थिति का उन्होंने धैर्य, साहस और सन्तोष के साथ मुकाबला किया है। संकटों को तो वे स्वाभाविक आवरण की भाँति धारण कर लेते हैं। उनके संकट में लोग घबरा जाते हैं, प्रश्न करते हैं, अब क्या होगा ? किन्तु प्रेमीजी हैं कि चिन्ता नहीं करते। उनके इसी व्यक्तित्व की झलक इन ग़ज़लों में है। देखिए :—

'हाय काले बादलों में छुप गए नक्षत्र सारे ही,
किन्तु प्राणों ने लगन की ज्योति का वरदान पाया है।
वायु है विपरीत मेरे नाव छोटी डगमगाती है।
पर प्रलय से भी लड़े ऐसा हृदय बलवान पाया है।
आज पहली बार ही मैंने नहीं देखा अँधेरे को,
यह अँधेरा तो सदा नवप्रात की मुसकान लाया है।
बिजलियों ने गिर गगन से जब महल मेरे गिराये हैं,
घोंसले में बैठ आशा ने खुशी का गान गाया है।'

'रूपरेखा' की रचनाएँ सन् १९५८ के अन्त में लिखी गई हैं। यह वह समय था जब प्रेमीजी के आस-पास के लोग जालन्धर में अपने मकान बना रहे थे, स्थायी निवास की योजना बना रहे थे और प्रेमीजी अपनी बड़ी गृहस्थी का भारी बोझ

अनजाने पथ की ओर भविष्य की अन्धी नौका पर लाद रहे थे। रेडियो की नौकरी छोड़ दी थी और कोई भी काम हाथ में लिए बिना।

जगत् की लांछना, अपमान, तिरस्कृति, धिक्कार की कभी उन्होंने परवाह नहीं की। 'चल रहा हूँ' की कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

'कौन जाने भूमि ऊँची या कि है आकाश ऊँचा,
मैं सरों पर चढ़ रहा हूँ दृष्टियों से गिर रहा हूँ।
प्रीत की ऊँची नज़र है, रूप की नीची नज़र है,
मैं नज़र ऊँची नज़र नीची नज़र को कर रहा हूँ।'

प्रेमीजी की ये रचनाएँ प्रेम-वेदना और अनुभूति की रचनाओं में निश्चय ही अपना ऊँचा स्थान बनायेंगी।

प्रेमीजी की काव्य-सरिता विविध धाराओं और दिशाओं में होकर बही है। आपने मुक्तछन्द में भी अनेक रचनाएँ की हैं, जिन्हें आप फुटकर रूप में प्रकाशित पा सकते हैं। ये रचनाएँ लम्बी हैं, किन्तु अपने भीतर एक पूरा इतिहास छिपाये हुए हैं। आपकी मुक्तछन्द में लिखी रचनाओं में 'करना है संग्राम', 'बेटी की विदा', 'बहन का विवाह' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन कविताओं में क्रांतिकारी विचार प्रकट किये गए हैं। ये कविताएँ ऐसे क्षणों में लिखी गई हैं, जब भावनाओं का उद्रेक अपनी चरमसीमा पर पहुँच गया है और छन्दों की नपी-तुली सीमा को सहना कवि के लिए असंभव हो गया है। 'बहन का विवाह' से एक उदाहरण लीजिए :—

'मैं छट-पटा रहा,
जिस भाँति छटपटाता शर खाकर पंछी,
जैसे मीन तड़पती है पानी के बाहर,
जैसे पतिव्रता नारी,
व्याकुल होती है पति के स्वर्गवास से,
जैसे एक स्वतंत्र देश के
सैनिक के प्राणों में जलती है ज्वाला
जब उसका देश पराधीन होता है,
अपने किसी देशवासी के ही विश्वासघात से,
जैसे राणा सांगा व्यथित हुए थे
जीती बाजी हार गये थे
जबकि युद्ध के बीच
ग्वालियर का तोमर राजा
था मिल गया अचानक बाबर से जा।

यह देश हाय रे
धोखेबाजों का है ।'

इसमें काव्य भी है और इतिहास भी, कवि की आत्मा का विद्रोह भी है और व्यथा भी । 'बहन का विवाह' कविता वास्तव में हमारे सम्पूर्ण समाज की व्याख्यापूर्ण गाथा है । कवि के जीवन का विद्रोह, पूरी झुँझलाहट इसमें साकार हुई है। एक ओज, एक आक्रोश, एक ललकार, एक इरादा, एक नेतृत्व, एक क्रान्ति, एक ज्वालामुखी, एक आँसुओं का समुद्र आपको इस कविता में मिलेगा ।

अपने क्रांतिकारी विचारों को बड़े उद्दाम वेग और प्रवाह तथा प्रभाव के साथ 'बेटी की विदा' में व्यक्त किया है ।

'नहीं पुरातन परिपाटी का
पोषक मैं, तुम इसे जानतीं
भारत का अभिशाप बना है रूढ़िवाद
हम उसको नष्ट करेंगे
तभी देश आगे जावेगा ।'

तथा

'और चाहता हूँ मैं अब भी
लड़ना विश्व-विषमताओं से ।
इस युग का युग-पुरुष हृदय में ।
जाने क्या भर गया, कि मुझको
चैन नहीं मिलता है क्षणभर !
खड़ी हुई ऊँची दीवारें
मानव से मानव को
करती हैं जो दूर निरन्तर ।
धर्म, जाति, विश्वास सड़े-से,
परम्पराएँ,
मर्यादाएँ,
गर्व रक्त का,
और न जाने क्या-क्या
बाँट रहे मानवता को जो
करना है निर्मूल उन्हें अब,
मानवमात्र एक हों जिससे ।'

'बेटी की विदा' कविता में 'आँखों में' की वेदना, 'जादूरनी' और 'अनन्त के पथ पर' का आध्यात्मिक दर्शन, 'अग्नि-गान' की क्रान्ति, 'प्रतिमा' का प्रेम और

'वन्दना के बोल' का गाँधी-दर्शन, राष्ट्र-प्रेम और सर्वात्मवाद एक साथ साकार हो उठा है। एक उदाहरण देकर इस प्रकरण को समाप्त करता हूँ:—

'नश्वर तन का मोह न करना,
इसके सुख के लिए न विचलित
होना अपने कर्त्तव्यों से।
तुम पुत्री हो भारत माँ की
तुम प्रतिनिधि हो मानव की,
भारत का अधिकार तुम्हारे जीवन पर है,
मानवता का कर्ज़ तुम्हारे जीवन पर है,
तुम्हें नहीं अधिकार कि इससे बचना चाहो।
तन मिट्टी है,
जीव ब्रह्म है,
है मिट्टी का मूल्य, तभी तक
जबतक उसमें बसा ब्रह्म है,
जिसका परिचय जग-हित करना।
जग-हित में ही अपना हित है,
मानवता का यही भेद है।
अपने लिए न करना संग्रह
धन-वैभव का,
करना तो, न्योछावर करना
उनके लिए, अभावों से जो
पीड़ित हैं, जो तरस रहे हैं।'

तेरह

प्रेमीजी : विचारक के रूप में

प्रेमीजी केवल नाटककार, कवि और संस्मरण लेखक और हास्य-वार्ता के स्रष्टा ही नहीं हैं; वे स्वतंत्र विचारक भी हैं। उन्होंने केवल लिखने के लिए नहीं लिखा है; व्यवसाय या प्रसिद्धि की भावना से भी नहीं लिखा है, उनका एक निश्चित उद्देश्य है, उस तक पहुँचने के लिए उन्होंने शुद्ध बुद्धि से विचार किया है। अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए उन्होंने पृथक् रूप से कोई निबन्ध नहीं लिखे हैं। विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम रहे हैं उनके नाटकों के पात्र। स्वतंत्र रूप में उन्होंने अपने विचार प्रकट किये हैं अपनी पुस्तकों की भूमिकाओं में। ये विचार कला और साहित्य के सम्बन्ध में हैं। इनकी जानकारी भी अपेक्षित है। इनसे एक तो प्रेमीजी के साहित्य को समझने में सुविधा रहेगी, दूसरे साहित्य-मंच पर पग रखनेवाले नवीन साहित्यकारों को दिशा-ज्ञान भी होगा।

यह प्रचार का युग है। कला हो चाहे धर्म, सभी का प्रचार होता है। सभी प्रचार की तुला पर तुलता है। किन्तु प्रेमीजी इस तुला की ओर अधिक ध्यान नहीं देते। कहते हैं :—

'प्रचार और कला की सीमा को मैं पहचानता हूँ। यदि साहित्यिक श्रेष्ठ विचार नहीं देता—केवल मनोरंजन की भूख मिटाता है तो उसकी सेवाओं का अधिक मूल्य नहीं है। साहित्यिक की लेखनी की रेखाओं से युग का निर्माण होता है। साहित्य द्वारा समाज के संस्कार बनते हैं। ललित-साहित्य का संस्कृति के निर्माण में बड़ा हाथ है। समाज की विषमताएँ ही तो उनके लिए साहित्य का मसाला देती हैं। ललित साहित्य के द्वारा समाज की जटिल समस्याओं पर प्रकाश पड़ना चाहिए।'

वर्तमान युग में यथार्थवाद और प्रगतिवाद की भी बड़ी धूम रही है। प्रेमीजी ने भी यथार्थवाद को अपनाया है किन्तु इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि यथार्थवाद के नाम पर समाज के गंदे अंगों का चित्र खींच देना साहित्य का उद्देश्य नहीं है।

प्रगतिवादियों ने रूढ़िवाद का अंधाधुंध विरोध किया और पाश्चात्य साहित्य-परम्परा का अनुगमन किया है। प्रेमीजी ने इस क्षेत्र में भी स्वतन्त्र विचार से काम लिया। उन्होंने कहा :—

'प्रगतिवाद के नाम पर प्रत्येक प्राचीन संस्कार के विरुद्ध युद्ध का डंका आज के अनेक साहित्य-सेवियों ने बजाया है। मैं प्राचीन कूड़े-कर्कट का पोषक नहीं हूँ।

फिर भी प्राचीन होने के कारण ही कोई चीज बुरी नहीं है, यह मैं मानने को प्रस्तुत नहीं हूँ। हमें अपने समाज के सब नियम और संस्कार आज की आवश्यकता की कसौटी पर कसने हैं। जो हमारे राष्ट्र-निर्माण में सहायक हों, उन्हें स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। प्रत्येक देश की अपनी आवश्यकताएँ होती हैं। जो वस्तु या विचार यूरोपवासियों के लिए उपयोगी और लाभप्रद हैं, वह भारत के लिए भी वैसे ही होंगे, यह विचार भ्रम से खाली नहीं है। असंगत और उच्छृंखल 'भौतिकवाद' यूरोप को भीषण स्वार्थपरता और भयंकर हिंसावृत्ति की ओर ले गया है। संपूर्ण सांसारिक वैभव की प्राप्ति के बाद भी वहाँ सुख-शान्ति नहीं है। फिर क्यों हम उनका अनुकरण करके अपनी मानसिक कंगाली का परिचय दें।

साहित्य को प्रेमीजी एकांगी बना देना नहीं चाहते। वे उसकी व्यापक भूमि के प्रति आग्रहशील हैं। वे कहते हैं:—'साहित्यकार एकांगी हो जाय ऐसा तो मैं नहीं मानता। उसे प्रत्येक दिशा में अपनी प्रतिभा का प्रयोग करना चाहिए।...... बहुत-सा साहित्य कवि अपने ही लिए लिखता है—या कह लो 'स्वान्तः सुखाय' लिखता है, किन्तु वह 'स्वान्तः सुखाय' कब 'संसार के सुख के लिए' बन जाता है, इसे साहित्य-स्रष्टा स्वयं नहीं जान पाता। केवल कारीगरी प्रदर्शित करके प्रशंसकों से प्रशंसा पाकर निहाल होने के लिए साहित्य-सृजन का युग आज नहीं है। साहित्य को इतना संकुचित और सीमित बनाना उसके पंखों को काट डालना है। कोई एक दिशा में बहुत ऊँचा उड़कर गया है, हमें उसकी भी प्रशंसा करनी चाहिए किन्तु जो उस दिशा में जाते हैं, जिस दिशा में जाने को युग की माँग है वे भी प्रशंसनीय हैं। हमें उनका भी अभिनंदन करना चाहिए।'

साहित्य की रचना के लिए प्रेमीजी दृढ़ आधार की आवश्यकता पर बल देते हैं:—'छज्जों के कंगूरे सजानेवाला कलाकार नींव के रोड़ों को व्यर्थ नहीं कह सकता। बिना दृढ़ आधार के हमारा समाज, हमारी संस्कृति, हमारी राष्ट्रीयता और हमारी मानवता खड़ी कैसे रह सकती है!'

साहित्य में किसी प्रकार की गुटबन्दी या वर्गवाद के आप समर्थक नहीं हैं। लिखते हैं:—'साहित्य के क्षेत्र में भी लघुता और महानता की सीमाएँ आज दिखाई देती हैं। हम अपने समाज की भाँति साहित्य के क्षेत्र में भी जातियाँ बनाकर उसकी एकरूपता को नष्ट कर देना चाहते हैं।'

विस्तृत दृष्टिकोण से ही प्रेमीजी ने सोचा है। साहित्य और कला को वे किसी भी दशा में संकुचित सीमाओं में रखना नहीं चाहते। एक बार नहीं, अनेक बार उन्होंने दुहराया है:—

'साहित्य और कला का ध्येय जीवन को प्रकाश देना, बल देना और प्रगति-पथ पर अग्रसर करना है—इस सिद्धान्त को मैं मानता हूँ। किन्तु इतने सीमित क्षेत्र

में भारती को बन्दी नहीं रखा जा सकता। स्वजीवन के अतिरिक्त विश्वजीवन भी अन्तर्जगत् के साथ ही बाह्य जगत् भी काव्य और कला के विषय हैं।'

'कला में महानाश की ज्वाला प्रज्वलित करने की क्षमता है और अमृत की वर्षा करने की भी। कला आवश्यकता की प्रेरणा से कराला काली बनकर महानाश का तांडव नृत्य भी कर सकती है तो प्रीति की तरंगें उठानेवाला लास्य भी।'

'कला मानव-जीवन को समय और परिस्थिति से संघर्ष करने का उत्साह प्रदान करने के लिए अपनी मादक मधुर मुस्कान से आनन्द-विभोर करती है तो वह कल्याणकर ही है।'

'यदि कला नीरस और तप्त मरुस्थल में अपनी हरीतिमा से कुछ क्षणों के लिए पुलकित और हर्षित कर दे तो क्या यह पाप है?'

कला और साहित्य में जिस जीवन की अभिव्यक्ति होती है, इसके सम्बन्ध में प्रेमीजी के विचार इस प्रकार हैं:—

'जीवन अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने का उत्साह तभी पायेगा जब उसकी साँस के धागों को, जो बराबर बनते ही जा रहे हैं, कोई रस-सिक्त करता रहे ताकि वे टूट न जायें। संसार में सरिता के तीर की भी उपयोगिता है तो उसके कल-कल नाद की भी। उपयोगिता के नाम पर विचार और तर्क की भट्टियों पर भावना और कल्पना के नदी-निर्झरों को चढ़ाकर वाष्प बनाकर उड़ा देना क्या नितान्त आवश्यक है?'

साहित्य-जगत् और साहित्यिक के जीवन में उठनेवाली समस्याओं पर भी प्रेमीजी ने ईमानदारी से विचार किया है:—

'साहित्यिक का जीवन कितनी बड़ी कष्ट-साध्य साधना है - यह वही जानता है, जिसने यह जीवन बिताया है। देश को सद्विचार चाहिए—मानसिक स्वास्थ्य चाहिए—आत्मिक भोजन चाहिए—किन्तु जिस व्यक्ति से यह सेवा लेनी है, उसकी कुछ आवश्यकता भी है, इस ओर कौन सोचता है? यदि कोई वास्तविक साहित्य देना चाहता है तो उसे आठों पहर अध्ययन, निरीक्षण और लेखन में डूबा रहना आवश्यक है। जीविका के लिए कुछ और धंधा करे और थके हुए शरीर और मस्तिष्क से अधूरे अध्ययन-निरीक्षण के आधार पर साहित्य दे, तो उसमें पाठकों को क्या मिलेगा? जो अपना खून पीकर साहित्य की सेवा कर रहे हैं:—उनमें से कुछ को यश भी मिल जाता है—किन्तु यश से भौतिक शरीर अपनी शक्ति स्थिर नहीं रख सकता, जिस कार्य के लिए वह संसार में आया है, उसे पूरे मन से वह नहीं कर पाता।

आज हम देखते हैं कि हर कोई व्यक्ति कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार, समालोचक सभी कुछ बन जाना चाहता है। इस पर अपने विचार प्रगट करते हुए प्रेमीजी ने लिखा है:—

'हमारा हिन्दी-साहित्य उन्नति कर रहा है, इसमें शक ही नहीं, लेकिन अभी बहुत-कुछ करना बाक़ी है। एक-एक विषय के अध्ययन और लेखन में संपूर्ण जीवन लगा देने की आवश्यकता है। लेखक सभी ओर हाथ-पैर दौड़ायें इसकी अपेक्षा यह अच्छा है कि एक विषय के विशेषज्ञ बनें।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमीजी केवल सजग साहित्य-सृष्टा ही नहीं, बल्कि वे एक जागरूक, सचेष्ट, स्पष्टवादी और स्वतन्त्रचेता विचारक भी हैं।

चौदह

प्रेमीजी की हिन्दी-साहित्य को देन

किसी भी साहित्य की देन का पता हमें उसकी रचनाओं के परिमाण और उन रचनाओं के स्तर तथा दृष्टिकोणों से चलता है। यह देन वह तभी दे पाता है जब इसके लिए उसमें लगन हो। प्रेमीजी में यह लगन रही है। अपनी विषम-से-विषम परिस्थिति में भी वे लिखते ही रहे हैं। नरक-तुल्य जीवन बिताते हुए भी उन्होंने लिखना बन्द नहीं किया है। 'शिवा-साधना' की भूमिका में वे लिखते हैं :—

'लोग कहते हैं स्वर्ग और नरक दोनों इस जगत् में हैं—जो आज सुख-शान्ति और वैभव का उपभोग कर रहे हैं। वे स्वर्ग में रहते हैं और जो दुःख, दारिद्रय और चिन्ता-ज्वाला में जल रहे हैं, नरक में निवास कर रहे हैं। स्वर्ग की बात मैं नहीं कह सकता, किन्तु जब अपनी वर्तमान परिस्थितियों को देखता हूँ तो ज्ञात होता है कि नरक यही है। वर्तमान परिस्थितियों में भी मा-हिन्दी के मन्दिर में वह नवीन नाटक लेकर उपस्थित हो रहा हूँ—यह आश्चर्य की बात है। जिस स्थिति में दिमाग़ के पुर्जों को ठीक रखना भी असंभव है—मैं कैसे यह पुस्तक लिख सका, यह मेरे लिए भी आश्चर्य की बात है।'

यदि प्रेमीजी लिखते नहीं हैं तो उनके दिल पर एक भार बना रहता है। समय और सुविधा के अभाव में भी वे मा-भारती के चरणों पर अपनी रचनाओं के पुष्प चढ़ाते रहते हैं। 'बन्धन' की भूमिका में उन्होंने लिखा है :—

'नाटक के क्षेत्र में यह मेरी आठवीं भेंट है और मैं समझता हूँ कि अभी तो मेरे हृदय का भार लेशमात्र भी हलका नहीं हो पाया है। जो मैं अनुभव करता हूँ, देखता हूँ, सुनता और सहता हूँ उसे पाठकों के सामने रखने को मेरे पास समय और सुविधा का नितान्त अभाव है।······मैं तो अपने ही प्राणों में से साहित्य की किरणें निकालता हूँ।'

अपनी एक कृति को वे अपने प्राणों का एक टुकड़ा मानते हैं और अपने आपको पूर्णरूप से साहित्य-जगत् को देने को आकुल रहते हैं :—

'यह नाटक आपके सामने है। यह मेरे प्राणों का एक टुकड़ा है। सम्पूर्ण प्राण नहीं। इतना समय न जाने मुझे कब मिलेगा, जब मैं अपने-आपको पूर्ण रूप से आपके सामने रख सकूँगा।'

'उद्धार' की भूमिका में भी अपने हृदय की वेदना प्रकट करते हुए अधिकाधिक साहित्य-सेवा करते रहने की उन्होंने इच्छा प्रकट की थी :—

'एक सुदीर्घ विछोह के पश्चात् फिर 'प्रेमी' एक पुष्प लेकर सरस्वती के मन्दिर में आया है। 'प्रेमी' की हृदय-वाटिका में जब वसन्त का आशीर्वाद था, अनेक कलियाँ सुमन बनी थीं और चयन करके थाल सजाकर देवी के चरणों में चढ़ाने वह आ ही रहा था कि भयानक आँधी आई और उस आँधी में वे पुष्प उड़ गये।

पंजाब की खूनी-तूफानी घड़ियों में मुझे भी अपने कार्य-क्षेत्र पंजाब को छोड़ना पड़ा और मेरी सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति अप्रकाशित पुस्तकों की पांडुलिपियाँ भी वहीं रह गईं। मेरा कवि और लेखक तन-से मूर्च्छित-सा पड़ा हुआ था। सूखी हुई हृदय-वाटिका को फिर से नयन-नीर से सींचकर हरा किया। इसका पहला पुष्प यह 'उद्धार' है। यह पुष्प सरस्वती के मन्दिर में चढ़ाते समय निरन्तर नवीन पुष्पों-सहित आते रहने की अभिलाषा रखता हूँ।'

साहित्य को निरन्तर देते रहने की उनकी इस अभिलाषा का ही सत्परिणाम है कि उन्होंने आज तक लगभग दो दर्जन नाटक, एक दर्जन कविता-पुस्तकें, आधी दर्जन संगीतिकाएँ अथवा आपेरा भेंट किये हैं। इन ग्रन्थों के अलावा बाल-साहित्य, रेडियो-रूपक, संस्मरण, हास्य-व्यंग्यपूर्ण वार्ताएँ तथा झलकियाँ भी आपने हिन्दी-संसार को भेंट की हैं। अभी उनकी साहित्य-साधना जारी है। कोई आश्चर्य नहीं शतायु प्राप्त करने तक वे शताधिक ग्रन्थ हिन्दी-जगत् को दे जायें।

जो कुछ उन्होंने दिया है, उसका अपना एक स्तर है, अपना एक औचित्य है और अपना एक स्थान है। प्रेमीजी के साहित्य ने सम्मान पाया है, छोटे-बड़े सभी से। उनकी पुस्तकें भारत-भर की भिन्न-भिन्न हिन्दी परीक्षाओं में पाठ्य-क्रम के रूप में नियत रही हैं। भारत सरकार, उत्तर प्रदेश की सरकार, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, बंगाल हिन्दी मंडल तथा अन्य साहित्य-संस्थाओं द्वारा उन्हें अपनी रचनाओं पर अनेक बार पुरस्कार मिल चुके हैं।

उर्दू, गुजराती, तामिल, पंजाबी, कन्नड़ आदि भाषाओं में उनके नाटकों के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। अकेले 'रक्षाबन्धन' नाटक के लगभग ३६ संस्करण निकल चुके हैं और इस अकेली पुस्तक से प्रेमीजी एक लाख रुपये से ऊपर रायल्टी प्राप्त कर चुके हैं।

देश के गण्यमान् विद्वान्, नेता और समालोचकों ने प्रेमीजी के साहित्य का मोल वहुत ऊँचा आंका है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० धीरेन्द्र वर्मा, मुंशी प्रेमचंद, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, श्री हरिभाऊ उपाध्याय, श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द', श्री काका कालेलकर, श्री महादेवभाई देसाई, श्री सीमाव आदि आपकी कृतियों की भूरि-भूरि प्रशंसा कर चुके हैं।

हिन्दी नाट्य-साहित्य में तो वे सर्वोच्च स्थान के अधिकारी हैं। आचार्य शुक्ल ने प्रेमीजी को प्रसादजी से भी ऊँचा दर्जा दिया था। हिन्दी नाट्य-साहित्य को

पल्लवित और पुष्पित बनाने में आपका महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी की ऐतिहासिक नाट्य-साहित्य की परम्परा को प्रेमीजी से बड़ा बल मिला है।

प्रेमीजी के नाटक जनसाधारण के लिए भी हैं, उनमें रंगमंचीयता भी है और साहित्यिक तत्त्वों का संरक्षण भी। चूंकि नाटक साधारण समाज की वस्तु होती है, इस दृष्टि से जन-नाटक लिखनेवाले प्रेमीजी एकमात्र लेखक हैं। प्रेमीजी अपनी नाट्य-साधना में सर्वथा मौलिक हैं। आप नाटकों की विषम वस्तु और उसकी टेकनीक दोनों में ही अपना निश्चित आदर्श, अपनी निश्चित मान्यताएँ लेकर चलते हैं।

लोकप्रियता की दृष्टि से भी प्रेमीजी का स्थान सर्वोच्च है। जन-संस्थाओं, स्कूल-कालेजों आदि द्वारा जितने प्रेमीजी के नाटक रंगमंच पर लाये गये हैं, उतने कदाचित्, किसीके नहीं। हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा भारतेन्दुजी से आरम्भ होती है। वर्तमान की समस्याओं के समाधान के लिए, भविष्य के उज्ज्वल निर्माण के लिए, भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए, देश के गौरवमय अतीत का चित्रण हमारे ऐतिहासिक नाटकों के माध्यम से हुआ। किन्तु भारतेन्दुकालीन नाटकों में कलात्मकता का अभाव था। न तो उनमें पर्याप्त नाटकीय तथ्य ही थे, न रंगमंचीयता ही। प्रसादजी ने कलात्मकता लाने का सफल प्रयास किया किन्तु वे रंगमंच की वस्तु उन्हें न बना सके। साहित्यिकता के भार से लदे उनके नाटक वर्ग-विशेष के लिए ही रह गये। वर्तमान नाटककारों में श्री उदयशंकर भट्ट भारतेन्दुकालीन शैली के अनुगामी बने रहे। सेठ गोविन्ददास, पं० गोविन्दवल्लभ पन्त, वृन्दावनलाल वर्मा नाटकीय तत्त्वों का भी पूरा ध्यान नहीं रख पाये और रंगमंचीयता की ओर भी दृष्टि नहीं दौड़ा सके। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र भारतीयता के इतने समर्थक हो गये कि उनकी रचनाओं में पक्षपात की गन्ध आने लगी। इतिहास का वह अनुसन्धान भी उनमें नहीं है जो प्रेमीजी के नाटकों में। मिश्रजी बुद्धिवादी अधिक हैं।

वस्तुतः प्रेमीजी का नाट्यसाहित्य भावगत और शैलीगत दोनों ही दृष्टियों से सफल है। कथावस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण, शैली और उद्देश्य सभी दृष्टियों से उनके नाटक उत्कृष्ट हैं। यदि नाटक के क्षेत्र में युग का प्रतिनिधि नाटककार किसी को कह सकते हैं तो प्रेमीजी को ही। राष्ट्र के नवनिर्माण के लिए जितना दिशा-निर्देश प्रेमीजी ने किया है, उतना शायद ही किसी हिन्दी-सेवी ने किया हो। भूत के भव्य आदर्शों से वर्तमान का संस्कार कर भविष्य को सुखद बनाने का उनका आयोजन निस्सन्देह अभिनन्दन की वस्तु है।

प्रेमीजी की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी मौलिकता। प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा की भाँति उन्होंने भी बंगला के प्रसिद्ध नाटककार श्री द्विजेन्द्रलाल राय से ऐतिहासक नाटक लिखने की प्रेरणा ग्रहण की, किन्तु इतिहास को कोरा इतिहास न मान कर अपने प्रभाव और उद्देश्य की दृष्टि से इतिहास को उपयोगी बना दिया। इतिहास की आत्मा की तो उन्होंने रक्षा की, किन्तु शरीर और व्यक्तित्व अपने उद्देश्य

के अनुकूल रखा। इतिहास का आधिपत्य नहीं चलने दिया। नाट्यशिल्प में भारतीय और पाश्चात्य दोनों शैलियों का समन्वय किया और रंगमंच का ध्यान रखकर सामान्य पाठकों से कहला लिया कि यह प्रेमीजी की ही रचना हो सकती है। कार्य-व्यापारों की ऐसी व्यापकता और कहीं नहीं है। वातावरण-सम्बन्धी समुचित दृश्यावली का प्रयोग प्रेमीजी ही कर पाये हैं। ओजमयी प्रभावपूर्ण भावमयी भाषा के तो आप धनी हैं। चरित्रों में जो सरलता आप दे पाये हैं, कथावस्तु में जो स्पष्टता आपने रखी है, कथोपकथनों में जो मार्मिकता किन्तु सादगी आपने दी है, वह और कौन रख पाया है? यही प्रेमीजी का अपनापन है। यहीं उनका व्यक्तित्व है।

प्रेमीजी ने सबसे बड़ी चीज़ जो हिन्दी-साहित्य को दी है, वह है उनकी भाषा की, उनके कथन की सरलता और सादगी। किसी प्रकार की भी गहनता, अस्पष्टता, गूढ़ता, उलझन के आप समर्थक नहीं। क्लिष्टता से कोसों दूर होने के कारण ही वे शीघ्र लोकप्रिय हो जाते हैं। अहिन्दी भाषा-भाषी, यहाँ तक की अपढ़ भी उनकी भाषा का अर्थ ग्रहण कर लेता है।

प्रेमीजी की यह सरलता उनके नाटकों, उनकी कविताओं उनकी संगीतिकाओं में, सभी कहीं समानरूप से प्रतिफलित है। रहस्यवादी रचनाओं को भी अत्यन्त स्पष्टवादी ढंग से रखना कोई आपसे सीख ले। सरलता के कारण ही उनकी कविताएँ आदि से अन्त तक एक रस रही हैं। प्रायः देखा जाता है कि कवियों में एक क्रमिक विकास पाया जाता है, परन्तु प्रेमीजी के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। कारण, वे मूलतः, स्वभावतः कवि हैं। उनकी कविता अभ्यास के कारण आगे नहीं बढ़ी है, बल्कि वह हृदय का स्वतः प्रवर्तित प्रवाह होने के कारण आगे बढ़ती चली गई है। प्रेमीजी ने हिन्दी-कविता को वक्रता नहीं सरलता दी है, कृत्रिमता नहीं स्वाभाविकता दी है, उच्चवर्गीयता नहीं सार्वजनीनता दी है।

अपने नाटकों द्वारा प्रेमीजी ने भारतीय जनता को देश-प्रेम, संगठन, एकता, राष्ट्रीय भावना, उदाराशयता, मानवता, त्याग, बलिदान, विवेक, शौर्य, संस्कार और आत्मबल दिया है तो कविताओं द्वारा आदर्श प्रेम, आध्यात्मिक दर्शन, लगन, आशा, क्रान्ति और शान्ति दी है।

भाषा के क्षेत्र में प्रेमी जी की देन सर्वोपरि है। मुन्शी प्रेमचन्द के अलावा यदि कोई लोकभाषा लिख सका है तो वह है हरिकृष्ण 'प्रेमी'। सर्वजन-सुलभ भाषा लिखने वाला दूसरा कोई नहीं। भाषा के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण बहुत व्यापक, उदार और विशाल है। राष्ट्रभाषा के सच्चे स्वरूप का निर्माण करनेवालों में प्रेमी जी सर्वप्रथम आते हैं। उनकी सम्मति है :—

'मैं समझता हूँ—राष्ट्रभाषा के पद पर आरूढ़ हिन्दी न केवल उर्दू के शब्दों को ग्रहण करेगी, बल्कि प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों को भी। इस प्रकार हिन्दी का भंडार भी बढ़ेगा, उसमें प्रवाह भी आयेगा और वह लोक प्रिय भी होगी।'

पन्द्रह

जीवन और व्यक्तित्त्व

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' का जन्म श्री बालमुकुन्द के घर ग्वालियर के गुना नामक क़स्बे में संवत् १९६५ वि० में हुआ। पिता आपके परम राष्ट्रभक्त थे, अतः बचपन से ही राष्ट्र-प्रेम की भावना प्रेमीजी के संस्कारों में पलती रही। बड़े भाई श्री गोपीकृष्ण विजयवर्गीय ने इस राष्ट्र-भावना को आपमें और भी विकसित किया। बड़े होकर आपको सम्पर्क मिला श्री क्षेमानन्द राहत, श्री रामनाथलाल 'सुमन', श्री हरिभाऊ उपाध्याय, श्री माखनलाल चतुर्वेदी : 'एक भारतीय आत्मा', श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' का। ये सभी स्वतन्त्रता-संग्राम के वीर योद्धा रहे हैं। प्रेमीजी इनके सम्पर्क में विकसित हुए देश-प्रेम के भाव से भर उठे। फलस्वरूप आपके भीतर बैठे कवि ने राष्ट्र-प्रेम की रचनाओं को ही अपना लक्ष्य बनाया।

राष्ट्र-प्रेम के बाद का दूसरा जीवन है प्रेम-पंथ के राही का जीवन। प्रेमी प्रेम-पंथ पर क्यों अग्रसर हुए, इसके लिए अपनी 'अनंत के पथ पर' पुस्तक की भूमिका में उन्होंने कुछ इस प्रकार प्रकाश डाला है:—

'उस समय मैं दो साल का था, जब मेरी जननी मुझे इस पृथ्वी पर पटककर न जाने किस दुनिया में चली गई। ज्यों-ज्यों मैं बड़ा होता चला गया, होश सँभालता गया, मेरे हृदय में इस प्रकार की आकांक्षा तीव्र होती गई कि कोई मुझे खूब प्यार करे। मेरी इस प्यास को कोई शान्त न कर सका।

अनेक निराश क्षणों में मैंने अपने-आपको किसी अदृश्य शक्ति के चरणों में समर्पित कर दिया है और उससे मुझे बल प्राप्त हुआ है।······वह है या नहीं, यह तो मैं नहीं जानता। यदि वह नहीं है तो भी मैं उस 'नहीं' को आकार देना चाहता हूँ। मेरी मां मुझे दो वर्ष का छोड़कर चली गई थी—तब से आज तक शायद २७ से अधिक वर्ष बीत गये—मैं तो आजतक यही अनुभव करता हूँ कि मैं वही दो वर्ष का शिशु हूँ। मुझे इस कल्पना से सुख मिलता है कि कोई 'अदृश्य' मुझे अपनी गोद में लिये बैठा है। उस समय मुझे मां का दूध चाहिये था—इस समय भगवान् का प्रेम। वह मुझमें बैठकर, या मेरे चारों ओर व्याप्त होकर माँ के दूध की तरह, अपना प्रेम पिला रहा है, मेरी यह धारणा चाहे सच हो चाहे ग़लत, मुझे जीवित रहने का बल देती है।'

यों बचपन के प्रेम के अभाव ने उन्हें परमात्म-प्रेम और परमात्म-प्रेम ने व्यापक-प्रेम की ओर अग्रसर किया। आज तो प्रेम ही प्रेमी का जीवन है। प्रेम कभी,

उपलब्ध होता है, कभी नहीं। कभी उसमें सफलता मिलती है, कभी असफलता। कभी उसमें मिलन पलता है तो कभी उसका पालन वियोग करता है। संयोग से प्रेमीजी का जीवन अभाव, असफलता वियोग का ही आँगन रहा है। फलतः वेदना को उन्होंने अपने प्राणों में पाला है। अपने जीवन की दुःखद घड़ियों की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं:—

"मेरे इस छोटे-से जीवन-काल में कई बार ऐसे क्षण आये हैं, जब मुझे अपना अस्तित्व असह्य ज्ञात हुआ है। जब मैं उसे भूल जाता हूँ तो मुझे अपना भार सँभालना असंभव हो जाता है और अपने ही हाथ से अपना गला घोंट देने की इच्छा होती है।"

वास्तव में प्रेमीजी का जीवन बड़े संघर्ष का, बड़े उतार-चढ़ाव का जीवन है। उनका जीवन सदा ही आँधी-तूफ़ानों की छाती पर सवार होकर चला है। कभी वह उड़कर हिमालय के ऊपर पहुँचा है तो कभी समुद्र की गहराइयों में जा डूबा है। कभी थपेड़े खाकर मूर्च्छित भी हो गया है। प्रेमीजी ने जीवन की जलती चट्टान पर बैठाकर समाज की उपेक्षा की लपटों में खेलते हुए अभावों का विष भी पिया है—बेकसी की वेदना का गरल भी वह पचा गया है और प्यार की मदिरा भी उसने पी है—ममता के पालने में भी वह झूलता रहा है।[1]

'प्रेमी'जी किशोरावस्था तक अजमेर में रहे, राष्ट्रीय भावनाओं के वातावरण में वहाँ भी कभी सुख, कभी दुःख, कभी अपनापन, कभी परायापन, कभी मैत्री, कभी शत्रुता—उनका जीवन झुलाती रही। परन्तु चूँकि उनका यह जीवन किशोर जीवन था, वे पत्रकार का जीवन जी रहे थे। 'त्यागभूमि' के संन्यासियों के बीच पल रहे थे, अतः सभी झटके झेलते चले गये। जवानी आई तो वे चले आये लाहौर। लाहौर में कभी वे सम्पादक बने, कभी प्रकाशक और कभी प्रेस के मालिक। किस-किसने उनके साथ क्या-क्या किया, वह सब कहानी बड़ी विषादमय है, साथ ही लज्जाजनक भी। लज्जाजनक उनके लिए जो अपने बनकर उन्हें ठगते रहे, धोखा देते रहे और शोषण के विरुद्ध इस लड़नेवाले वीर का चुपचाप शोषण करते रहे। यदि लाहौर के उनके इस जीवन की चर्चा करूँगा तो कई उन लोगों की कलई खुलेगी जो आज जहाँ-वहाँ उच्च पदों पर आसीन हैं। अतः यही कहना पर्याप्त होगा कि प्रेमीजी ने वहाँ काफी व्यथा भोगी थी।

राष्ट्र-प्रेम तो था ही, क्रान्तिकारियों के आश्रयदाता भी थे। फलतः पुलिस ने भी काफ़ी परेशान किया। कभी नज़रबन्द किया तो कभी आपत्तिजनक साहित्य छापने के अभियोग में प्रेस में ताला डाल दिया। रोटियों के लाले पड़ गये। प्रेमीजी ने अधिकांश जीवन ऐसा ही जिया है, परन्तु हार कभी नहीं मानी है। कई बार बम्बई जाकर फ़िल्म कम्पनी चलाने की धुन में पल्ले की पूँजी गँवाई है। युवावस्था के

१. श्री जयनाथ 'नलिन' : हिन्दी के नाटककार (पृष्ठ १२१)

आरंभिक चरण में भी वे बम्बई गये थे, और अन्तिम चरण में भी। पंजाब के विभाजन के बाद लाहौर छोड़कर वे बम्बई में फ़िल्म-निर्माण में ही लगे रहे। अनुभव कमाया और रुपया गँवाया। आकाशवाणी जालन्धर में हिन्दी-निर्देशक भी तीन साल रहे। यहाँ दिया ही अधिक, लिया प्रायः कुछ नहीं; वेतन के सिवाय।

माता की मृत्यु बचपन में, पुत्री प्रेमलता की मृत्यु यौवन के आरम्भ में और मित्रों-परिचितों की कूटनीति, छलना सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त रही तो प्रेमीजी का जीवन वेदनामय हो गया। मिलिन्दजी तो उन्हें वेदनावतार कहकर ही पुकारते रहे हैं। 'वेदना में प्राण मेरे, वेदना मेरी न छीनो' गानेवाला कवि स्वयं वेदनामय है, किन्तु दूसरों को वेदना देना उसने नहीं सीखा। जितनी आपत्तियाँ आती गईं, उतना ही उसका जीवन-प्रसून मुसकराता गया। दुनिया की क्रूरता ने उसमें सदयता भरी है; कूटनीति ने उसके जीवन की नैतिकता के स्तर को ऊँचा उठाया है।

प्रमी का साहित्यिक और भौतिक व्यक्तित्त्व अत्यन्त भोला, मधुर, आकर्षक और स्वच्छ है। उसके व्यक्तित्त्व में मूर्त्तिमान कवि का दर्शन होता है। प्रेमी ने व्यक्ति और कलाकार, दोनों के रूप में विश्व को प्यार किया है—उससे मिलनेवाले कटु-मधु रस के घूँट वह भावुकता-भरी पुतलियों और मुसकाते ओठों से पी गया है। प्रेमी के कवि की नाड़ियों में प्रेम की मधुर वेदना की कम्पन बजती है, उसके हृदय में मानवता की धड़कन बोलती है।[1]

किसीसे कड़ुवा बोलते, किसीको कठोर शब्द कहते, किसीको धोखा देते हमने उन्हें कभी नहीं देखा। भोले इतने हैं कि स्वय धोखा खा जाते हैं। आपत्तिकाल में उन्होंने जिनकी हर प्रकार से सहायता की उन्होंने भी प्रेमीजी को डंक मारा। फिर भी प्रेमीजी में प्रतिशोध नहीं जागा। बदला लेना तो वे जानते ही नहीं। क्षमा की मूर्त्ति उन्हें कहूँ तो अत्युक्ति न होगी।

सरल और सादे इतने कि अधिकार पाकर भी नम्रता। ज़मीन मिली तो ज़मीन पर, स्टूल मिला तो स्टूल पर ही बैठ गये। उच्चासन की कभी कामना नहीं। कवि की कोमल सुहृदयता, नम्रता, तन्मयता और निश्छलता उनके व्यक्तित्व में है। 'वे केवल कविता लिखते समय ही नहीं, आठों पहर कवि रहते हैं और सच्चे कवि रहते हैं। कविता को अपने जीवन का सर्वव्यापक और स्थायी अंग बना लेनेवाले कवियों में प्रेमी का अलग स्थान है। कौन जानता है कि उन्हें कविता से इतने अभिन्न होने के कारण ही क्या-क्या न सहना पड़ा है।'[2]

---

१. श्री जयनाथ 'नलिन' : हिंदी के नाटककार (पृष्ठ १२१)
२. श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' : 'आँखों में' का परिचय।

कवि प्रेमी के व्यक्तित्व का वर्णन श्री मिलिन्दजी ने इस प्रकार किया है:—

'वेदनावाद के कँटीले पथ के नवजात पागल पथिक 'प्रेमी' को अपने पागलपन के पीछे घर में ही निर्वासित होना पड़ा। कभी-कभी पागलपन को प्यार करनेवाले कुछ लोभी भौंरे उन्हें अपनी कृतियों का सार्वजनिक रसास्वादन कराने को भी बाध्य करते रहे। 'प्रेमी' ने अनमने हृदय से सब-कुछ स्वीकार किया। हृदयवालों के सच्चे आग्रह को टालना तो जैसे उन्होंने सीखा ही नहीं है।'

एक अलमस्ती, एक फक्कड़पन, एक लापरवाही उनके व्यक्तित्व के गुण हैं। ये गुण ही दूसरों के लिए दोष हो जाते हैं। प्रेमीजी का जीवन इन्हीं गुणों ने क्षुब्ध किया। आर्थिक और शारीरिक क्षय हुआ। परन्तु वे जैसे इस सबकी ओर से भी लापरवाह। 'वे अपनी आर्थिक और शारीरिक उन्नति के विषय में किसी भी स्वजन या गुरुजन का ज़रा भी उपदेश सुनना पसन्द नहीं करते।' इसी कारण उनका सांसारिक जीवन जैसा-कुछ चलता रहा है, वह उन्हीं के सहने की चीज़ है। सामान्य व्यक्ति वैसे जीवन से विचलित हो जाता है, परन्तु उनके लिए तो वही स्वाभाविक जीवन है।

स्वाभाविकता, सरलता और सादगी को उन्होंने कभी भी अपने व्यक्तित्व से अलग नहीं किया। वही पिंडलियों से कुछ ऊपर तक बल खाती धोती, वही बिना प्रेस किया कुर्ता और उसी डिज़ाइन के पिशावरी चप्पल आज भी उनकी वेशभूषा है जो किशोरावस्था में थी। न कभी बदली है, न कभी बदलेगी। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद देश में अंग्रेज़ियत फैली। लोगों ने धोती-कुर्ता, पाजामा त्यागकर कोट-पैंट, नकटाई लगाई; पर प्रेमीजी ने कुछ न तो त्यागा, न कुछ अपनाया। सदा-सर्वदा एक-रस। यह एकरसता ही तो उनका व्यक्तित्व है। वे जैसे अकृत्रिम, आडम्बरहीन भीतर से हैं, वैसे ही बाहर से भी हैं।

प्रत्येक साहित्यिक के व्यक्तित्व की उसके साहित्य पर अवश्य ही छाप रहती है। साहित्य से ही उसके व्यक्तित्व की खोज की जा सकती है। प्रेमीजी के व्यक्तित्व में तीन बातें विशेष हैं, वे अत्यन्त उदार हैं, जाति-पाँति के बंधनों से बहुत ऊपर, मानवतावादी। वे अत्यंत स्वतंत्र वृत्ति के हैं; न पाबन्दी लादते हैं, न ही पाबन्दी मानते हैं। वे बहुत ईमानदार हैं। देश-जाति के प्रति ईमानदार, मित्रों के प्रति ईमानदार, साहित्य के प्रति ईमानदार और परिवार के प्रति ईमानदार। उनका यह व्यक्तित्व सर्वत्र प्रतिफलित हुआ है। किन्तु पिछले दिनों जब उनका पारिवारिक जीवन बहुत ही अस्त-व्यस्त और दुःखद हो उठा तो उन्होंने दो नाटकों की सृष्टि की। एक 'ममता', दूसरा 'बेड़ियाँ'। दोनों ही नाटकों में नायक के स्थान पर वे स्वयं विद्यमान् हैं।

प्रेमीजी का विवाह उनके बचपन में हो गया था; उनकी इच्छा, उनकी सम्मति और उनके चुनाव का जिस समय कोई मूल्य नहीं था। पत्नी मिली रुढ़िवादी

विचारों की। प्रेमीजी स्वच्छन्द और प्रगतिशील विचारों के। फलतः पग-पग पर ग़लतफ़हमियों का जाल। 'बेड़ियाँ' नाटक प्रेमीजी के जीवन की सच्ची तस्वीर है।

'बेड़ियाँ' का नायक कवि चातक प्रेमीजी के जीवन पर इस प्रकार प्रकाश डालता है:—

'चातकः—मैं तुम्हारी सेवा की क़द्र करता हूँ कमला। तुम्हारी इस सेवा का बदला चुकाने के लिए मैं तुम्हारे सम्बन्ध की बेड़ियाँ को पहने रहा हूँ। मेरे पिताजी ने धनी घर में सम्बन्ध जोड़ने के प्रलोभन में बचपन में ही मारपीट कर यह विवाह कर डाला।'

'हाँ, इसमें तुम्हारा कोई अपराध नहीं है, इसीलिए मैंने तुम्हारे ऊपर कोई अत्याचार नहीं करना चाहा।'

'तुम्हारे संस्कार दूसरे थे—मेरे दूसरे। जब तुमने मेरे उन स्वर्गीय अध्यापकजी की पत्नी के हाथ का पान खाने से इन्कार कर दिया था, जिन्हें मैं माँ की भाँति मानता था तो मुझे यह मर्मांतक वेदना हुई थी। तुमने कहा था—मैं कायस्थ के हाथ का पान नहीं खा सकती। मैं तो सब तरह की छूतछात और ऊँच-नीच को मनुष्यता के लिए कलंक समझता रहा हूँ। तुम्हारे इन कुसंस्कारों ने मेरे प्राणों को ख़ाक कर डाला था।'

'तुम अपने अन्ध-विश्वासों और रूढ़िवाद के कुसंस्कारों से छुटकारा न पा सकीं। जितना ही मैंने तुम्हें उनसे दूर करने का यत्न किया, उतनी ही तुम उनसे चिपट गईं।'

'इसमें तो संदेह नहीं कि मैं कवि हूँ और सौन्दर्य से मुझे प्यार है, लेकिन फिर भी मैंने तुम्हारे प्रति ईमानदार रहने का प्रयत्न किया है। वे भी दिन थे जब मैंने यौवन की सीढ़ियों पर क़दम रखा था, उस समय भी हज़ारों नर-नारी, युवक-युवतियाँ मेरी रचनाएँ सुन-सुनकर झूम उठते थे, लड़कियाँ हस्ताक्षर लेने के लिए झुंड-की-झुंड आगे आती थीं, कितनी ही लड़कियों ने कविता लिखना सीखने के बहाने मुझसे सम्पर्क बढ़ाया था। क्या मैं उनमें से एक भी ऐसी साथिन नहीं पा सकता था जो केवल रोटियाँ पकाने और बच्चे पैदा करने को ही नारी का परम कर्त्तव्य न समझकर मेरे काव्य की प्रेरणा भी बनतीं? लेकिन तुम जो मेरे पैरों में बेड़ियों की तरह पड़ी हुई थीं। मैं फिर भी तुम्हारे प्रति ईमानदार रहना चाहता था।'

'मैं तुम्हारे प्रति कर्त्तव्य का पालन करता रहा हूँ और नीता के प्रति समवेदनाशील रहना चाहता हूँ। उसने मुझ पर विश्वास किया है, वह अपने जीवन का एकान्त दूर करना चाहती है, उसके प्रति मुझे ही नहीं, तुम्हें भी स्नेहशील होना चाहिए।'

प्रेमीजी के गुण कवि चातक के गुण हैं। चातक में प्रेमीजी का जीवन और व्यक्तित्व दोनों ही बोलते हैं। प्रेमीजी आरम्भ से ही कवि चातक की भाँति रूढ़ियों

और अन्ध-विश्वासों के विरोधी रहे हैं। छूतछात के प्रति विद्रोह की भावना उनमें आरम्भ से ही थी। अपने एक संस्मरण 'वह जाग जाएगी' में प्रेमीजी लिखते हैं:—"मैं और मेरी पत्नी उस समय अपने परिवार एवम् समाज से सर्वथा कट गये थे। मेरे भाई साहब श्री गोपीकृष्ण विजयवर्गीय और मैंने जातिवालों को चुनौती देकर भंगी के हाथ का भोजन खाया था—कथनी और करनी की एकता प्रदर्शित करने के लिए। इस भयंकर अपराध के लिए हम जाति च्युत कर दिये गये थे। न हमारे पिताजी हमें अपने घर पर आने देने का साहस करते थे, न हमारी पत्नियों के माता-पिता। हमें बुलाने पर या आने देने पर उन्हें भी जाति से बहिष्कृत होना पड़ता तब उनके बाल-बच्चों के विवाह कहाँ होते?'

प्रेमीजी को रूढ़ियों का विरोध करने के लिए घर भी संघर्ष करना पड़ा और बाहर भी। पत्नी का पर्दा छुड़ाने के लिए काफ़ी समय तक संघर्ष चलता रहा। प्रेमीजी का सहानुभूतिशील हृदय केवल मानवता को देखता है, जाति-पाँति को नहीं। इसीलिए एक बार उन्हें अपने पिता से भी सम्बन्ध-विच्छेद कर अलग हो जाना पड़ा। १४-१५ वर्षीया एक लड़की को जोकि सास-ससुर द्वारा तिरस्कृत तथा प्रताड़ित थी, आश्रय देकर माता-पिता का विरोध मोल लिया। 'बहन का विवाह' कविता में कवि ने इसकी अच्छी अभिव्यक्ति की है। यह कविता उनके जीवन का एक संस्मरण ही है।

मानवता की, नारी जाति की दुर्दशा ने जो विद्रोह की आग प्रेमीजी में जगाई थी वह देश-प्रेम के रूप में फूट पड़ी। जैसाकि मैं पहले लिख चुका हूँ; प्रेमीजी राष्ट्रीय-भावना से ओत-प्रोत जीवन लिये चले हैं। आपके विचार आरंभ में बड़े ही क्रान्तिकारी थे। 'बेटी की विदा' कविता में आपने क्रान्तिकारी विचारों को प्रगट किया है। लिखते हैं:—

'खड़ी हुई ऊँची दीवारें
मानव से मानव को
करती हैं जो दूर निरन्तर।
धर्म, जाति, विश्वास सड़े-से,
परम्पराएँ,
मर्यादाएँ,
गर्व रक्त का,
और न जाने क्या-क्या
बाँट रहे मानवता को जो,
करना है निर्मूल उन्हें अब
मानव-मात्र एक हों जिससे।'

राजनीतिक कार्यों में तो प्रेमीजी बचपन से ही जुटे रहते थे। राजनैतिक मंचों पर जाकर ज़ोरदार भाषण देना तो उन्हें बहुत ही प्रिय था। दस साल की उम्र में ही आपके भाषण ओजस्वी होते थे। आपकी भाषण-कला से प्रभावित होकर ही आपके ससुर ने आपसे अपनी कन्या के विवाह का निर्णय किया। बड़े भाई से आपको राष्ट्र-प्रेम की प्रेरणा मिली। राजनीति में आप सदा ही सक्रिय कार्यकर्त्ता रहे; किन्तु यह एक माननेवाली बात है कि प्रेमीजी की साहित्य-वृत्ति पर राजनीति कभी हावी नहीं हुई। साहित्य-सेवा ही उनके जीवन का ध्येय बना रहा। आपने एक स्थान पर लिखा है:—'मैं भी कभी-कभी बरसाती नालें की तरह उमड़-उमड़ पड़ता था और राजनीति के रंगमंच पर दहाड़ने लगता था, किन्तु मेरे प्राणों में जो नया-नया तरुण कवि, नया-नया उमंग-भरा साहित्यकार बसता था, वह राजनीति के क्षेत्र के लिए समय थोड़ा ही देता था, इसलिए एक लम्बे अर्से तक मैं जेल जाने से बचा रहा। सभाओं में भाषण भी कम दे पाता था, फिर भी सभाओं में जाता था, जीवन की एकरसता और विरसता को दूर करने।'

प्रेमीजी पहले-पहल सन् १९३० में जेल गये। आपने 'स्वर्ण-विहान' नामक क्रांतिकारी गीतिका लिखी; फलस्वरूप सरकार ने उसे ज़ब्त कर लिया। सन् १९४२ में आप लाहौर में बन्दी बना लिये गये। कारागर से छूटे तो आपको अनारकली की सीमाओं में ही रहने की आज्ञा मिली। तभी आपका प्रेस भी ज़ब्त हुआ।

लाहौर में प्रेमीजी का जीवन राजनीतिक कम, साहित्यिक अधिक था। आपका कृष्णनगरवाला घर साहित्यिक लोगों की धर्मशाला बना हुआ था। देश के भिन्न-भिन्न कोनों के साहित्यिक-बन्धु आकर वहाँ आश्रय पाते थे। प्रेमीजी उनका स्वागत-सत्कार करते और उनके लिए आजीविका भी जुटाते। कितने ही साहित्यकारों को आपने प्रेरणा दी, उनके जीवन को भी सजाया-सँवारा। वहीं आपने कवि-समाज, साहित्य-समाज आदि की स्थापना भी की। लाहौर में इस प्रकार के साहित्य-संगठन ने पंजाब में हिन्दी की चेतना फूँकी। जब आप पहले-पहल लाहौर आये तो आपने आने के थोड़े समय बाद ही 'भारती' पत्रिका का प्रकाशन किया। यह सन् १९३१-३२ की बात है। इस पत्रिका ने अच्छी ख्याति पाई थी। भारत के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य और काका कालेलकर प्रभृति विद्वान् इसके स्थायी लेखक थे। सभी प्रान्तीय भाषाओं के लेखकों की रचनाएँ इस पत्रिका में स्थान पाती थीं। आज के प्रसिद्ध नेता और उच्च पदस्थ अधिकारी डा० सम्पूर्णानन्द तथा श्री श्रीप्रकाश जैसे व्यक्ति इसके स्थायी लेखक रहे हैं। पंजाब के अनेक लेखक इसी पत्रिका से लिखना प्रारम्भ करके बाद में अखिल भारतीय ख्याति के लेखक बने।

प्रेमीजी ने लाहौर में सामयिक साहित्य-सदन नाम से एक प्रकाशन-संस्था चलाई। चोटी के लेखक श्री जैनेन्द्रकुमार जैन, श्री इलाचन्द्र जोशी आदि की पुस्तकें

यहाँ से ही छपीं। बंगाल के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री ताराशंकर वंद्योपाध्याय की रचनाओं का पहले-पहल हिन्दी में आपने ही प्रकाशन किया।

सन् १९३३-३४ में बम्बई में जिस फ़िल्मी लाइन का अनुभव प्रेमी जी ने प्राप्त किया था, सन् १९४३ में लाहौर में उसे और भी बढ़ाया। अपना निजी प्रेस, प्रकाशन संस्था के होते हुए, उनका संचालन करते हुए आप पंचोली आर्ट पिक्चर्स के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष रहे। बम्बई में आपने रूपम आर्ट पिक्चर्स के अन्तर्गत 'बिखरे मोती' नामक एक फिल्म भी बनाई थी, जिसमें कमलादेवी चट्टोपाध्याय ने अभिनय किया था। उसी समय 'आदर्श चित्र' नाम से गोविन्ददास जी ने भी अपनी फ़िल्म कम्पनी चलाई। यह संयोग की ही बात थी कि आज के उच्चकोटि के साहित्यकार, उस समय के फिल्म-व्यवसाय के भी साथी थे। सन् १९४६ में लाहौर की एक फ़िल्म कम्पनी ने आपकी देख-रेख में आपकी कहानी लेकर 'रूपरेखा' चित्र का निर्माण किया। विभाजन के कारण उसका वितरण न हो सका। फिर आपने बम्बई आकर मुरारी पिक्चर्स वालों से अपना सम्बन्ध जोड़ा, जहाँ प्रसिद्ध निर्देशक मोहन सिन्हा ने आपके नाटक 'रक्षाबन्धन' के आधार पर आपकी देख-रेख में 'चित्तौड़-विजय' फ़िल्म बनाई। उनके लिए आपने तीन-चार और फ़िल्मी कहानियाँ भी लिखीं, जिनकी फ़िल्में बनीं। मीरा पिक्चर्स के लिए आपने स्वयं 'प्रीति का गीत' फ़िल्म का निर्माण किया। सन् १९५० तक आप बम्बई में फ़िल्म-व्यवसाय में लगे रहे। इस प्रकार प्रेमीजी का जीवन और व्यक्तित्व बहुमुखी रहा है।

प्रेमीजी के व्यक्तित्व की एक बड़ी खूबी यह है कि वे साहित्य-सेवा से बढ़कर और किसी भी सम्मान को नहीं चाहते। उन्हें यदि कभी किसी ने कोई पद या अधिकार देने की बात चलाई तो उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। डा० कमलेश को उन्होंने एक भेंट में एक मजेदार घटना सुनाई थी, जो इस प्रकार है:—'उस समय गुना में आये ग्वालियर राज्य के होम-मिनिस्टर, जो ग्वालियर के स्वर्गीय महाराज के निकट के नातेदार—उस समय के देवास के महाराजा के भाई थे (बाद में स्वयं देवास के महाराजा भी रहे) उन्हें कविताएँ सुनने का शौक था। गुना के सूबा (कलक्टर) ने उनके मनोरंजन का प्रबन्ध किया। मुझे भी बुलाया गया। मैंने वहीं एक कविता लिख डाली—सारांश था:—

'मुझसे गले मिलो तुम आकर
मुझसे ही भिक्षुक बनकर।'

कवि-सम्मेलन समाप्त होने पर मुझे तलब किया गया। मेरी धृष्टता के बदले उन्होंने पूछा—'तुम्हारी क्या सेवा की जाय ?' मुझे तुरन्त तहसीलदार बनाने को वह तत्पर हुए, किन्तु मैंने अस्वीकार कर दिया।'

अन्त में मैं डा० रामचरण महेन्द्र के शब्दों का उल्लेख कर इस अध्याय को समाप्त करता हुआ भगवान् से प्रेमीजी की दीर्घायु की कामना करता हूँ। डा० महेन्द्र ने लिखा है :—

'प्रेमीजी के स्वभाव को जो बात मुझे सर्वाधिक रुचिकर प्रतीत हुई, वह है उनकी मिलनसारी, उनकी निरभिमानता और अहंशून्यता। वे व्यस्त-से-व्यस्त होते हुए भी साहित्यकारों से मिलने, बातचीत करने, अपना दृष्टिकोण समझाने को सदैव प्रस्तुत रहते हैं। रुचिकर बातचीत करने में वे विनम्र हैं। उनके समक्ष कोई एक क्षण को भी विरस अनुभव नहीं करता।

उनसे बातें कीजिए, जैसे एक विस्तृत ज्ञान-कोष आपके समक्ष खुल गया। और ज्ञान भी कैसा ? शुष्क पुस्तकों द्वारा संचित ज्ञान नहीं, जगत की कठोर चट्टानों से जूझकर प्राप्त किया हुआ अनुभव ज्ञान।'

★